दैनिक जीवनमें गीता

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी

दैनिक जीवनमें गीता

●

प्रवचनकार :

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

●

संकलन कर्त्री :

श्रीमती कुन्ती धर्मचन्द जालान

●

सम्पादक :

स्वामीश्री विश्वात्मानन्द सरस्वती
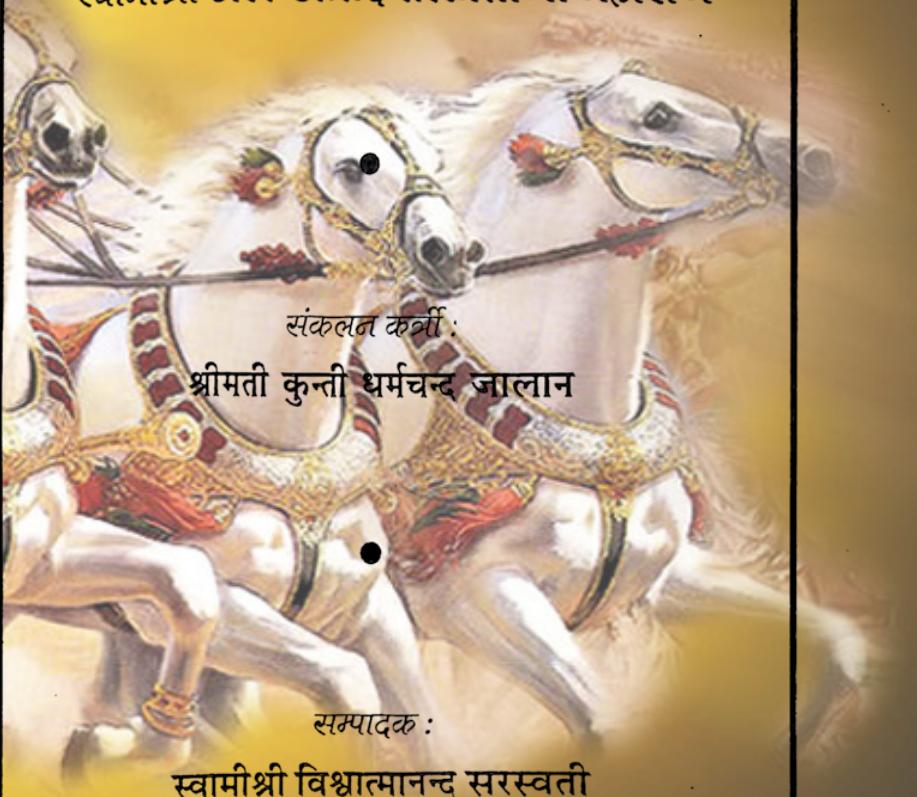
स्वामीश्री अखण्डानन्दजी सरस्वती

प्रथम संस्करण : 1991

प्रकाशकीय

सच है कि आपको चाहिए–सुखका जीवन। वह भी क्षणिक नहीं, शाश्वत–अमृत, आनन्दसे भरपूर लबालब! निर्भय–निरहंकार!! इसकी पूर्तिके लिए उपलब्ध है–सम्पूर्ण शास्त्रोंका निचोड़ श्रीमद्भगवद्गीता ग्रन्थ। आप पाते हैं इसमें समस्त द्वन्द्वोंसे ऊपर उठ जानेकी कला। सभी मल–दोष मोह–ममता मिटानेकी युक्ति, कर्मदोष, भावदोष मिटानेका गुर, आत्मघातसे बच निकलनेका कौशल, आपको इसमें मिलता है वह बुद्धियोग जिससे आपमें संस्काराधान होगा। आप चढ़ेंगे उन सीढ़ियोंपर जो धर्म, भक्ति, योग और ज्ञानकी गरिमामें प्रवेश ही नहीं करायेगा–प्रत्यक्ष, तत्काल फलान्वित करेगी। गीता : दैनिक जीवनके लिए वह अमोघ वरदान लेकर प्रस्तुत है जो कभी आपको भयभीत, पराजित, दुःख–दारिद्रसे पीड़ित नहीं देखना चाहती। दुःखालय दुनियासे उबारनेके लिए आपके सामने हाथ बढ़ाये खड़ी है आप भला देखें तो सही एकबार!

'दैनिक जीवनमें गीता' के उपयोगमें लानेसे बिल्कुल पक्का है कि आपका शोक मिटेगा, क्लीवता मिटेगी, दुःख दूर होगा, दैवी सम्पत्ति बढ़ेगी और असुरताका अवसान होगा। भगवान्‌की विभूतिका दर्शन कर निश्चित आप भगवन्मय हो जायेंगे, भगवत्तिकी प्राप्ति होगी। ज्ञानकी पवित्र धारा यहाँ विराजमान है। महाराजश्रीके शब्दोंमें उसका अध्ययन–मनन कीजिये।

'दैनिक जीवनमें गीता'के सम्बन्धमें हमें यह ज्ञापित करना है कि संकलन **श्रीमती कुन्ती धर्मचन्द जालान** और सम्पादन **स्वामीश्री विश्वात्मानन्द सरस्वतीजीने** मनोयोगपूर्वक किया है। दोनों महाराजश्रीके अंग हैं, स्नेह भाजन हैं। कृतज्ञता हमारी यह है कि 'ज्ञान–प्रदान यज्ञ' की प्रक्रिया प्रकाशन–विधि बिना इस कृत्यके आरम्भ और पूर्ण नहीं होती। तो आप निश्चित ही सहमत होंगे कि 'धन्यवाद'की व्यावहारिक–दक्षिणासे हम यज्ञकी पूर्णाहुति करें। यद्यपि इन्हें इसकी कोई अपेक्षा नहीं है।

हाँ 'दैनिक जीवनमें गीता'के प्रकाशनका सम्पूर्ण दायित्ववहन किया है हमारे **महन्त श्रीओंकारानन्द सरस्वतीजी महाराजने**। 'माण्डूक्यकारिका–अलातशान्ति'के प्रकाशनकी भाँति इस ग्रन्थको प्रकाशित करनेकी अनुमति प्रदान की तथा तद्वत् योगदान भी विभिन्न ट्रस्टोंसे करवाया। इनके आशीषसे ही इस ग्रन्थरत्नकी प्रसूति संभव हो सकी। **स्वामीश्री गोविन्दानन्दजी महाराज** इसके सुयोग्य सहयोगी संचालक हैं। सत्साहित्य–प्रकाशन ट्रस्ट पूर्ववत् इसका विक्रय, विनिमय, वितरण करेगा। इन सभीका अनुग्रह पाठकोंतक पहुँचकर विकसित होगा। महाराजश्रीकी छाया अक्षुण्ण बनी हुई है। देशके महान् पूज्य सन्त **स्वामी श्रीवामदेवजी महाराजने** अपनी शुभ कामना इस ग्रन्थके प्रति की है। इनकी कृपा सत्साहित्यको अग्रसर करती रहेगी।

गुरु पूर्णिमा
26 जुलाई 1991

विश्वम्भरनाथ द्विवेदी
मंत्री
स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वती सेवा–संस्थान

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

शुभकामना

हमारे 'दैनिक जीवनमें गीता' इस व्याख्यानमालाके प्रवक्ता विद्वद्वर अनन्तश्रीविभूषित पूज्यचरण स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज थे। आप अपने समयकी दिव्य विभूति थे। उनकी विद्वत्ता बड़ी ही विलक्षण थी। उनके समकालीन विद्वान् उनकी प्रशंसा इन शब्दोंमें करते थे कि जिस प्रकार श्रीरामजी विग्रहवान् धर्म थे, उसी प्रकार सरस्वतीजी महाराज विग्रहवान् (चलता-फिरता) पुस्तकालय थे। हमने स्वयं अनुभव किया है कि आश्रमके पुस्तकालयमें संस्कृतकी लगभग दस सहस्त्र पुस्तकें हैं। जब भी पुस्तकालयमें महाराजश्री आते, हम किसी भी पुस्तकका नाम लेते, तो महाराजश्री उस पुस्तकका विषय पुस्तकके बिना देखे ही कहने लगते थे। अति-श्रेष्ठता तो उनमें यह थी कि प्रकाण्ड विद्वान् होते हुए भी पाडित्यकृत अभिमान उनको छू-तक नहीं गया था।

इसका मुख्य कारण यह था कि तत्त्वज्ञ होनेके नाते वे इस विद्या अथवा विद्याकृत महत्त्वसे अपना कोई सम्बन्ध ही नहीं मानते थे। उनके प्रवचनोंमें कई बार यह श्रवण करनेको मिला कि, 'इस विद्याका सम्बन्ध तो बुद्धिसे है; यदि इस विद्यासे कोई महत्व देता है तो वह भी बुद्धि-विद्याका ही है। मैं तो बुद्धि नहीं हूँ। मैं तो बुद्धिका भी प्रकाशक नित्य-शुद्ध-बुद्ध आत्मा हूँ, सो आत्मा असंग है। उससे किसीका भी सम्बन्ध नहीं। वह तो सर्वथा असंग है। तब इस विद्यादिका मुझसे क्या सम्बन्ध?' महाराजश्री-की इस आत्मनिष्ठाने ही विद्याकृत अभिमानसे स्पर्श-तक नहीं करने दिया था।

महाराजश्री प्रवचनके ऐसे असाधारण धनी थे कि अत्यन्त गूढ़ रहस्योंका भी अपने विलक्षण प्रतिभासे व्यावहारिक घटनाओंसे विलक्षण ताल-मेल मिला देते थे। अतएव गूढ़ तत्त्वोंका भी उनका प्रवचन सरल तथा सरस, श्रोत्रमनोभिराम तथा सुबोध हो जाता था। अतः उनकी सभामें शास्त्रज्ञ हो या साधारणजन, सभीको आनन्द आता था। साथ ही बोध भी प्राप्त होता था।

शास्त्रके शब्दोंपर उनका मनन भी गहन था। मनुष्य मेंहदीके पत्तेको ऊपरसे हरा देखता है, किन्तु उसके पीसनेपर उससे एक असाधारण रंग प्रकट होता है, महाराजश्रीके मननरूपी मंथनसे शास्त्र भी विलक्षण अर्थरत्न प्रकट करते हैं।

गीताके प्रथम अध्यायमें अर्जुन तथा दुर्योधनके वाक्योंसे कैसा विलक्षण भावार्थ निकाला है, वह अनुभव करते ही बनता है। दुर्योधन, द्रोणाचार्यजीसे कहता है-अनेक महारथी सर्व प्रकारसे युद्धमें कुशल तथा शस्त्र-अस्त्रसे सुसज्जित हैं। इन सबने 'मदर्थे त्यक्तजीविताः' मेरे लिए जीवन समर्पण कर दिया है। मेरे लिए मर-मिटनेको उद्यत हैं। अर्थात् मैं जिन्दा रहूँ, मैं राजा बनूँ, मेरा स्वार्थ पूर्ण हो, भले ही सारी सेना मर जाये। यह दुर्योधनकी भावना है। यही आसुरी सम्पत्ति है। यही जीवनकी झूठी पगडण्डी है। अर्जुन कहता है, 'हे कृष्ण! मैं विजय, राज्य, भोग, सुख कुछ नहीं चाहता, यहाँतक कि मैं जीवन भी नहीं चाहता, क्योंकि जिनके लिए हम राज्य-भोग तथा सुखादिक चाहते हैं, वे तो सब अपने धन तथा प्राणोंको भी त्यागकर युद्धमें मर मिटनेको उद्यत हैं। अर्थात् इन सबके लिए मैं मरना चाहता हूँ।' यह अर्जुनकी भावना है, यही दैवी सम्पत्ति है। यही जीवनकी सच्ची पगडण्डी है। महाराजश्री कहते हैं, 'गीतासे कुछ सीखिये, कि यह जो युद्ध (जीवन-संघर्ष) हमारे सामने उपस्थित हुआ है, यह हमारे व्यक्तित्वकी प्रतिष्ठाके लिए है या सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें सुखकी प्रतिष्ठा करनेके लिए है। यही गीताका मूल है। इसे अपने जीवनमें उतारनेका प्रयास कीजिये।' इस प्रकारके उपदेश-रत्न आपको पढ़ने एवं समझनेके लिए मिलेंगे। पाठक जन! इसे अध्ययन करें, मनन करें तथा अपने जीवनमें उतारकर जीवनको आनन्दमय बनावें। इसी शुभकामनाके साथ-

-परमहंस स्वामी वामदेव

सम्पादकीय निवेदन

प्रातःस्मरणीय श्रीसद्गुरुदेव महाराज श्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजीके श्रीमद्भगवद्गीतापर यह सत्ताईस प्रवचनोंका संकलन प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यधिक हर्ष हो रहा है। लगभग बीस वर्ष पूर्व बम्बई शहरमें 'दैनिक जीवनमें गीता' विषय पर परमपूज्य महाराजश्री ने सरस, सुमधुर विशद व्याख्या की थी, जिसको टेप कर लिया गया था। यह संकलन श्रीमती कुन्ती धर्मचन्द जालान बम्बई-निवासिनीने बड़े मनोयोगसे टेपसे सुनकर लिखा है। इस पुनीत एवं महान् कार्यमें उनका कुशल योगदान सराहनीय है।

गीता सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मयका सार-सर्वस्व है। भारतके प्रत्येक वैदिक सम्प्रदायाचार्यने इसपर टीका-टिप्पणी लिखी है। उन सबकी दृष्टि अपने-अपने सिद्धान्तके अनुसार युक्तियुक्त है तथापि सिद्धान्तोंकी विविधता, भाषाकी क्लिष्टता और वर्तमान जीवनकी विवशताओंने उन टीका-टिप्पणियोंकी विषय वस्तुको जन-सामान्यकी पहुँचसे परे कर दिया है। अतः आवश्यकता थी किसी आधिकारिक एवं अनुभवी विद्वान् द्वारा गीताकी ऐसी व्याख्या प्रस्तुत करनेकी जो आधुनिक सोचके विपरीत न हो, बोल-चालकी भाषामें हो तथा जिसमें गीताके व्यावहारिक पक्षको उजागर किया गया हो। इस ग्रन्थमें यही सब है। इसीलिए ग्रन्थका नाम भी 'दैनिक जीवनमें गीता' रखा गया है। प्रत्येक प्रवचन सरस एवं विपुल ज्ञानका स्रोत है। एक बार शुरू करनेपर प्रवचनको समाप्त किये बिना मन नहीं मानता। दर्शन, साधना, धर्म और सामान्य दैनिक व्यवहारके गीतोक्त सिद्धान्तोंकी इतनी सरल-सुबोध व्याख्या हिन्दी भाषामें अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। इसमें महाराजश्रीके भविष्य-द्रष्टा, पूर्णतम अनुभव एवं शास्त्रीय पाण्डित्यकी एक

झलक भी देखनेको मिलती है। महाराजश्री के गीतापर उपलब्ध पूर्व साहित्य 'गीता दर्शन' भाग 1 से 13, 'गीता रस-रत्नाकर' तथा अलग-अलग अध्यायकी व्याख्यासे यह बिल्कुल विलक्षण व्याख्या है। आनेवाले समयमें गीता और अन्य शास्त्रोंकी ऐसी व्याख्या ही जनकल्याणमें हेतु होगी-ऐसा हमारा विश्वास है।

इस ग्रन्थके सम्पादनमें मेरे द्वारा प्रवचनों के शीर्षक उनके मुख्य विषय वस्तुके अनुसार दिये गये हैं। उद्धृत श्लोकों के सन्दर्भ भी प्रदान कर दिये हैं। गाताके श्लोकोंके सन्दर्भमें 'गीता' शब्द नहीं लिखा गया है। इस प्रकार (2.15) का अर्थ है कि उक्त श्लोक गीताके दूसरे अध्यायका पन्द्रहवाँ श्लोक है। प्रवचन शैलीको अक्षुण्ण रखते हुए ही सम्पादन किया गया है, तथापि सम्पादन कार्यमें त्रुटियोंके लिए मैं सभी विज्ञ पाठकोंसे क्षमाप्रार्थी हूँ। यदि वे मेरा ध्यान इन त्रुटियोंकी ओर खींचेंगे तो अगले संस्करणमें वे दूर कर दी जायेंगी।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये!

वृन्दावन
दि० 21-5-91

श्रीगुरुचरणकमलाश्रित
-''विष्णु''

विषय-सूची

☆

दैनिक जीवनमें गीता

प्रवचन : 1

जीवनमें बुद्धिजागरणकी महिमा

एक दिन एक सज्जनने मुझसे पूछा कि गीताका निर्माण कब हुआ? मैंने उनके प्रश्नपर प्रतिप्रश्न किया कि कोई बात चार दिन पहले कही गयी या चार दिन बाद कही गयी, इसकी कीमत होती है कि सच्ची बात कही गयी या झूठी कही गयी, इसकी कीमत होती है? कीमत सच्ची बातकी होती है वह चाहे चार दिन पहले कही गयी हो चाहे चार दिन बाद कही गयी हो। फिर एकने पूछा–महाराज, भूगोलके किस हिस्सेमें बैठकर गीताका वर्णन हुआ–यह जंगलमें बैठकर कही गयी कि पहाड़पर बैठकर कही गयी कि युद्धभूमिमें बैठकर कही गयी कि सोकर कही गयी कि बैठकर कही गयी? बताया मैंने कि कीमत इस बातकी भी नहीं होती कि वह किस जगह बैठकर कही गयी है, कीमत इस बातकी ही होती है कि बात सच्ची है कि झूठी है। फिर कहा कि अच्छा, जो बात कही गयी वह बच्चेने कही या कि बूढ़ेने कही? तो, कीमत इस बात की भी नहीं होती है–'बालादपि सुभाषितम्'–यदि बच्चेने सच्ची बात कही है तो उसको आप मानिये। बूढ़े लोग जो कहते हैं वही सच्चा नहीं होता–यह अभिनिवेश बिल्कुल छोड़ दीजिये। हमें तो यह देखना है कि जो बात कही गयी वह जाँच करनेपर सच्ची उतरती है कि नहीं। यदि कही हुई बात कहीं भी कही गयी हो, कभी भी कही गयी हो, किसीने भी कही हो और किसी भी भाषामें कही गयी हो–

सच्ची है तो उसकी कीमत है और उसीको हम सत्य कहते हैं। सत्य माने जो कभी बाधित न हो, जिसको कभी कोई झूठा न सिद्ध कर सके।

जो लोग कालकी खोज करते हैं कि गीता कब कही गयी अथवा जो लोग ऐतिहासिक अनुसन्धान कर रहे हैं अथवा जो पुरातत्त्वकी खोज कर रहे हैं उनका विभाग अलग है; गीतामें किस तत्त्वका निरूपण किया गया है इसके साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। वे सब अपना-अपना काम करें। गीता कुरुक्षेत्रमें कही गयी कि कहीं अन्यत्र इसकी खोज भूगोलके विद्वानोंपर छोड़ दीजिये; इसका ऐतिहासिक अनुसन्धान जो थीसिस लिखनेवाले लोग हैं उनपर छोड़ दीजिये; इसके मूल वक्ता व्यास हैं कि श्रीकृष्ण हैं, इसकी लड़ाई सनातन धर्मी और आर्य-समाजियोंपर छोड़ दीजिये और आइये हमलोग इस बातका अनुसन्धान करें, इस बातपर विचार करें, कि अन्ततः इसमें क्या बात कही गयी है और वह बात हमारे जीवनको स्पर्श करती है कि नहीं करती है; हमारी वर्तमान समस्याओंका हल करती है कि नहीं करती है; हमारे दुख-दर्दको मिटाती है कि नहीं; हमें सुख-शान्ति देती है कि नहीं देती है। यदि यह हमारी समस्याओंका हल करती है, हमारे दुःख-दर्दको दूर करती है, हमें तत्काल सुख-शान्ति देती है तो यह एक अमृत-ग्रन्थ हुआ, अमृतकी एक पुस्तक हुई और इसमें कब, कहाँ, कौन-यह सब जोड़नेकी कोई जरूरत नहीं है। यह तो बस हम, अब, यहाँ हमारे भीतर बैठा हुआ अन्तर्यामी श्रीकृष्ण इनका प्रवचन कर रहा है, अभी कर रहा है। यहीं कर रहा है! कृष्णको भूत बनाना सनातनधर्मी श्रीकृष्णके साथ अन्याय है। वह ऐतिहासिक नहीं तात्त्विक है-वह उस समय भी था, वह इस समय भी है; उसको भौगोलिक बनाना अन्याय है; उसको भाषायी बनाना अन्याय है; साम्प्रदायी चक्करमें डालना अन्याय है। श्रीकृष्ण हम सबका है, हमारा अन्तर्यामी है, हमारे भीतर बैठा हुआ है, हमारे जीवनकी बागडोर उसके हाथमें है। गीता नरकी समस्याका समाधान करनेके लिए नारायणके द्वारा कही गयी है। अपना-अपना अलग-अलग विभाग है।

जो लोग भौतिक पदार्थमें ज्यादा रुचि रखते हैं वे लोग भौतिक अनुसन्धान अधिक करते हैं और जो लोग आत्मानुभूतिकी अधिक रुचि रखते हैं वे गीतामें कहे हुए सत्यका अनुसन्धान करनेके लिए आत्माको देखते हैं। गीतामें यदि स्वर्गका वर्णन हो तो उसपर आपको श्रद्धा करनी पड़ेगी; स्वर्ग और नरकका वर्णन जब तक आप श्रद्धा नहीं जोड़ेंगे तब तक सिद्ध नहीं होगा। परन्तु किसी भौतिक वस्तुका यदि वर्णन हो तो श्रद्धासे नहीं, विज्ञानके साक्षात्कारसे ही ज्ञात हो जायेगी! गीतामें जब यह वर्णन मिलता है कि अग्निके द्वारा, सूर्यके द्वारा, चन्द्रमाके द्वारा, परमात्माका प्रकाश नहीं हो सकता तो उसको आप वैज्ञानिक रीतिसे सोच सकते हैं कि आँखके द्वारा, मनके द्वारा, जीभके द्वारा परमसत्य परमात्माको प्रकाशित नहीं किया जा सकता, परन्तु, जहाँ गीतामें आत्माका वर्णन आता है वहाँ न तो प्रत्यक्ष वस्तुके अनुसन्धानके समान विज्ञानके साक्षात्कारकी जरूरत है और न तो नरक-स्वर्गके अनुसन्धानके समान श्रद्धाकी आवश्यकता है। ठीक आपके बारेमें जो वर्णन गीतामें मिलता है उसको आप तत्काल अनुभव कर सकते हैं; क्योंकि वह आपके बारेमें है, आपका स्वरूप कैसा है-इसका निरूपण करनेके लिए है। 'आप कैसे हैं' इसको आप तत्काल अनुभव कर सकते हैं, इसके लिए न वैज्ञानिक यन्त्रकी आवश्यकता है और न तो श्रद्धा-विश्वासकी आवश्यकता है।

अब गीताके बारेमें एक दूसरी बात सुनिये। संसारमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए-इसकी दो प्रक्रिया हैं! एक प्रक्रियामें प्रवृत्ति होती है और दूसरी प्रक्रियामें प्रवृत्तिसे पृथक् होकर निवृत्तिमें आकर आत्म-वस्तुका साक्षात्कार होता है। हमें लोगोंसे कैसा व्यवहार करना चाहिए जिससे हमारा अन्तःकरण शुद्ध हो और हमें व्यवहारमें सफलता मिले-यह एक बात है और क्या साधन करना चाहिए जिससे हमको परमात्माके दर्शनकी योग्यता प्राप्त हो-यह दूसरी बात है। दोनों ही निर्माण-विभाग हैं। ये दुनियादार लोग जो हैं वे कुछ करते हैं तो कुछ बनता है; कुछ करते हैं तो कुछ मिलता है-कोई नयी चीज बनानी होती है तो कुछ करना पड़ता है! अब देखना यह कि कौन-सी प्रवृत्ति करें कि उसका फल यह होगा। प्रवृत्तिके फल-स्वरूप आप जो चाहें सो प्राप्त कर सकते हैं-आपको धन मिलेगा प्रवृत्तिसे, भोग मिलेगा प्रवृत्तिसे, धर्म मिलेगा प्रवृत्तिसे। परन्तु, प्रवृत्तिका अन्तिम रूप क्या होगा? प्रवृत्तिका अन्तिम रूप होगा-निवृत्ति!

प्रवृत्ति करते-करते आप आकर अपने आपमें स्थित हो जायेंगे, निवृत्त हो जायेंगे। इसे यों समझें कि एक होती है क्रियाशील प्रवृत्ति और एक होती है शान्त-प्रवृत्ति। क्रियाशील-प्रवृत्तिसे व्यवहार होता है और शान्त-प्रवृत्तिसे समाधि होती है। परन्तु वह समाधि-रूप जो निवृत्ति है वह कभी-न-कभी टूट जाती है और फिर प्रवृत्ति हो जाती है। माने निवृत्तिके बाद प्रवृत्ति और प्रवृत्तिके बाद निवृत्ति-यह संसारका चक्र चलता रहता है और यह जीवन-रथके दो पहिये हैं जिसपर बैठकर इस जीवात्मा रूप नरको-अर्जुनको कर्मक्षेत्रमें काम करना पड़ता है। परन्तु, इसमें बैठा हुआ जो जीवात्मा है उसमें न प्रवृत्ति है और न निवृत्ति है, वह तो असङ्ग-साक्षी है।

अब देखो, यहाँ तककी बात जो है वह बिना वेद वेदान्तके उपदेशके समझी जा सकती है, अनुभवमें लायी जा सकती है। वेद-वेदान्तकी जरूरत वहाँ पड़ती है जहाँ इसी साक्षी आत्माको अज्ञानका पर्दा काटनेके लिए ब्रह्मको जाननेकी जरूरत पड़ती है। वहाँ ब्रह्म जानना भी इतना मुख्य नहीं है जितना कि अज्ञानके पर्देको फाड़ देना आवश्यक है। किन्तु यह बात किसी भी साधनासे उत्पन्न नहीं होती-न प्रवृत्तिसे और न निवृत्तिसे। यदि साधनासे उत्पन्न हो जाये तो वह फिर मिट जायेगी, नष्ट हो जायेगी। साधनासे उत्पन्न जो साध्य स्थिति है वह नश्वर हो जाती है; क्योंकि जो चीज पैदा होती है वह मिट जाती है। तो, तत्त्वज्ञानके द्वारा उस वस्तुका बोध कराया जाता है जो सिद्ध है, जो स्वयं है। 'यह आत्मा ब्रह्म है' यह बात जब गीता बताती है और आत्मा और ब्रह्मकी एकताका साक्षात्कार होता है तो सबसे बड़ा फल यह होता है कि यह ज्यों-का-त्यों, जैसी स्थिति है वैसी, इसमें भली-बुरी, राग-द्वेष, नरक-स्वर्ग, जन्म-मरणका भेद किये बिना, एक परब्रह्म परमात्मा सर्वके रूपमें प्रकट हो रहा है-यह वस्तु-स्थिति प्रकट हो जाती है। यह बनायी नहीं जाती, ऐसा ही है, केवल न जाननेके कारण यह वस्तु परोक्ष हो रही है!

अच्छा, अब आओ हम यह देखें कि गीतामें हमारे दैनिक जीवनके लिए क्या प्राप्त होता है ?

गीताके पहले अध्यायमें हम देखते हैं कि एक ओर दुर्योधन है और एक ओर अर्जुन। दुर्योधनका अर्थ होता है-नाना-प्रकारके दाँव-पेंच करके कूटनीतिके द्वारा, धन-प्रपञ्चसे जीवनके व्यवहारको चलाने वाला स्वार्थी मनुष्य; और अर्जुनका अर्थ होता है-सरल-सीधा-ज्ञानार्जन करनेके लिए तत्पर मनुष्य। युद्धभूमिमें दोनों आते हैं और दोनों-दोनों सेनाओंका निरीक्षण करते हैं। दुर्योधन सेनाका निरीक्षण करके तत्काल आज्ञा दे देते हैं कि सबलोग भीष्म पितामहकी रक्षा करें और युद्धकी घोषणा हो जाती है। दुर्योधन अपनी युद्ध-घोषणामें यह भी कहते हैं कि यहाँ मेरे पक्षमें यह जितनी सेना इकट्ठी हुई सब मेरे लिए मरनेको तैयार है-

'मदर्थे त्यक्तजीविताः' (1.9) अर्थात् मैं जिन्दा रहूँ, मैं राजा बनूँ, मेरा स्वार्थ पूर्ण हो-भले ही सारी सेना मर जाये-यह दुर्योधनका दृष्टिकोण है। अर्जुन युद्धभूमिमें आते हैं और उनकी विशेषता यह है कि उनके पास एक सारथि है। आपने गीताके प्रारम्भमें दुर्योधनके रथ और दुर्योधनके सारथिका वर्णन नहीं पढ़ा होगा। मैं समझता हूँ गीता आपने अवश्य पढ़ी होगी, जरा बताइये तो गीतामें दुर्योधनके सारथिका क्या नाम है? किस सारथिको दुर्योधनने आज्ञा दी कि तुम हमारा रथ युद्धभूमिमें ले चलो? न उसके सारथिका वर्णन है और न उसके लिए निर्देश है, परन्तु अर्जुनके रथ और सारथि दोनोंका वर्णन है। अर्जुन युद्धभूमिमें जब आते हैं तब उनके सारथित्वका काम स्वयं श्रीकृष्ण करते हैं! माने, जब आप जीवन-यात्रा करना चाहें तब आपके पास एक रथ होना चाहिए, रथके लिए उत्तम घोड़े होने चाहिए और उसके लिए एक उत्तम सारथि भी होना चाहिए! यह अर्जुन और कृष्ण कोई और नहीं है-नर और नारायण हैं। भगवान् स्वयं नर और नारायण दो रूपमें प्रकट हुए हैं-एकका नाम है जीवात्मा और एकका नाम है विश्वात्मा। जीवात्मा युद्धभूमिमें अवतीर्ण हुआ, परन्तु अकेले नहीं। उसने नारायणसे कहा कि तुम भी हमारे साथ चलो और चलो इतना ही नहीं कहा, हमारे रथका संचालन करो-यह आज्ञा दी उसने! जो नारायणको अपने जीवनका संचालक बनाकर व्यवहारकी भूमिमें, व्यवहारके रणक्षेत्र में अवतीर्ण होता है वह सफल होता है और जो अकेले आता है वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

तो, पहली बात आप यह देखो कि आप कोई काम करने जाते हो तो नारायणको साथ लेकर जाते हो कि नहीं? आप जब कोई काम प्रारम्भ करें,

कोई काम करने के लिए निकलें तो हमारे हृदयमें जो नारायण बैठा हुआ है उसकी ओर देख लें, नारायणका स्मरण कर लें और तब काम करें। जो बड़े-बड़े लोग हैं उनकी बात छोड़ दो-जो बड़े-बड़े व्यापारी हैं उनका काम आजकल बिना नारायण-स्मरणके चल सकता है-ब्लैक-स्मरणसे भी चल सकता है। जो बड़े-बड़े शून्यवादी हैं, बड़े-बड़े विचारक हैं-थोड़ा-सा बड़प्पन जिनके भीतर आ जाता है-चार आदमी जिनके पीछे चलने लगते हैं-चार पैसा जिनके पास ज्यादा हो जाते हैं, चार किताबोंकी बुद्धि जिनको आ जाती है, साधनाके क्षेत्रमें थोड़ी चकमक जिनको आ जाती है, वे नारायणको भूल जाते हैं। दुर्योधन गया रणभूमिमें तो नारायणको साथ लेकर नहीं गया, पर, अर्जुन गया रणभूमिमें तो नारायणको साथ लेकर गया। हम समझते हैं कि और सब बातें भूल जायें तो भूल जायें, परन्तु यह बात भूलने लायक नहीं है कि यह हमारा मनुष्य-शरीर जो दिखलायी पड़ता है वह केवल हड्डी-माँस-चामका पुतला नहीं है, इसके भीतर जो समष्टिका संचालक है, जो समष्टिका उत्पादक है, जो समष्टिका स्वामी है वह परमेश्वर बैठा हुआ है! तो, गीताकी ओरसे हम आपसे पहला निवेदन यह करते हैं कि आप कोई भी काम करें तो अकेले-असहाय दीन-हीन नरके रूपमें न करें, नारायणको अपना साथी बनाकर उसकी मददसे अपना काम प्रारम्भ करें। आप असहाय हैं यह मत समझें यह समझें कि आप जो भी काम करने जा रहे हैं, नारायण आपके साथ हैं।

अब एक दूसरी बातपर ध्यान दें-यह आपके दैनिक जीवनकी बात है। मालवीयजीकी बात तो मैंने आपको कई बार सुनायी होगी। वे कहा करते थे कि आप घरसे कोई भी काम करनेके लिए चलें तो चार बार नारायण! नारायण!! नारायण!!! नारायण!!! बोलकर निकलें। इससे क्या होगा कि जिस प्रकार कोई नदी बहती है, कोई नहर चलती है और उसके मूल उद्गमसे उसका सम्बन्ध बना रहता है तो वह नदी, वह नहर सूखती नहीं है, लेकिन यदि ऐसी कोई नदी या नहर हो जिसका अपने मूल उद्गमसे कोई सम्बन्ध नहीं रहे तो वह नदी, वह नहर सूख जायेगी। ठीक इसी प्रकार जीवकी बात है। इसका मूल उद्गम है-नारायण, परमेश्वर। यदि यह परमेश्वरके साथ सम्बन्ध रखकर संसारके व्यवहार करेगा तो उसकी शक्ति बनी रहेगी। परमेश्वरसे सम्बन्ध बनाये रखनेसे तीन बात आपको हमेशा मिलती रहती है-आपकी जीवन-धारा कभी विच्छिन्न नहीं होगी-एक; आपकी बुद्धि कभी समाप्त नहीं होगी-बुद्धि-पर-बुद्धि निकलती रहेगी-दो; और आपके जीवनमें हमेशा आनन्द आता रहेगा-तीन। और इसके विपरीत यदि आप ईश्वरके साथ सम्बन्ध तोड़ देंगे तो जीवनकी-धारा कट-पिट जायेगी, विच्छिन्न हो जायेगी और आपके ज्ञानकी, आपके प्रज्ञाकी, आपकी बुद्धिकी जो धारा है वह क्षीण हो जायेगी और आपके भीतरसे जो आनन्द आता है वह आना बन्द हो जायेगा और आप उधार आनन्द लेनेमें लग जायेंगे। तब आप जीवन लेने लगेंगे दवाओंसे, बुद्धि लेने लगेंगे किताबोंसे और दूसरे लोगोंसे तथा आनन्द लेने लगेंगे विषय-भोगोंसे। दवाओंसे जीवन उधार लेना, किताबों और दूसरे आदमियोंसे बुद्धि उधार लेना और आनन्दके लिए विषय-भोगोंके पराधीन हो जाना-इस बातका नमूना है कि हमारे भीतर जो जीवनका, ज्ञानका और आनन्दका मूल स्रोत है उससे हम कट गये हैं।

अब एक अन्य बात पर विचार करें-हमारे जीवनमें जो घोड़े हैं- घोड़े माने इन्द्रियाँ-वे किस तरहके होने चाहिए- माने हमारी इन्द्रियाँ कैसी होनी चाहिए?

एक बात और देखें-दुर्योधनके घोड़ोंका रंग गीतामें तो कहीं नहीं बताया है, महाभारत पढ़नेसे भले ही मालूम पड़ जाय, पर अर्जुनके घोड़ोंका रंग गीतामें बताया है। दुर्योधनके घोड़ोंसे अथवा उसके रंग बतानेसे गीताको कोई प्रयोजन भी नहीं है, उसको तो अर्जुनके घोड़ोंके बारेमें भी खासकर यह बताना है कि-

ततःश्वेतैर्हयैर्युक्ते-(1.14)

अर्जुनके रथमें सफेद घोड़े जुते हुए हैं, तो 'कठोपनिषद्' (3.4) के अनुसार 'इन्द्रियाणि हयानाहु:'-इन्द्रियाँ घोड़े हैं। आपकी इन्द्रियाँ सफेद जीवन व्यतीत करती हैं कि काला जीवन व्यतीत करती हैं ? वे श्वेत हैं कि काली हैं? यदि वे सफेद काम करती हैं तो श्वेत हैं और यदि काले काम करती हैं तो काली हैं। श्वेत सात्त्विकताका रंग है। तो, आपकी इन्द्रियोंमें सत्त्वगुणका निवास है कि नहीं? यह आपका शरीर रथ है, आत्मा रथी है,

बुद्धिमें बैठे वासुदेव सारथि हैं और आपकी इन्द्रियाँ आपके शरीर-रथके घोड़े हैं। तो, आपके ये घोड़े श्वेत हैं कि नहीं? यह आपके दैनिक-जीवनकी बात है, रोज-रोजकी बात है। आप अपनी इन्द्रियोंको काले रंगमें डुबाते हैं कि लाल रंगमें डुबाते हैं कि श्वेत रंगमें डुबाते हैं? आप अपनी इन्द्रियोंको श्वेत करके चलते हैं कि नहीं? उसके घोड़े सफेद हैं कि नहीं?

अब आप अर्जुनके जीवनकी ओर देखें-आप देखें, अर्जुन और श्रीकृष्ण दोनों एक रथ पर बैठे हुए हैं। 'रथ' है आपका हृदय। इसमें आपका एक छोटा-सा 'मैं' आपके व्यक्तिगत जीवनसे सम्बद्ध होकर काम कर रहा है और एक इसमें है अनन्त-चैतन्य-परमात्मा, जो आपके छोटे-से जीवनसे 'मैं-मेरा' किये बिना इसका संचालक हो रहा है और दोनोंमें चैतन्य एक है- 'सत्त्वमेकं द्विधा स्थितम्'-माने एक ही सद्वस्तु कृष्ण और अर्जुनके रूपमें प्रकट है। इसको ऐसे समझो-एक दिन है और एक रात है लेकिन, काल दोनोंमें एक है। किसी व्यक्तिने एक महात्मासे पूछा कि महाराज, पहले-पहले जब सृष्टि हुई तब दिनमें हुई कि रातमें हुई? महात्माने कहा-कि बेटा, यह सृष्टि जो हुई यह दोनोंके बापसे हुई, माने दिन और रात जिसके बेटे हैं उससे हुई! 'अहमस्य कृष्णं अहमर्जुनं च'-यह दिन ही काल है और यह रात ही काल है, परन्तु, जो काल है वह न दिन है, न रात है। कालमें दिन और रात दोनोंका विभाग दिखायी तो पड़ता है; परन्तु कालमें दिन और रात हैं नहीं! जिसने सृष्टि बनायी उसने अपनी सृष्टिके साथ-साथ दिन और रात भी बनाया। तो, अर्जुन और श्रीकृष्ण इन दोनोंमें एक परमात्म-चैतन्य अखण्ड व्याप्त है।

आओ, एक बार पिछली बातको दोहरा लें-इस मनुष्य शरीरको जीवन-यात्राके लिए उपयोगी रथके रूपमें समझें, इसको 'मैं' न समझें; इसमें जो इन्द्रियाँ हैं उनको घोड़ोंके रूपमें समझें और उनको श्वेत रखें, सात्त्विक रखें और इसमें जो सारथि है-'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि'-जो आपकी प्रज्ञा है, जो आपकी बुद्धि है उसको जाग्रत् रखें-यहाँसे जीवन प्रारम्भ होता है। पर, जब जीवन प्रारम्भ होता है तब दुनियाकी जो परम्पराएँ हैं वे हमें आकर घेर लेती हैं! परम्परा क्या है? परम्परा-अविचार-जिस पर हमने कभी विचार नहीं किया-जैसे लकीरके फकीर बने रहे। लकीरके फकीर माने हम स्वयं कभी विचार नहीं करते हैं और पुरानी लकीरको खींचते चलते हैं। असलमें जिज्ञासाका उदय ही उसके मनमें नहीं हो सकता जो केवल लकीर खींचकर अपने जीवनको संचालित करता है। तो, जब हम किसी चीजपर विचार करेंगे, उसको समझनेकी इच्छा करेंगे तब हमारे हृदयमें जिज्ञासा उदय होगी, प्यास जगेगी। अर्जुनने सृष्टि देखी-दोनों तरहकी सृष्टि देखी-अच्छी भी देखी और बुरी भी देखी, अपने पक्षके लोगोंको भी देखा और दुर्योधनके पक्षके लोगोंको भी देखा। दुनियाँमें कुछ लोग अपने पक्षके होते हैं और कुछ विपक्षके; बिना पक्ष-विपक्षके यह सृष्टि चलती नहीं है, परन्तु जिस पक्षमें हम हैं उस पक्षके अच्छे होनेका बोध तो होना चाहिए? आप अपने दैनिक जीवनके लिए इस एक बातको ग्रहण करो-क्या आप किसीका पक्ष इसलिए लेते हैं कि वह आपका अपना है? अथवा इसलिए लेते हैं कि उसका पक्ष लेना चाहिए?

एक बार एक ही गद्दीके लिए दो आचार्य नामजद हो गये। गद्दी एक, आचार्य दो। एक पार्टीने कहा-आचार्य यह, दूसरी पार्टीने कहा-आचार्य वह। हमारे पास सिफारिश आयी-ये आचार्य जो हैं ये आपके अपने हैं, इसलिए इनका पक्ष लेना चाहिए। दूसरी पार्टीकी सिफारिश आयी-ये आचार्य बड़े योग्य हैं इसलिए इनका पक्ष लेना चाहिए। अब आप देखो आपकी अन्तरात्मा क्या कहती है? हमारी अन्तरात्मा अर्जुन है कि हमारी अन्तरात्मा दुर्योधन है। यही तो उसकी परीक्षा है। यदि हम अपना मानकर किसीका पक्ष लेते हैं तो हमारी अन्तरात्मामें दुर्योधन प्रकट हो रहा है और यदि हम उसकी योग्यताको स्वीकार करके उसका पक्ष ले रहे हैं तो हमारे अन्दर अर्जुन प्रकट हो रहा है। अर्जुनने दोनों पक्षोंको देखा और विचार किया। अर्जुनका कहना है-

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।।(1.33)

'न काङ्क्षे विजयं कृष्ण'-हमको विजय नहीं चाहिए; 'न च राज्यं सुखानि च'-हमको राज्य नहीं चाहिए, हमको सुख नहीं चाहिए; हम राज्य लेकर क्या करेंगे, हम भोग लेकर क्या करेंगे, हम जीकर क्या करेंगे? बोले-भला, जीनेसे तुमको क्या परहेज है।

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।

त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।। (1.33)

हम अपने लिए राज्य, भोग, सुख नहीं चाहते हैं हम तो उनके लिए चाहते हैं। बहुत लोगोंको मारकर हम जीना नहीं चाहते। आप देखो, आप जब कोई काम करते हो तब अपने व्यक्तिगत सुख-समृद्धिका विचार करते हो कि सबके सुख-समृद्धिका विचार करते हो? अर्जुनका कहना है कि हम अपने व्यक्तिगत सुख-स्वार्थ-समृद्धि-के लिए कुछ नहीं चाहते हैं। हम तो उन लोगोंके लिए यह सब चाहते हैं-हमें उनका सुख चाहिए, उनकी विजय चाहिए, उनका राज्य चाहिए। दुर्योधन कहता है-मेरे लिए सब मरनेको तैयार हैं और अर्जुन कहता है-मैं सबके लिए मरनेको तैयार हूँ। 'सबके लिए मैं मरनेको तैयार हूँ'-यह जीवनकी सच्ची पगडंडी है और मेरे लिए सब मर जायँ-यह जीवनकी झूठी पगडंडी है। एकका नाम है दैवी सम्पत्ति और दूसरीका नाम है आसुरी सम्पत्ति! आप अपने जीवनमें गीतासे कुछ विवेकका उदय कीजिये, कुछ सीखिये कि यह जो युद्ध हमारे सामने उपस्थित हुआ है यह हमारे व्यक्तित्वकी प्रतिष्ठा करनेके लिए है? कि सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें सुखकी प्रतिष्ठा करनेके लिए है? यही गीताका मूल है, इसको आप अपने जीवनमें उतारनेका प्रयास कीजिये।

अर्जुनके जीवनमें विवेक का उदय हुआ। यह नहीं कि जो कुछ सामने आवे उसीमें हम कूद पड़ें कि यह तो हम करेंगे ही, इससे तो हम लड़ेंगे ही, इसमें तो हम करेंगे ही, इसमें तो हम जलेंगे ही। गीता आपको दृष्टि देती है, आप उसे प्राप्त कीजिये।

आप साधना करते हैं किसलिए? क्या सत्को शून्य बनानेके लिए? क्या चेतनको जड़ बनानेके लिए? क्या आनन्दको दुःख बनानेके लिए? क्या आप परिच्छिन्नतामें लीन हो जानेके लिए साधना करते हैं? और यदि आपको मालूम ही नहीं है कि जो साधना हम कर रहे हैं वह हमको सत्से शून्य कर देगी, चेतनसे जड़ कर देगी, आनन्दसे आनन्दाभावमें स्थित कर देगी, परिच्छिन्नताके भावमें लीन कर देगी-तो आप साधना क्या करेंगे। इसलिए, **गाताका कहना है कि साधनाके प्रारम्भमें** पहले विवेकका उदय होना चाहिए! **विवेकका जितना आदर, बुद्धिका जितना** आदर, ज्ञानका जितना आदर गीता-ग्रन्थ में प्राप्त होता है उतना आदर विश्वके किसी भी धर्मग्रन्थमें प्राप्त नहीं होता-मैं यह बात दावेके साथ कहता हूँ। हम प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर बुद्धिका आवाहन करते हैं, मेधाका आवाहन करते हैं-'मेधाप्रातर्हवाभहे'।-गीता आपको स्थान-स्थानपर बुद्धिकी महिमा बताती हैं-

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते। (7.2)

× × ×

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव। (4.35)

× × ×

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। (4.38)

आप अपनेको पवित्र बनाना चाहते हैं तो ज्ञानका सहारा लीजिये। आप अपना मोह मिटाना चाहते हैं तो ज्ञानका सहारा लीजिये। आप अपने अज्ञानको दूर करना चाहते हैं तो ज्ञानका सहारा लीजिये। आप कोई भी काम कीजिये, समझकर कीजिये, नासमझीसे मत कीजिये-यह गीताका कहना है। बुद्धिका इतना बड़ा आदर गीताने किया है-

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव। (18.57)

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। (2.50)

गीता कहीं यह नहीं कहती कि आप बुद्धिको छोड़ दो। बल्कि गीता तो यहाँ तक कहती है कि आपके जीवनमें बुद्धि आ जाय तो आप पाप-पुण्यसे भी छूट जायँ। क्योंकि बुद्धि ही तो ऐसी है जो पाप-पुण्यमें फँसाती है। आपको बुद्धि आ जाय तो आप जन्म-मरणसे विनिर्मुक्त हो जायेंगे-यह गीताका कहना है! गीताका कहना है-

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।। (2.51)

हम उस अवस्थामें आपको नहीं ले जाना चाहते जहाँ बुद्धि मिट जाती है, हम कहते हैं आपके अन्दर सच्ची बुद्धिका उदय हो। आपको सच्ची बुद्धि मिलेगी तो आपके अन्दर जो जन्म-मृत्युका भय है वह मिट जायेगा; आपको सच्ची बुद्धि मिलेगी तो ये जो फलाकांक्षाएँ आपके चित्तमें भरी हुई हैं, ये सारी-की-सारी मिट जायेंगी; आपको सच्ची बुद्धि मिल जाय तो

शान्ति मिल जायेगी; आपकी बुद्धि यदि ठीक हो जाय तो आपके मनमें जितनी शंका-कुशंका हैं, जितने संशय हैं सब मिट जायेंगे; यहाँ तक कि आपको बुद्धि मिल जाय तो आपको भगवान्‌की प्राप्ति हो जाय-

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते। (10.10)

भगवान् कहते हैं कि बुद्धि प्राप्त हुई और भगवद्-प्राप्ति हुई।

गीता एक ऐसा ग्रन्थ है जो बुद्धिका आदर करता है, जो ज्ञानका आदर करता है जो कहता है कि कर्म करनेमें बुद्धि चाहिए, साधन करनेमें बुद्धि चाहिए, समाधि लगानेमें बुद्धि चाहिए, मोह-जीतनेके लिए बुद्धि चाहिए, भक्ति-प्राप्त करनेके लिए बुद्धि चाहिए, परमात्माके साक्षात्कारके लिए बुद्धि चाहिए-बुद्धिका इतना बड़ा पक्षपाती उपदेशक-ग्रन्थ सृष्टिमें दूसरा और कोई नहीं है। भले ही कोई कहे-सब धर्म समान हैं-सर्वधर्म-समन्वय करे, लेकिन, हम इस बातको दावेके साथ कह सकते हैं कि किसी भी मजहबी ग्रन्थमें जो आचार्यके द्वारा अथवा जो एक व्यक्तिके द्वारा चलाया गया है- उसमें यह नहीं कहा गया कि बुद्धि प्रधान है; उसमें यह कहा जाता है कि जो हम कहते हैं वह प्रधान है, वह सच्चा है। जब एक आचार्य कोई मजहब चलाता है तब यही कहता है कि मेरी बातपर श्रद्धा रखो, मेरी किताबपर श्रद्धा रखो, मैं जो कहता हूँ सो करो। परन्तु, गीता कहती है-बुद्धि! बुद्धि!! बुद्धि!!! ज्ञान! ज्ञान!! ज्ञान!!!। ज्ञानसे ही अमृतकी प्राप्ति होती है, ज्ञानसे ही बन्धनकी निवृत्ति होती है, ज्ञानसे ही सत्यका साक्षात्कार होता है। गीताके सिवाय कोई ऐसा ग्रन्थ जो हमारे दैनिक-जीवनमें हमारी मूर्खताको दूर करे, हमारे दु:खको दूर करे, हमारे जन्म-मरणके भयको दूर करे, हमारे शोक-मोहको दूर करे सृष्टिमें दूसरा नहीं है। अब इसके सम्बन्धमें आपको प्रत्येक अध्यायमें प्रतिदिन हमारे जीवनमें लानेकी क्या-क्या वस्तु है इसका वर्णन सुनायेंगे।

प्रवचन : 2

सुसंस्कृत जीवनकी आवश्यकता

अर्जुन श्रीकृष्णसे कहते हैं कि दोनों सेनाके बीचमें मेरा रथ स्थापित कर दो। इसमें दो बात ध्यान देने योग्य हैं-दोनों सेनाके बीचमें रथकी स्थापना माने हृदयमें समता होना-एक; और ईश्वरको भी आज्ञा देनेका सत्य-सामर्थ्य होना-दो। लोग ईश्वरके सामने बोलते हैं-आपकी जो आज्ञा हो सो हम करें, और अर्जुन ईश्वरको बोलते हैं कि मेरा रथ दोनों सेनाके बीचमें खड़ा कर दो; चलाते रहो नहीं, खड़ा कर दो और इसमें सबसे बड़ी चमत्कारकी बात है कि अर्जुन कहते हैं-खड़ा कर दो और भगवान् वैसा करते हैं! आज्ञा देनेवाला जीव और आज्ञाकारी भगवान्!! क्या ऐसे भगवान्‌की भक्ति करनेकी इच्छा नहीं होगी? एक साधारण जनके हृदयमें भी यह इच्छा होती है कि जो भगवान् अपनी भगवत्ता छोड़कर जीवको ऐसा वात्सल्य दे रहे हैं कि एक (अवैतनिक) नौकरका काम कर रहे हैं। ऐसे भगवान्‌की भक्ति हम क्यों न करें! देखो अर्जुनके ड्राइवरका काम कर रहे हैं भगवान् और यह नहीं कि अपनी मौजसे चाहे जहाँ मोटर ले जायँ, नहीं, अर्जुन कहते हैं यहाँ ले चलो और भगवान् वहाँ ले जाते हैं।

आओ, अब देखें कि विवेकका उदय जीवनमें कब होता है? ध्यान देनेपर हम देखते हैं कि बिना समताके विवेकका उदय नहीं होता। जो पक्षपाती विवेक होता है वह विवेक नहीं होता; कुतर्क होता है। जब हम अपनी वासनाओंका समर्थन करनेके लिए अपने विवेकका प्रयोग करते हैं-वे वासनाएँ चाहे सम्प्रदायगत हों, चाहे जातिगत हों, चाहे व्यक्तिगत हों, चाहे राष्ट्रगत हों, चाहे प्रान्तगत हों, तब वह विवेक सच्चा-विवेक नहीं रहता, कुतर्क हो जाता है। जैसे एक वकील अपने मुवक्किलसे फीस लेकर उसके पक्षका समर्थन करता है चाहे वह उचित हो चाहे अनुचित, ठीक वैसे ही हमारी बुद्धि जब-जब वासनाओंकी प्रियता, वासनाओंसे प्यार, वासनाओंसे सुख, वासनाओंसे मजा लेकर-ये सब फीस हैं उसकी-उनसे

फीस लेकर अपनी बातका समर्थन करने लगती है, अपना पक्ष लेने लगती है तब उसका नाम विवेक नहीं होता, कुर्तक हो जाता है। कैसे कि पहले एक बात सोच लेते हैं कि यह करना है और बादमें उसके पक्षमें तरह-तरहकी उक्ति देने लगते हैं-पहले मनमें आता है कि हमको ऐसी साड़ी पहननी है और फिर सोचते हैं कि उनके घरमें ब्याह है, उसमें हमें जाना है और ये-ये लोग वहाँ इकट्ठे होंगे और हम ऐसी साड़ी नहीं पहने होंगे तो हमारी क्या इज्जत होगी? तो, पहले साड़ी खरीदनेकी इच्छा मनमें आयी और बादमें उसमें ब्याह और इज्जतका कुतर्क जोड़ दिया गया; पहले कुछ खानेकी इच्छा हुई और फिर उसमें यह जोड़ दिया कि हमारे शरीर के लिए बहुत उपकारी है-जीभकी वासनाको पूर्ण करनेके लिए बुद्धिका प्रयोग किया गया। यह विवेक नहीं है, यह विचार नहीं है-यहाँ तो बुद्धि वासनाके पीछे चली गयी, कुमार्गमें चली गयी!

अर्जुन विवेकपूर्वक श्रीकृष्णसे कहते हैं कि मेरा रथ दोनों सेनाके बीचमें खड़ा कर दो। मैं पहले देख तो लूँ कि मुझे किनके साथ लड़ायी करनी है-

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे।। (1.22)

यह हमारे दैनिक-जीवनमें काम लेनेकी चीज है कि कोई भी काम करना हो तो हम विवेक-पूर्वक करें, वासनाके अधीन होकर न करें। वासनाकी पूर्ति और वासनाकी निवृत्ति-दोनोंमें समान होकर शुद्ध विवेकसे इसका निरीक्षण करें-

सहसा विदधीत न क्रियां अविवेकः परमापदम्।

एकाएक कोई काम नहीं करना चाहिए, विचार करके काम करना चाहिए, क्योंकि बिना विचारे जो काम किया जाता है उससे संकट और विपत्ति आती है।

अब आपको गीताका एक सिद्धान्त सुनाते हैं-केवल गीताका ही नहीं, सारे शास्त्रोंका यह सिद्धान्त है कि हमारे जीवनमें जो मैल लगी हुई है वह धुल जाये, साफ हो जाये, हम सुसंस्कृत हो जायँ। असलमें सारे शास्त्र हमें सुसंस्कृत करनेके लिए ही हैं। सुसंस्कृतका अर्थ क्या होता है कि जैसे यदि आपके बाल 'हिप्पी-टाइप' के हो गये हैं-मैले हैं, बड़े हैं, बिखरे हैं, दाढ़ी आपकी बकरा-साइजकी हो गयी है तो, आप केश-कर्त्रनालयमें जाकर नाईसे उसका संस्कार करवा लीजिये-इसीको अपने शास्त्रमें मुण्डन-संस्कार कहते हैं, सुसंस्कृत करना कहते हैं। तो, संस्कार माने क्या हुआ कि मैले, बिखरे, ऊबड़-खाबड़ बालोंको सुन्दर बना देना-इस बातको स्त्रियाँ भी समझती हैं और पुरुष भी समझते हैं। संस्कार माने एक ऐसा काम करना जिससे अपने जीवनमें शोभाकी वृद्धि हो जाय। आप ऐसा काम करना चाहते हैं कि नहीं चाहते हैं? मनुष्य होकर ऐसा नहीं चाहना अपनेको पशु बनाना है। मनुष्यके जीवनमें संस्कारका होना आवश्यक है। हमारी भारतीय प्रणालीमें तो गर्भका भी संस्कार होता है।

संस्कारोंके विषयमें हम आपको यह कहना चाहते हैं कि हमारे जितने भी शास्त्र हैं सब हमारे जीवनमें कोई-न-कोई संस्कार देने के लिए हैं-गीता भी हमारे जीवनमें संस्कार देती है! आजकल लोग शास्त्रीय रीतिसे किसी वस्तुका अध्ययन नहीं करते हैं-कहीं अखबारमें पढ़ लेते हैं, कहीं व्याख्यान सुन लेते हैं, कहीं छोटे-मोटे पर्चे छपे होते हैं वे पढ़ लेते हैं और इन सबसे ही धर्मको समझनेकी कोशिश करते हैं। धर्मका खजाना है-शास्त्र। उनका अध्ययन, अध्यापन करना पसन्द नहीं करते हैं। इसलिए हम उनका सार-सार आपको सुना देते हैं। संस्कार तीन तरहके होते हैं-दोषापनयन, गुणाधान और हीनाङ्गपूर्ति-आप नाम सुनकर घबड़ायें नहीं, यह बहुत सुगम है।

दोषापनयन-दोष! दोष किसको कहते हैं कि जिससे हमारे जीवनमें भी दुःख आवे और दूसरेके जीवनमें भी दुःख आवे। माने हमने ऐसी कोई बात आपको कह दी कि कहते समय हमारा मन गन्दा हुआ, हमारी जीभ गन्दी हुई और कहनेमें हमको दुःख भी हुआ और कानके रास्ते चलकर वह शब्द जब आपके दिलमें पहुँचा तो वहाँ भी उसने दुःख आदि पैदा किया, शोक दिया! ईर्ष्या, घृणा, दुःख आदि पैदा करनेवाले जो भी कर्म होते हैं। तो, दुःखके कारण 'दोष' को समझकर उसको छुड़ानेके लिए शास्त्र जो वर्णन करते हैं उसका नाम है-दोषापनयन-दोष मिटानेवाला संस्कार। इस समय हम ऐसे बोल रहे हैं जैसे कोई लोअर प्राइमरी स्कूलमें बोल रहा हो-

वैसे आप सब तो बड़े-बड़े हैं, पर इस तरहसे कहनेसे हमें अपनी बात समझानेमें सुविधा होगी, नहीं तो हम पारिभाषिक शब्द बोलेंगे और उसको आप ठीक ग्रहण न कर सकेंगे।

दूसरा संस्कार होता है-गुणाधान! गुणाधानका क्या अर्थ होता है कि जिस कामसे अपने जीवनमें भी सुखकी स्फुरणा हो और दूसरेके जीवनमें भी सुखकी स्फुरणा हो ऐसे गुण धारण करना। गुण क्या है कि जो हमें भी सुख दे और दूसरेको भी सुख दे-गुणी लोग दूसरोंको अपना गुण दिखा-दिखाकर दूसरोंको भी सुख देते हैं। और स्वयं भी सुखी होते हैं, तो जैसे ऐसे गुण हमारे जीवनमें आवें-वह करना-इसका नाम होता है-गुणाधान।

तीसरा संस्कार है-हीनाङ्गपूर्ति-अपनी पूर्णताका अनुभव। जिस किसी कारणसे अपनेमें हीनताका भाव आता है-यह मालूम पड़ता है कि हमारे अन्दर यह नहीं है, हमारे अन्दर यह नहीं है-दोष होनेसे दुःख होता है ओर गुण होनेसे सुख मिलता है। परन्तु, कोई ऐसी चीज है जो न तो दोषकी तरह दुःख देनेवाली है और न तो गुणकी तरह सुख देनेवाली है और उसका हमारे जीवनमें होना अत्यन्त आवश्यक है तो, उसको अपने जीवनमें भर लेना 'हीनाङ्गपूर्ति' है। इसको यों समझो-जैसे शरीरमें कोई फोड़ा हो गया तो उसको ऑपरेशन करके निकाल दिया-यह हुआ दोषापनयन-दोषको दूर करना; और कोई अङ्गरागकी वस्तु-स्नो-पाउडर लगाकर रूखे चेहरेको चिकना बना लिया यह हुआ गुणाधान; और कोई अंगुली नहीं है, पाँव नहीं है, आँख नहीं है तो शल्य-चिकित्साके द्वारा उसको अपने जीवनमें जोड़ लिया तो यह हो गया-हीनाङ्गपूर्ति। दोषापनयन, गुणाधान और हीनाङ्गपूर्ति-ये हुए तीन तरहके संस्कार!

अब हम आपको यह सुनाना चाहते हैं कि गीतामें हमारे जीवनका संस्कार कैसे किया गया है और दिन-प्रतिदिनके लिए किया गया है। देखिये, हम प्रतिदिन बोलते हैं (पर समझते नहीं) 'शन्नो मित्रः'-दिन हमारे लिए सुख-शान्ति देनेवाला हो; 'शं वरुणः' रात हमारे लिए शान्ति-सुख देनेवाली हो; 'शन्नो भवत्यर्यमा'-रात और दिन दोनों हमारे लिए शान्ति-सुख देनेवाले हों-रोज हम यह प्रार्थना करते हैं-हमारा हाथ इन्द्र, हम जो काम करें उससे हमको सुख-शान्ति मिले-'शन्न इन्द्रो वृहस्पतिः' हम जो बोलें वह सुख-शान्ति देनेवाला हो; 'शं नो विष्णुरुरुक्रमः' जहाँ हम चलें वह हमारा चलना सुख-शान्ति देनेवाला हो। पुनः देखो-शन्नो मित्रः-दिनका देवता, शं वरुणः-रात्रिका देवता, शन्नो भवत्यर्यमा-दोनोंका देवता, शन्न इन्द्रः-हाथका देवता, वृहस्पति-वाणीका देवता, विष्णुः-पाँवका देवता, हम जो करें वह सुख-शान्ति, जो बोलें वह सुख-शान्ति-यानी हमारा जीवन सुख-शान्तिमय हो-यह प्रार्थना हम ईश्वरसे रोज करते हैं। अब देखो, गीता हमारे जीवनमें कैसे संस्कार करती है, कैसे हमारे जीवनको सँवारती है, सुधारती है जैसे एक माँ अपने बच्चेका मैल उबटन लगाकर साफ कर देती है, कंघी करके बाल ठीक कर देती है, बिन्दी लगाकर उसके मुखको चमका देती है और उसके शरीरमें कोई दोष होता है तो वस्त्र पहनाकर उसको ढँक देती है वैसे ही गीता हमारे जीवनका संस्कार करती है, हमारी माँ है। माँ मर जाती है पर गीता नहीं मरती। माँसे भूल हो जाती है पर गीतासे भूल नहीं होती। यह हमारी असली माँ है, हमारे जीवनको सँवारने, सजानेवाली माँ है।

अच्छा, अब आओ जरा दोषोंपर भी एक नजर डाल लें-जीवनमें चार ऐसे दोष हैं जिनका संस्कार करना जरूरी है: क्योंकि इनके कारण ही हमारे जीवनमें दुःख है, सुखकी कमी है, हीनता-का अनुभव है। तो हमें इन चारो दोषोंको मिटाना है और चारो दोषोंके विपरीत गुणके आधारका संस्कार करना है और ये सारे संस्कार करके अपने जीवनको सँवारना, सुन्दर बनाना है! एक दिन मैं कहीं जा रहा था। एक आदमीने पकड़ लिया। बोला-ठहरिये स्वामीजी, ठहरिये। पूछा क्यों क्या बात है? बोला कि आप जो स्वेटर पहने हुए हैं वह उल्टी है, आइये इसे सीधी कर दें! तो, गीता माँ क्या करती है कि यह जो हम उल्टी स्वेटर पहने हुए हैं इसको सीधा करती है। उल्टी स्वेटर क्या है कि एक को शरीरमें बहुत ज्यादा अभिनिवेश हो गया। अभिनिवेश माने पूरी तरहसे निविष्ट हो जाना घुस जाना-कि निकलनेका रास्ता ही न मालूम पड़े कि यहाँसे निकलें या कि रहें ? रहे तो कैदमें पर मालूम न पड़े कि मैं कैदमें हूँ। तो शरीरमें अभिविनेश हो गया इसका अर्थ बिल्कुल साफ है-कि हड्डी-मांस-चाम-विष्ठा, मूत्र, पीव-

खूनका बना यह शरीर और इसको हम मानते हैं 'मैं'। यह किस विचारसे मानते हैं, इसमें कौन-सी दृष्टि है, कौन-सा दर्शन है? वह यह है कि इनके लिए हमारे गाँवमें एक शब्द है—भेड़िया-धँसान। भेड़िया-धँसानका अर्थ होता है कि ये जो भेड़ होती हैं—भेंड़ जिसके रोएँसे कम्बल बनता है—इसकी रीति होती है कि एक भेड़ आगे-आगे चलती है और बाकी सब उसके पीछे चलती हैं, सोचती-विचारती नहीं हैं—यदि अगली भेड़ कुएँमें गिर जाये तो पिछली भी सब कुएँमें गिर जाती हैं इसको संस्कृतमें बोलते हैं—मेषी-प्रपातान्ध-परम्परा। भेड़ोंके गिरनेकी अन्ध-परम्परा—एकके पीछे दूसरी अन्धी होकर गिरे। आरा स्टेशनकी बात है! बहुत-सी भेड़ जा रही थीं। स्टेशनकी छोटी-सी चहारदीवारी थी। अगली भेड़ चहारदीवारी लाँघ करके रेलवे लाइनपर पहुँच गयी। अब कई भेड़ जो उसके पीछें थीं, पटापट चहारदीवारी पार करके रेलवे लाइनपर पहुँच गयीं और मिनटोंमें ही मर गयीं। इसीको गाँवमें बोलते हैं—भेड़िया-धँसान—एकके पीछे दूसरे, दूसरेके पीछे तीसरे—भेड़के पीछे भेड़। अब, आप हमें यह बताओ कि आपके पास वह कौन-सा दर्शन है जिसके कारण आप इस देहको आत्मा मानते हैं? क्या मुसलमान इस देहको आत्मा मानते हैं? फिर वे कब्रमें आत्मा कैसे मानेंगे, मरनेके बाद वे रूहको आत्मा कैसे मानेंगे? क्या ईसाई मानते हैं? पारसी मानते हैं? सिक्ख मानते हैं? धर्मात्मा मानते हैं? उपासक मानते हैं? योगी मानते हैं? क्या कोई इस देहको आत्मा मानता है? जब कोई नहीं मानता तब आपके पास ऐसी कौन-सी दृष्टि है जिसके कारण आप इस देहको 'मैं' मानते हैं? इसीको बोलते हैं—अभिनिवेश। 'अभि' माने पूरी तरहसे और 'निवेश' माने देहके साथ एक हो जाना, देहमें तन्मय हो जाना, देहमें मशगूल हो जाना—अपनेको देह ही महसूस करना। यह एक दोष है जिसके निवारणकी आवश्यकता है! इसका नाम है—अभिनिवेश!

देखो बाहर! बाहर क्या है? बाहर राग-द्वेष है। दूसरोंके साथ जो हमारा सम्बन्ध है वह पक्षपातके कारण हमारे मनके तराजूको एक ओर झुका देता है और द्वेषके कारण दूसरी ओरसे हमारी आँख बन्द कर देता है। आप देखो क्या आप किसीकी मुहब्बतमें—मुहब्बत माने रागमें फँस गये हैं? क्या आपके दिलमें किसीके लिए ऐसी मुहब्बत है जिसके कारण आप झूठ बोलते हैं, चोरी-बेईमानी करते हैं, दूसरोंके साथ अन्याय करते हैं? किसीके प्रति ऐसी मुहब्बत है जिसके कारण आप यह सब करते हैं? आप क्या मोह-व्रती हो गये हैं? एकादशी-व्रती नहीं है, धर्मव्रती नहीं हैं और-मोहव्रती हो गये! मोहव्रत—मोहब्बत-मुहब्बत करते हैं। रागका ऐसा रंग आपके मनपर चढ़ गया कि आपके लिए गुरु-गुरु नहीं रहा, ईश्वर-ईश्वर नहीं रहा, धर्म धर्म नहीं रहा और सब कुछ मुहब्बत हो गयी? उसके कारण चोरी करते हैं, अनाचार-व्यभिचार करते हैं, हिंसा करते हैं, झूठ बोलते हैं। ऐसा क्यों करते हैं कि किसीकी मुहब्बतमें फँस गये हैं आप। किसीसे राग हो गया है आपको। और दूसरी ओर किसीसे ऐसी दुश्मनी हो गयी है कि उसका नाम सुनकर ही मुँह बिगड़ जाता है, नाक-भौ टेढ़ी हो जाती है, दिलमें जलन होने लगती है। अरे, यह कोई दूसरा नहीं देखता है आप ही देखते हैं। इसलिए आप यह अच्छी तरह देखिये क्या सचमुच ऐसा होता है? यदि ऐसा होता है तो आपके मनमें राग-द्वेषकी मैल लगी है जिसको धोना जरूरी है, जिसका संस्कार करना जरूरी है! यह है हमारा दूसरा दोष—राग-द्वेष!

तीसरा दोष है—अपने बड़प्पनका भाव। हम शरीरकी सुन्दरतामें बड़े हैं, हम धनमें बड़े हैं, हम विद्यामें बड़े हैं, हम तपमें बड़े हैं, हमारे जैसा और कौन है? पहलेकी बात है, एक राजासे बात हो रही थी। प्रसङ्ग वश मैंने दूसरे राजाका नाम ले लिया। उसने कहा—वह क्या राजा है? उससे तो हम बहुत बड़े हैं। उसको तो 25 हजार 'प्रिवी-पर्स' मिलता है और हमको 25 लाख मिलता है। वह हमारे सामने कुछ नहीं है! इस तरह किसी-न-किसी कारणसे दुनियामें अपनेमें 'अस्मिता' होती है। मैं मालिक हूँ—यह भाव—हमने कितनोंको देखा है। उनको झुकना नहीं आता है—जिनको घमण्ड होता है वे सिर नहीं झुका सकते, हाथ नहीं जोड़ सकते, उनकी कमर नहीं झुक सकती, वे ऐसे तने रहते हैं ऐसे तने रहते हैं कि मालूम होता है उनके बराबर दुनियामें और कोई नहीं है। तो, तीसरा दोष है—अस्मिता—जिसका संस्कार करना जरूरी है।

और चौथा दोष है—अपने जीवनमें नासमझी, मोह, अविद्या। इसके कारण हम जगह-जगह पर दुःखी होते हैं। जैसे कि एक बच्चा अंधेरा देखकर रोने लगता है—तो यह क्या है कि यह ना-समझी है उसकी। तो, यह

नासमझी, यह अविद्या भी जीवनका एक बड़ा भारी दोष है, बड़ा भारी दुःख है। तो, यह हमारी गीता माता हमारे जीवनसे इन चारों प्रकारके दुःख-दोषोंको दूर करती हैं और चार ही प्रकारकी बुद्धि हमें देती है। अभिनिवेश होनेके कारण जन्म-मरणका दुःख; राग-द्वेष होनेके कारण शत्रु-मित्रका दुःख; अस्मिता होनेके कारण सत्कार-तिरस्कारका दुःख और अविद्याके कारण होनेवाला नासमझीका दुःख-इन सबकी निवृत्तिसे जो सुख होता है वह और उनका मूलभूत गुण हमारे जीवनमें कैसे आवे यह बात हम गीतासे सीख सकते हैं, गीतामें ऐसी ही बातें भरी हुई हैं।

अच्छा, अब चारों दोषोंके निवारणकी चार दवा देखो-यह खाने वाली दवा नहीं है-गीता माता कपड़ा देकर आपका दुःख नहीं मिटाती, भोजन देकर आपका दुःख नहीं मिटाती और आपके दुश्मनको मारकर आपका दुःख नहीं मिटाती और आपके प्यारेको जिन्दा रखकर आपका दुःख नहीं मिटाती, आपके विद्याधनको बढ़ाकर अथवा आपकी अस्मिताको पूरी करके आपका दुःख नहीं मिटाती, गीता माता आपको चार प्रकारकी बुद्धि देकर आपका दुःख मिटाती है। विलक्षण है गीता। गीता आपको ऐसी बुद्धि दे देगी कि जिससे आप इन दोष-दुःखोंसे छूट जायँ और सुख व गुणोंसे भरपूर हो जायँ और आपके अन्दर जो अपूर्णता भरी हुई है वह पूर्णताके रूपमें प्रकट हो जाय। यह हमारी माँ हमें यह सब ही देनेके लिए आयी है! अब आप इसको क्रमसे अपने जीवनमें देखिये।

जब मनुष्यके मनमें धर्म-बुद्धिका उदय होता है तब देहका अभिनिवेश कम होता है; जब वैराग्य-बुद्धिका उदय होता है तब राग-द्वेष कम होता है; जब भगवद्भक्तिका उदय होता है तब अस्मिता, अभिमान मिटता है और जब तत्त्वका, परमार्थका बोध होता है तब नासमझी मिटती है। इस तरह हमें गीतासे चार तरह-की बुद्धि-धर्म-बुद्धि, वैराग्य-बुद्धि, भक्ति-बुद्धि और ज्ञान-बुद्धि मिलती है। इसमें पहली बात ध्यान देने योग्य यह है कि जो हमारे मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्र हैं वे मनुष्यकी स्थितिके भेदसे अमुक कर्म ब्राह्मणके लिए, अमुक कर्म क्षत्रियके लिए, अमुक कर्म वैश्य व शुद्रके लिए-कर्मके भेदका उपदेश करते हैं। परन्तु गीता यह नहीं करती है, गीता अपकी बुद्धिमें परिवर्तन करती है। इसलिए गीता संन्यासी पढ़ रहा है कि गृहस्थ, वानप्रस्थी पढ़ रहा है कि ब्रह्मचारी कोई भेद नहीं होता। क्योंकि मनुष्य-मात्रके जीवनमें'बुद्धिगत दोषोंकी निवृत्तिके लिए गीता एक सरीखा काम करती है वह चाहे ब्राह्मण हो, चाहे क्षत्रिय हो, चाहे वैश्य हो, चाहे शुद्र हो और इस देशका हो कि विदेशका हो और इतिहासके किसी भी कालमें पैदा हुआ हो और मनुष्यकी किसी भी जातिमें अथवा सम्प्रदायमें उसका जन्म हुआ हो-वह हिन्दू हो या मुसलमान हो; ईसाई हो कि पारसी हो-गीता सबको बुद्धि देनेके लिए आयी है-आपको बुद्धिमान बनानेके लिए आयी है और इसलिए गीता आपकी बुद्धिमें हेर-फेर करती है। गीता कहती है-

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव।(18.57)

गीता कहती है-बुद्धि लो बुद्धि! तुम्हें किसी भी मार्गसे चलना हो बुद्धि लो; तुम्हें कैसा भी दुःख हो बुद्धि लो; कोई भी दोष तुम्हारे अन्दर हो बुद्धि लो; कैसा भी गुण तुम्हें चाहिए बुद्धि लो। गीता सलाह देनेके लिए आयी है, सबकी समझ बढ़ानेके लिए आयी है, सबका दुःख दूर करनेके लिए आयी है, सबको सुख देनेके लिए आयी है, सबको पूर्ण बनानेके लिए आयी है-यह भगवद्‌गीता यह एक वर्णके लिए, एक जातिके लिए, एक सम्प्रदायके लिए, एक आश्रमके लिए अथवा एक देशके लिए नहीं है, यह सार्वजनिक ग्रन्थ है। जो भगवान् कि सृष्टिमें पैदा हुए हैं, जो भगवान्‌में रह रहे हैं-उन सबके लिए यह गीता है।

अब आपको हम यह सुनाते हैं कि यह किस तरहसे हमारे दुःख व दोषको दूर करती है। आप कल्पना करो कि एक मनुष्य अपने ऐश्वर्यके मदमें मत्त हो रहा है-इसको बोलते हैं अस्मिता। संस्कृतमें 'अस्मि' माने 'मैं' होता है और क्रियापदका प्रयोग अहंके लिए, संज्ञाके लिए व्याकरणमें हुआ है-संज्ञा है अहं, मैं-सर्वनाम और इसके लिए क्रिया है अस्मि-अस धातुका क्रियापद है अस्मि। परन्तु, क्या आश्चर्य है कि सर्वनाम संज्ञा अहंके लिए अस्मि पदका प्रयोग और इसी अस्मिका जो भाव है उसको बोलते हैं-अस्मिता अस्मेर भावे अस्मिताः-अस्मिता-मैंपना। इस क्रियापदका प्रयोग क्यों हुआ तो बोले कि यह अस्मिता शान्ति-दशामें नहीं रहती है माने जब समाधि लग जायेगी तब यह अस्मिता नहीं रहेगी। इसलिए अस्मि, अस्मि,

अस्मि—यह मनोवृत्तिकी एक क्रिया है। अस्मि, अस्मि, अस्मि, अहं अस्मि, अहं अस्मि। इसी अस्मिको उपनिषद् 'अहं ब्रह्मास्मि' बोलकरके अहं जीवनास्मि, अहं परिच्छिनास्मि—इस अस्मिताको काटती है। अब यह देखो 'मैंपना' क्या मैंपना? कि मैं विद्वान हूँ, मैं धनी हूँ, मैं शासक हूँ, मैं प्रधान-मंत्री हूँ, मैं राष्ट्रपति हूँ—यह जो अपने साथ कोई-न-कोई विशेषण धारण करके बैठते हैं कि मैं भी कुछ हूँ—यह है अस्मिता! गीतामें सोलहवें अध्यायमें जो हम पढ़ते हैं—

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।(16.15)

वहाँ भी अस्मिता है। यह अस्मिता अपने जीवनसे कैसे मिटे, मनुष्यका घमण्ड कैसे दूर हो—यह जान-बूझकर मैंने बिना क्रमके 'अस्मिता' को लिया है—यह अस्मिता कैसे मिटे? बोले कि इसके लिए ईश्वरका ख्याल करो! तुम बहुत बड़े हो—तुम्हारे पास राज्य है माना, तुम्हारे पास ज्ञान है माना, तुम्हारे पास तपस्या है माना, तुम्हारे पास बड़ी सेना है और तुम्हें वोट देनेवाले बहुत हैं—सब माना परन्तु, तुमसे भी बड़ा कोई है कि नहीं है? तो, जो सबसे बड़ा है, उसका जब तुम ख्याल करो, ध्यान करोगे तो अस्मिता मिट जायेगी। देखो, यह तुम्हारी बुद्धिका संस्कार हो रहा है, तुम्हारे अन्तःकरणका संस्कार हो रहा है—क्या संस्कार हो रहा है कि तुम बड़प्पनके अभिमानसे, अस्मितासे अपने मनको मैला करके बैठे हो। बड़प्पनका अभिमान मनको मैला करता है क्योंकि उसमें दूसरोंके प्रति तुच्छताकी बुद्धि होती है और जब दूसरोंके प्रति तुच्छताकी बुद्धि तुम्हारी हुई तब तुम्हारी बुद्धिमें एक तुच्छ आ गया। जैसे समझ लो एक आदमी बिल्लीकी तरह है तो उसकी नजर कहाँ है? कि चूहे पर; और एक आदमी साँपकी तरह है तो उसकी नजर कहाँ है? कि मेंढकपर। बिल्ली चूहा खाना चाहती है और साँप मेंढक खाना चाहता है। ऐसे ही एक बड़ा विद्वान् है—वह क्या चाहता है कि वह यदि विद्वान् है तो वह अपनेसे छोटेको पराजित करना चाहता है; वह यदि वैराग्यवान है तो अपनेसे कम वैराग्यवानको छोटा दिखाना चाहता है; वह यदि बड़ा तपस्वी है तो अपनेसे कम तपस्वीको तुच्छ बताना चाहता है। जब एक मनुष्य कोई बड़प्पन धारण करके बैठता है तब अपनेसे छोटोंकी ओर देखता है और छोटोंकी ओर देख-देखकर अपनेमें और-और बड़प्पन आरोप करता रहता है—यही अस्मिता है, यही मनका मैल है। दूसरेकी अपेक्षा अपनेको बड़ा मानना और यह मानना कि और सब मूर्ख हैं मैं विद्वान् हूँ, और सब भोगी हैं मैं योगी हूँ, और सब अज्ञानी हैं मैं ज्ञानी हूँ—यह है अस्मिता! इस अस्मितारूपी दोषको दूर करनेका उपाय क्या है? कैसे छूटे यह हमारे मनका मैल? इसका उपाय यह है कि हम अपनेसे बड़ेकी उपासना करें। बोले कि अच्छा आओ, हम अपनेसे एक बड़े राजाकी उपासना करते हैं अथवा कि एक बड़े तपस्वीकी उपासना करते हैं कि अथवा किसी बड़े ज्ञानीकी उपासना करते हैं। बोले—कि नहीं, इससे अस्मिता रूपी दोष नहीं छूटेगा, क्योंकि वह जो बड़ा राजा, बड़ा ज्ञानी होगा तो उसमें भी तो अस्मिता बैठी होगी। और वह भी तो अपनेसे दूसरोंको छोटा समझता होगा? कि तब? कि तब ऐसे सर्वज्ञ, ऐसे परमेश्वरकी उपासना करो जिससे बड़ा कोई नहीं है पर फिर भी वह अपनेसे छोटा किसीको नहीं देखता, सबको अपना स्वरूप देखता है, सबको अपने ज्ञानमें देखता है, सबको अपने शरीरमें देखता है। और जब उस विराट् उस हिरण्यगर्भ, उस परमेश्वरकी ओर—जो अपनेको सर्वात्माके रूपमें अनुभव करता है—तुम्हारी दृष्टि जायेगी। तब तुम्हारे अन्दर तो बड़प्पनकी अस्मिता है वह धुल जायेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि परमेश्वरकी भक्ति हमारे अस्मितारूपी दोषका संस्कार करती है हमारी अस्मिताको, हमारे अभिमानको मिटाती है! इसी प्रकार अभिनिवेशको मिटानेके लिए धर्म-बुद्धि होती है; राग-द्वेषको मिटानेके लिए वैराग्य-बुद्धि होती है और परब्रह्म परमात्माके अज्ञानको मिटानेके लिए तत्त्वज्ञान होता है।

तो, यह गीता क्या करती है कि पता करती है कि कौन-सी बुद्धि न होनेके कारण हमारे अन्दर दोष है और फिर उस दोषको मिटाती है। सारी गीतामें आप देखेंगे—आपको अधर्मको मिटानेके लिए धर्मका उपदेश मिलेगा। अब धर्मका उपदेश कैसे मिलता है यह बतानेके लिए हम फिरसे नीचेकी तरफ आ जाते हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।। (16.24)

धर्मकी बात जब करनी होगी तब यह देखना होगा कि आपको जो

अभिनिवेश है, जो आप अपनेको शरीर समझते हैं तो यह शरीर आपको कहाँसे मिला, कैसे मिला और आपके शरीरकी गति उच्छृंखल है कि मर्यादामें है। हम ऐसे मनमुखी लोगोंको जानते हैं कि उनके मनमें जो विचार आता है—उसे बोल देते हैं, पूरा कह डालते हैं। अरे भाई! पाँव धरतीपर रखते समय भी विचार होना चाहिए कि मुझसे कहीं कोई कीड़ा तो नहीं मर रहा है; बोलते समयमें विचार होना चाहिए कि जो हम बोल रहे हैं उससे कहीं किसीको कोई तकलीफ तो नहीं हो रही है? धर्म क्या है? कि धर्म एक तपस्या है। जो अपने जीवनको जान-बूझकर थोड़ा कष्ट देकर साधना चाहता है उसके जीवनमें धर्म आता है। धर्म जीवनमें तब आता है जब आप यह ध्यान देते हैं कि आपका वर्तमान जीवन ही सब कुछ नहीं है, इसके पहले भी एक जीवन था और इसके बाद भी एक जीवन होगा। तब! पहले वाले धर्मके परिणाम स्वरूप इस जीवनकी प्राप्ति हुई है और इस जीवनमें जो हम धर्म करेंगे उसके परिणाम-स्वरूप अगले जीवनकी प्राप्ति होगी। इस शरीरमें-से अपनेको ऊपर उठानेकी यह एक युक्ति है, एक 'टेकनिक' है! देखो, धर्मकी बात आपको सुनाता हूँ। एकका पिता मर गया। गाँवके लोगोंने उससे कहा—श्राद्ध करो! उसने कहा कि श्राद्ध क्या होता है? तो बोले कि श्राद्ध पिताके लिए होता है बोला—अब पिता कहाँ रहे, वे तो मर गये। तो बोले कि पिता इतने मान्य हैं, पिताका रिश्ता इतनी अच्छी वस्तु है कि मरनेके बाद भी, शरीरके न रहनेपर भी उसका आदर किया जाता है। मरनेके बाद जो जीवन होता है उसके लिए श्राद्ध किया जाता है। इससे क्या हुआ कि पिताके मरनेके बाद भी पिताके प्रति आदरका भाव मनमें रहा! अब देखो इसका प्रभाव। वह बेचारा पढ़ा-लिखा नहीं, वेद नहीं जानता, शास्त्र नहीं जानता और यह बात बिना दर्शन-शास्त्र पढ़े न्याय-वैशेषिकका विचार किये ही बालककी बुद्धिमें आ गयी कि मरनेके बाद भी आत्मा रहता है। तो मरनेके बाद भी जब आत्मा रहता है तब आत्मा क्या है—यह जिज्ञासा भी उसके चित्तमें कभी उठ सकती है और यह धर्मको इस तरह ब्रह्मज्ञान पर्यन्त ले जा सकता है इस तरहसे धर्म देहकी सीमामें जो मैंको बाँध लिया गया है वहाँसे जानकारको तो निकालना ही है, अनजानको भी निकालना है। गीतामें जो धर्म है उसे आप देखें। अर्जुनके मनमें पहले यह चिन्ता हुई कि—

पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः। (1.42)

तो कहो कि भगवान्‌को मरनेके बाद आत्माका अस्तित्व मान्य है कि नहीं? भगवान् ही गीतामें कहते हैं—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।।
(2.37)

धर्मका निश्चय करोगे तो 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं'—मरनेके बाद स्वर्ग मिलेगा। और यह जो देहको ले करके आप सोचते हो कि जीभकी तृप्ति ही बड़ा भारी सुख है; रसनेन्द्रिय-जननेन्द्रियका भोग ही सबसे बड़ा सुख है—यह कल्पना छोड़ो और अपने सुखको स्थायी बनानेके लिए जीवनमें धर्म लाओ। वह धर्म क्या है? कि धर्म वह है जिसका गीतामें तपके नामसे वर्णन किया गया है। असलमें मनुष्यका धर्म वह 'तप' ही है! अच्छा, एक बात आपको और बताते हैं—मनुष्यका धर्म दूसरा होता है और सम्प्रदायका धर्म दूसरा होता है। सम्प्रदायमें तो मनुष्यको "द्विजाति" होना पड़ता है—एक तो जन्मसे पैदा हुए, दूसरे यज्ञोपवीतसे पैदा हुआ, खतनासे पैदा हुआ; एक जन्मसे पैदा हुए, दूसरा बपतिस्मासे पैदा हुआ—दुबारा संस्कार करा करके जो (हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, आदिका) संस्कार धारण किया जाता है वह मनुष्यताको 'डबल' बनानेके लिए होता है। (यह सम्प्रदायका धर्म है) परन्तु, जो जन्मसे मनुष्य है उसके लिए यह धर्म है गीतामें—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।। (17.15)

बोलो तो ऐसा कि जिससे किसीके मनमें उद्वेग न हो—अनुचित मत बोलो, ताना मारकर मत बोलो, व्यंग मारकर मत बोलो, नहीं तो इसका ऐसा पाप लगेगा, ऐसा पाप लगेगा और तुमको इतना ताना, व्यंग सुनना पड़ेगा कि मरनेके बाद भी चैन नहीं मिलेगा—इसलिए ताना मारकर, व्यंग मारकर मत बोलो। बोलो तो ऐसा बोलो कि जिससे किसीको भी उद्वेग न हो, जो सत्य हो, जो प्रिय हो, जो हितकारी हो, जो मित हो और जो अवसरोचित हो। पाठ करो उसका जो अपनी शाखाका वेद हो और स्वाध्याय करो उसका जिसमें अपने स्वरूपका निरूपण हो। इसका नाम होता है धर्म—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।। (17.14)

यह सब मनुष्यका धर्म है और–

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।। (17.16)

असलमें धर्म माने अपनेको रोकना। इस रोकनेमें होती है अपनेको थोड़ी तकलीफ, उस तकलीफको सहना। जो पवित्र भोजन करना चाहता है उसको कभी भूखा रहनेका भी सामर्थ्य होना चाहिए–असलमें भूखा रहनेका सामर्थ्य भी उसीको प्राप्त होता है जो पवित्र भोजनकी इच्छा करता है।

इस तरह मनुष्यके जीवनमें जब धर्म आता है तब वह उसकी वाणीको पवित्र बनाता है, उसके शरीरको पवित्र बनाता है, उसके मनको पवित्र बनाता है और जो लोग केवल शारीरिक और ऐन्द्रियिक सुख-भोगमें फँसे हुए हैं उनको उससे ऊपर उठाता है। धर्म बुद्धि देनेके लिए है। यह गीता माता धर्म-बुद्धिका दान करके हममें जो अभिनिवेशका विकार है उसको मिटाकर हमारा संस्कार करती हैं। यह मनुष्य-जातिकी माँ है, भगवान्‌की वाणी है। भगवान् पिता हैं। और गीता माता हैं। यह सरस्वती माता हमारे हृदयमें जो बुद्धिकी मलिनता है उसको दूर करनेके लिए आयी हैं। जबतक बुद्धि शुद्ध नहीं होगी तबतक मन शुद्ध नहीं होगा, तबतक शरीर शुद्ध नहीं होगा, तबतक वाणी शुद्ध नहीं होगी। इसलिए बुद्धि शुद्ध होनी जरूरी है। असलमें मनुष्यकी बुद्धि अगर ठीक हो जाये, अक्ल अगर ठीक हो जाय तो उसको ईश्वरकी प्राप्ति हो जाय।

गीता कहती है–

बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः। (2.49)

गीताका कहना है–बुद्धिकी शरण ग्रहण करो।

गीता माने बुद्धियोग और बुद्धियोगके चार-भेद–धर्म-बुद्धि, वैराग्य-बुद्धि, (भक्ति या) ऐश्वर्य-बुद्धि और तत्त्व बुद्धि–इन चारोंका वर्णन गीतामें है और ये चारों हमारे जीवनको निर्मल और सुसंस्कृत बनानेके लिए हैं।

☆

प्रवचन : 3

संस्काराधानके लिए धर्म-दृष्टिकी श्रेष्ठता

संस्कार शब्दका अर्थ हिन्दीमें सँवारना होता है–जैसे कोई पौध हो–बेडौल हो तो उसकी छँटाई कर देते हैं, उसमें फूल-पत्ते ठीक न आते हों तो खाद दे देते हैं और उसके फल स्वादु न होते हों तो उसको स्वादु बनानेका प्रयास करते हैं। यह सब क्या हुआ कि यह सब पौधेका संस्कार हुआ। तो सामान्यरूपसे किसी वस्तुको सँवारनेका नाम संस्कार होता है। जैसे यदि घरका संस्कार करना है तो उसमें झाड़ू लगा दी; शरीरका संस्कार करना है तो उसमें तेल-साबुन लगाकर उसको अच्छी तरहसे चिकना-साफ बना लिया, बालोंका संस्कार करना है तो उसको कटवा-छँटवा लिया, उसमें तेल लगा लिया, कंघी कर ली–यह घरका, शरीरका, बालका संस्कार हो गया।

हमारे जितने भी शास्त्र हैं और इनमें गीता-शास्त्र भी सम्मिलित है–ये सब हमारे जीवनका संस्कार करनेके लिए हैं। यहाँ तक कि उपनिषद् भी अविद्या-निवृत्तिके द्वारा हमारे ज्ञानका संस्कार ही करती है। वहाँ संस्कारमें गुणाधान नहीं होता केवल दोषापनयन ही होता है–अविद्या रूपी जो दोष है उसकी निवृत्ति ही ज्ञानकी सिद्धता है–ज्ञानमें-से अज्ञान निकल जाना यही उसकी सिद्धि है।

संस्कारके लिए अलग-अलग लोगोंका अलग-अलग मत है–वेदान्ती लोग इस बातपर जोर देते हैं कि केवल ज्ञानका संस्कार कर लिया जाये, योगी लोग इस बातपर ज्यादा जोर देते हैं कि विक्षेपको मिटा दिया जाये; उपासक लोग इस बातपर ज्यादा जोर देते हैं कि वासनाएँ मिटा दी जायें और धार्मिक-लोग इस बातपर ज्यादा बल देते हैं कि हमारे जीवनमें जो दुश्चरित्र है उसको मिटा दिया जाये।

अब, यदि आपको साधन-क्रम निश्चय करना हो तो साधन-का क्रम यह होता है कि वह आपको नीचेसे ऊपरकी ओर ले जाये-द्रव्य-शुद्धि, भोग-शुद्धि, क्रिया-शुद्धि और वाक्-शुद्धि। हमारे घरमें जो धन आवे वह शुद्ध हो; हम जो अपनी इन्द्रियोंके द्वारा भोग करें वह शुद्ध हो; हम जो कर्म

करें वह शुद्ध हो और हम जो बोलें वह भी शुद्ध हो। संस्कारकी यह प्रक्रिया आपके जीवनमें सबसे पहले स्थूल रूपसे आती है।

अब, आपको धर्मका निश्चय करनेके लिए विज्ञानका स्वरूप बतलाते हैं। किसी भी द्रव्यको शुद्ध करना हो—माने उसमें मिली हुई दूसरी चीजको निकालना हो या उसके शुद्ध रूपको परखना हो, द्रव्य माने चीजें, वस्तुएँ—जिनसे आजकल दवाओंसे लेकर अणु बम तक बनाये जाते हैं—रासायनिक प्रक्रिया—उनको तोड़ना या जोड़ना या अलग करना—यह विश्लेषण करना—यह यान्त्रिक-प्रक्रियासे लेबोरेटरीमें किया जा सकता है—अमुक मशीन पर देख लिया, अमुक चीज मिलाकर देख लिया, अमुक चीज अलग करके देख लिया जोड़ लिया, तोड़ लिया—बाहरी जो वस्तुए हैं उनका निर्णय करनेके लिए यान्त्रिक और ऐन्द्रियिक-विज्ञान पर्याप्त होता है, परन्तु, धर्मका निर्णय करनेके लिए विज्ञान कहाँ है इस बातपर आप जरा ध्यान देना। धर्मका निर्णय करनेके लिए एक लेबोरेटरी, एक प्रयोगशाला आपको मिली हुई है और वह है—शरीर! इस शरीरमें सारे शरीरको ढोनेके लिए पाँव है; इस शरीरमें सबको पौष्टिक आहार पहुँचानेके लिए पेटका खजाना है; शरीरकी रक्षा करनेके लिए हाथ है और ज्ञानोंका संग्रह करनेके लिए सिर है। मुख्य रूपसे आप यह देखें कि शरीरमें ये जो चार विभाग हैं, वे समन्वित होकर काम करते हैं या कि पृथक्-पृथक् रहकर काम करते हैं? पाँव चलता है तो सारे शरीरके हितकी दृष्टिसे चलता है; पाँवका धर्म यह है कि वह ऐसी जगह न चले कि सिरमें चोट लग जाये और वह फूट जाये। हाथका धर्म यह है कि वह ऐसा काम करे कि आँख सुरक्षित रहे, कान सुरक्षित रहे; यह नहीं कि आँख ही फूट जाये या कान ही बहरे हो जायें-ऐसी चोट नहीं लगानी चाहिए। पेटमें भोजन ऐसा पहुँचना चाहिए जो सारे शरीरके लिए हितकारी हो और हमारे मस्तिष्कमें ज्ञान ऐसे होने चाहिए, जो सारे शरीरके लिए हितकारी हो। तो, जब हम शरीरकी ओर दृष्टि डालते हैं तो पाते हैं कि इसमें संग्रहकी भी अपेक्षा है-पेटमें; इसमें चलनेकी भी अपेक्षा है-पाँवमें; इसमें काम करनेकी भी जरूरत है-हाथमें इसमें बाह्य, ज्ञानोंके संग्रहकी भी जरूरत है-कुछ कानके द्वारा, कुछ नाकके द्वारा, कुछ आँखके द्वारा, कुछ जिह्वाके द्वारा और कुछ त्वचाके द्वारा। माने हमारे जीवनमें दिल-दिमागकी भी जरूरत है, धर्म-कर्मकी भी जरूरत है, भोग-रागकी भी

जरूरत है और यह सब समन्वित-रूपसे सारे शरीरके हितकी दृष्टिसे है! तो, धर्मका निर्णय करनेके लिए प्रयोगशाला है-आपका शरीर। समन्वित रूपसे आँख-पाँव दोनों मिलकर काम करें-आँख रास्ता बतावे और पाँव चले, पाँव चले और आँख रास्ता देखती जावे। यह शरीर ही हमारे समाज-विभाजनका समंजनका मुख्य-स्थल है। हम प्रयोगशालामें वस्तुके स्वरूपका निश्चय कर सकते हैं परन्तु धर्मका निश्चय प्रयोगशालामें किसी यन्त्रके द्वारा नहीं हो सकता, क्योंकि धर्म भावके द्वारा सम्पन्न होता है, धर्म कर्त्ताके द्वारा सम्पन्न होता है, धर्म क्रियाके द्वारा सम्पन्न होता है। इसलिए, इस शरीरका अन्तरङ्ग विश्लेषण करनेसे ही हमें धर्मका विज्ञान ज्ञात हो सकता है!

अब देखिये! मनुष्य सहज भावसे इस शरीरमें ही आबद्ध है। इसीको वह मैं समझता है और इस शरीरके लिए जो उपयोगी पदार्थ होते हैं उनको 'मेरा' समझता है-माने अपने व्यक्तित्वको ही महान् और उसके लिए उपयोगी वस्तुओंको ही मूल्यवान समझता है। अब आप धर्मकी आवश्यकता देखो-ठीक इस शरीरके दृष्टिकोणसे ही हमारे समाजका दृष्टिकोण बदल जायेगा। हम केवल शरीरके दृष्टिकोणसे धर्मानुष्ठान न करें बल्कि विश्वके साथ समन्वित होकर धर्मानुष्ठान करें। यह धर्म ही हमको परिच्छिन्न व्यक्तित्व और परिच्छिन्न ममत्वसे ऊपर उठाकर सारे विश्वके कल्याणके साथ जोड़ता है, इसलिए हमारे जीवनमें धर्मकी अपेक्षा है। हम ऐसी जगह न जायें जिससे औरोंकी-समाजकी हानि होती हो; हम ऐसा काम न करें, जिससे औरोंकी हानि होती हो; बल्कि ऐसी जगह जायें और ऐसा काम करें जिससे सबका भला होता हो। जैसे हम हाथ-पाँवके द्वारा अपने शरीरके लिए उपयोगी काम करते हैं वैसे हम अपने जीवनके द्वारा सबके लिए उपयोगी काम करें तब वह धर्म होता है। कहनेका तात्पर्य यह कि सहज भावसे जो हमारे शरीरमें अभिव्यक्ति हुई है उसको विश्वके लिए उपयोगी बनानेमें धर्मका हाथ होता है। इसको भी वहाँ हम अत्यन्त संकीर्ण बना देते हैं जहाँ वह एक परिवारके लिए, एक सम्प्रदायके लिए, एक जातिके लिए, एक प्रान्तके लिए, एक राष्ट्रके लिए ही हो जाता है। असलमें तो-सम्पूर्ण विश्व ही हमारा अङ्ग है-सप्ताङ्ग! आपका स्वरूप क्या है? आपके सात अङ्ग हैं-ये हाथ-पाँव तो आपके शरीरमें हैं और मिट्टी, पानी,

आग, हवा, आकाश, सूर्य और चन्द्रमा-असलमें ये सात आपके अङ्ग हैं और आपके जितने कर्म हैं, जितने कर्त्तव्य हैं, जितने धर्म हैं वे सब-के-सब आपके सप्ताङ्ग रूपको दृष्टिमें रखकर इस देहमें-से आपको उठाकर सारे विश्वमें फैलाते हैं।

यह मैं आपको इसलिए सुना रहा हूँ कि आखिर शास्त्रके पास भी तो कोई-न-कोई दृष्टिकोण होता है। तो, शास्त्रके पास यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण है कि जैसे जन्मसे सहज-भावसे आप इस देहको 'मैं' समझते हैं और देह और देहके सम्बन्धियोंके कल्याणके लिए काम करते हैं वैसे ही यह समग्र विश्व-सृष्टि आपका शरीर है और इसके कल्याणकी दृष्टिसे जब आपका कर्म होने लगता है तब उसका नाम धर्म हो जाता है और आपके अन्तःकरणकी शुद्धि हो जाती है-धर्मकी रक्षा, अधर्मका विनाश। इसको यों समझें-जो सम्पूर्ण विश्वके लिए उपयोगी, उन्नतिकारक, प्रगतिकारक होता है वह होता है धर्म और जो सम्पूर्ण विश्वके लिए अधोगतिकारक, अवनति-कारक, दुःखदायी, अव्यवस्था फैलानेवाला, उच्छृङ्खल बनानेवाला होता है वह होता है अधर्म। समग्र-विश्व-सृष्टिके साथ तादात्म्य करा देनेवाला धर्म ही होता है। गीतामें जहाँ-जहाँ आप धर्मका वर्णन पावेंगे जैसे कि-

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः। (3.35)

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते। (2.31)

वहाँ-वहाँ अपने धर्ममें निष्ठा पावेंगे। यह अपने-अपने धर्ममें जो निष्ठाका उपदेश है वह यही है कि इसमें आप बहुत परिवर्तनकी चेष्टा मत कीजिये, जो सामग्री आपको ईश्वरकी ओरसे प्राप्त है उसका सदुपयोग कीजिये।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।

(कठोपनिषत् 1.2.24)

आप देखें, धर्मका निर्णय आप गीतामें कैसे करेंगे-गीताका कहना है कि तुम्हारी जीवन-चर्याका प्रेरक कौन है? आप लोग गीता पढ़ते हैं इसलिए आपके ध्यानमें यह बात बहुत जल्दी आ जायेगी-आपके पाँवको एक जगहसे दूसरी जगह ले जानेवाला, आपके हाथसे काम करानेवाला, आपके मुँहसे बुलवानेवाला आखिर कौन है? आपकी दृष्टि इस सम्बन्धमें कहाँ तक जाती है? क्या आपका मालिक, आपका प्रेरक, आपको आज्ञा देनेवाला काम-क्रोध-लोभ है? यह हम नहीं कह सकते, परन्तु, ईश्वरकी दी हुई बुद्धिके द्वारा, स्वतः प्राप्त हुई बुद्धिके द्वारा इस बातपर आप स्वयं विचारकर सकते हैं कि आप जो अपने जीवनमें प्रवृत्तियाँ कर रहे हैं वे किसके लिए और किससे प्रेरित होकर कर रहे हैं ? बाल्यावस्थामें आपका यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ, आपको गायत्रीका उपदेश दिया गया और उसमें आपको यह प्रार्थना सिखलायी गयी कि ईश्वर हमारी वृत्तियोंको श्रेष्ठ कर्ममें लगावे। यह आपने सीखा है कि नहीं सीखा-'धियो यो नः प्रचोदयात्, प्रकृष्टे कर्मणि प्रेरयेत्'-परमेश्वर हमारी बुद्धिको श्रेष्ठ कर्ममें लगावे-यह आपने सीखा कि नहीं सीखा? आप निरीक्षण करो कि कहीं आपके हृदयमें ईश्वरकी प्रेरणाके स्थानपर कामकी, क्रोधकी, लोभकी प्रेरणा तो नहीं आ गयी? आपके जीवनका संचालक कौन है? पहली बात जीवनमें विचार करनेकी यही है कि आपके जीवनको कौन संचालित कर रहा है-क्या काम संचालित कर रहा है-आपके जीवनको; क्या क्रोध संचालित कर रहा है आपके जीवनको; क्या लोभ संचालित कर रहा है आपके जीवनको या कि आप ईश्वरके द्वारा, सद्बुद्धिके द्वारा संचालित हो रहे हैं? हम इस विषयमें कुछ नहीं कह सकते, आपके जीवनपर अंगुली उठानेका हमको कोई अधिकार नहीं है, परन्तु, आपकी नजर, आपकी सद्बुद्धि, आपके अन्तर-हृदयमें बैठा हुआ परमात्मा आपको बतावेगा-आप विचार करें!

आप देखो जब आप चोरी और बेइमानीकी ओर अग्रसर होते हो तब लोभ आपके भीतर बैठकर आपका संचालन करता है, उस समय ईश्वरका पता कहाँ होता है? जिस समय आप मारकाट-हिंसामें प्रवृत्त होते हो उस समय क्रोध आपके जीवनका संचालन करता है; जिस समय आप अनाचार-व्यभिचारकी ओर प्रवृत्त होते हो उस समय काम आपके जीवनका संचालन करता है। हम उच्छृङ्खल मनोविज्ञानकी-जिसमें कोई मर्यादा ही नहीं है, कोई धर्म ही नहीं है-बात नहीं कर रहे हैं। हम एक सच्ची बात बताते हैं-भरी-सभामें सुना रहे हैं-हमारे जाने हुए एक पुरुष हैं उनको अपनी पत्नी पसन्द नहीं थी। इससे उनका दिमाग गरम हो गया और रातकी नींद उड़ गयी। डाक्टरके पास गये। डाक्टरने कहा कि तुम्हें तुम्हारी पत्नी पसन्द नहीं है

इसलिए तुम्हें यह सब तकलीफ है तो तुम दूसरी स्त्री रख लो! डाक्टरने यह सलाह दी–मैं आलोचना नहीं कर रहा हूँ। आपको सच्ची बात सुनाता हूँ। तब वह दूसरी स्त्रीके पास जाने लगा और जब उसका आकर्षण दूसरी स्त्रीकी ओर हो गया और इसका पता उसकी पत्नीको चला तो वह पागल हो गयी और जब पागल हो गयी तब इत्तफाकसे वह भी उसी डाक्टरके पास पहुँची। डाक्टरने उसको भी वही सलाह दी–तुम दूसरा पुरुष रख लो! फिर दोनों मेरे पास आये और दोनोंने हमें बताया कि हमें डाक्टरने यह सलाह दी है! तो, पति गिर गये, पर पत्नी बच गयी। कैसे? कि उसके चित्तमें धर्मका संस्कार था। धर्मका जो संस्कार होता है चित्तमें वह गलत काम करनेसे चित्तको कचोटता है। यह धर्म हमारा एक अविज्ञात सखा है, जिसको आप जानते नहीं, देखते नहीं, पहचानते नहीं, यदि यह आपके हृदयमें बैठा है तो बुरा काम करते समय यह भीतरसे आपको संकेत करेगा कि तुम यह गलत काम करने जा रहे हो, यह मत करो। असलमें धर्मकी उपाधिसे परमेश्वर ही आपके हृदयमें बैठकर आपको चोरी–बेईमानीसे रोकता है, आपको अनाचार–व्यभिचारसे रोकता है, आपको हिंसा–वैमनस्यसे रोकता है। ऐसा है कि परमेश्वरको भी प्रेरणा देनेके लिए कोई द्वार चाहिए–यह बात मैं सामान्यरूपसे बोल रहा हूँ–जैसे आपको परमेश्वर दिखावेगा परन्तु आँखके द्वारा दर्शनकी योग्यता देगा; आपको परमेश्वर गन्धका ज्ञान करावेगा; परन्तु नासिकाके द्वारा करावेगा; परमेश्वर आपको शब्दका ज्ञान करावेगा परन्तु कानके द्वारा। आपको प्रेम देगा परन्तु हृदयके द्वारा वैसे ही आपके जीवनमें ईश्वर सच्चा सन्देश देगा; लेकिन वह धर्मकी उपाधिसे देगा। निरुपाधि ईश्वर किसीका पक्षपात नहीं करता–न किसीको कोई प्रेरणा देता, अपने स्वरूपमें अखण्ड बैठा रहता है। यदि आपके हृदयमें धर्म बैठा हुआ है तो उसकी उपाधिके रूपमें स्वीकार करके ईश्वर आपको यह कहेगा कि यह बुरा काम है, यह तुम मत करो!

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।

(18.61-62)

हमको कहानी नहीं मालूम है, हम आपको चुटकुले नहीं सुनावेंगे–हम आपको धर्म और धर्मका विज्ञान कहाँ प्राप्त होता है यह बतावेंगे! धर्मकी प्रयोगशाला आपके साथ है और इसमें जहाँ धर्मके संस्कार हैं–वहाँ बैठकरके ईश्वर आपके जीवनका संचालन करता है। ईश्वर–रूप जो विद्युत–शक्ति है वह एक है, परन्तु, आप देखो आपने कौन–सा बल्ब जलाया है–यदि आपने कामका बल्ब जलाया है तो दुनिया दूसरे ढंगकी दिखेगी; लोभका बल्ब यदि जलाया है तो दूसरे ढंगकी दिखेगी, परन्तु यदि आप अपने हृदयमें धर्मका दीपक प्रज्ज्वलित कर लेंगे, जला लेंगे तो दुनिया दूसरे ढंगकी दिखेगी और आप देखेंगे कि ईश्वर आपको कैसी सुन्दर–सुन्दर प्रेरणा देता है।

हमारा कलका जो कहना था वह आपके ध्यानमें होगा कि हम कैसे अपने जीवनका संस्कार कर सकते हैं। अपने शरीरमें हाथ और पाँवका, पैर और आँखका, कान और दृष्टिका, दिल और दिमागका जो समन्वय हमारे जीवनमें है और सब मिलाकर जैसे हमारी भलाईके लिए काम करते हैं, वैसे ही इस सम्पूर्ण–विश्वमें मानवता नामकी जो एक चीज है, विश्वात्मकता नामकी जो एक चीज है उसके साथ जितना–जितना हम मिलेंगे उतना–उतना ही हमारे जीवनमें धर्म प्रकट होगा।

'ना ब्रह्म क्षत्रं ना क्षत्रं ब्रह्म वर्द्धते'–आपकी बुद्धिके अनुसार आपके जीवनमें प्रयत्न होना चाहिए और प्रयत्नके अनुसार बुद्धिका निर्माण होना चाहिए! यह जो आपका व्यावहारिक जीवन है उसमें धर्म आपके सम्मुख विश्वात्म–भावको प्रकट करता है।

आपको कल सुनाया था कि इस देहमें जो अभिनिवेश हो रहा है–उसकी निवृत्ति इष्ट है। स्वर्गमें देवता होते हैं, उनकी पूजा करना, पितृलोकमें पितर होते हैं उनकी पूजा करना, धर्मकी रक्षाके लिए ईश्वर समय–समयपर आता है, सहायता देता है, ऐसा ईश्वर–विश्वास करना–यह आपको बतावेगा कि आप केवल हड्डी–मांस–चामके पुतले नहीं हैं, बल्कि आपका यह शरीर शुद्ध है जो मिट्टी, पानी, आग, हवा, आकाश और सूर्य, चन्द्रमासे बना हुआ विश्वात्मा है, सर्वात्मा है। आपका दुश्मन दूसरा कोई नहीं है। संसारमें दूसरोंके द्वारा जो अनिष्ट होता हुआ मालूम पड़ता है वह ठीक वैसा ही है जैसे

कभी हमारे ही दाँतसे हमारी जीभ कट जाती है अथवा जैसे हमारी ही अँगुलीसे हमारी आँख फूट जाती है। यह सम्पूर्ण-विश्व आपका अपना स्वरूप है?

समं मनो धत्स्व न सन्ति विद्विषः। 7.8.10

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि तुम अपने मनको समतामें स्थित करो, तुम्हारा कोई शत्रु नहीं है, तुम अपनेको स्वयं सताते हो। गीतामें आपने पढ़ा होगा-

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।। (6.5)

अपने आपको स्वयं गड्ढेमें-से ऊपर निकालो। 'उद्धरेत्'का अर्थ है-उद्धार करो। मानें जहाँ नीचे गिरे हो वहाँसे अपनेको ऊपर उठाओ। तो, नीचे क्या और ऊपर क्या? असलमें 'नीचे'का अर्थ 'देश'में नीचे नहीं होता; 'काल'में तो कुछ ऊँचा-नीचा होता ही नहीं है, 'वस्तु'में भी कुछ ऊँचा-नीचा नहीं होता; यह जो परिच्छिन्न देहमें तुमने अपनेको फँसा रक्खा है, इसको समझो बाबा कि देहके पहले जो तुम थे, वहाँसे अब आये हो-यह पुनर्जन्म हुआ और इस देहसे निकलकर कहीं जाओगे तो, तुम इस देहके बन्धनमें बँधे हुए नहीं हो-किसी लोकमें-से आये हो, किसी लोकमें जाओगे-इसका मतलब हुआ कि यह देहका बन्धन तुम्हारे लिए अकिंचत्कर है! देखो, धर्म आपको यह बताता है कि तुम इस देहके पहले किसी देहमें थे और इस देहके बाद किसी देहमें जाओगे, इसलिए यह देह ही तुम्हारा स्वरूप नहीं है। पहले तुम्हारी शक्ल-सूरत कुछ दूसरी थी-देवताकी थी, दानवकी थी, पशुकी थी, पक्षीकी थी, अब यह शक्ल-सूरत मिली है और आगे दूसरी शक्ल-सूरत मिलनेवाली है-यह धर्मका दृष्टिकोण है। इसका अर्थ क्या हुआ? कि इसका अर्थ यह हुआ कि तुम्हारा देह जिसको तुम 'मैं' मानकर बैठे हुए हो शाश्वत नहीं है। अर्थात् यह धर्मका काम है कि वह पूर्वजन्मके ज्ञानके द्वारा तुम्हें इस देहसे छुड़ावे; उत्तर-जन्मके ज्ञानके द्वारा तुम्हें इस देहसे छुड़ावे; स्वर्ग-लोकके ज्ञानके द्वारा तुम्हें इस देहसे छुड़ावे; नरक लोकके ज्ञानके द्वारा तुम्हें इस देहसे छुड़ावे; पशु-पक्षी-मनुष्य आदि योनियोंके विचारसे इस देहसे छुड़ावे और जो तुम अपनेको ऐसी आँखवाले, ऐसी नाकवाले, ऐसे मुँहवाले मानकर इस समय बैठे हुए हो, तुम इतने ही नहीं हो, समग्र विश्व-सृष्टि तुम्हारा स्वरूप है। दैहिक-बन्धनसे तुम्हें मुक्त करना-धर्मका काम है। इसीसे कहते हैं कि विश्वकी दृष्टिसे धर्म है, विश्वात्माकी दृष्टिसे धर्म है, विराट्की दृष्टिसे धर्म है और तुम परमेश्वरके विशाल शरीरमें एक अङ्ग हो, एक अंश हो, एक विन्दु हो। परमेश्वर मिट्टी है तो तुम एक कण हो और कण मिट्टीसे जुदा नहीं होता; परमेश्वर सिन्धु है तो तुम एक विन्दु हो; परमेश्वर आग है तो तुम उसमें एक चिन्गारी हो; परमेश्वर वायु है और तुम उसमें एक झोंका हो; परमेश्वर आकाश है और उसमें तुम घटाकाशवत् मिथ्या ही अपनेको परिच्छिन्न माने हुए हो। तुम सूर्यकी आँखसे देखते हो, तुम चन्द्रमाके मनसे सोचते हो-तुम्हारा ऐसा स्वरूप कि जिसमें एक नहीं कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड समा जायँ-ऐसा तुम्हारा विराट् स्वरूप और तुम अपनेको इस तुच्छ देहकी सीमाओंमें कैद करके रखते हो! तुम अपने शरीरपर चाकू कैसे चलाते हो? तुम अपने आपको ही अपना शत्रु क्यों समझते हो? ईश्वरकी दृष्टि जो है वह आपको देहाभिमानसे, अभिनिवेशसे छुड़ाती है। कल मैंने आपको बताया था अभिनिवेश माने एक शरीरमें डूब जाना, गर्त हो जाना, तन्मय हो जाना, तल्लीन हो जाना-शरीरको ही सब कुछ मान बैठना। धर्मकी एक-एक बात अभी आपको सुनायी-पूर्वजन्मवाली बात, परलोकवाली बात, देवपूजावाली बात, वर्णाश्रमवाली बात! धर्मकी एक-एक बात आपको यह सिखाती है कि तुम केवल यह शरीर नहीं हो, तुम्हारा सम्बन्ध समस्त विश्वके साथ है, अनादि और नित्यके साथ तुम्हारा सम्बन्ध है, लोक और परलोकके साथ तुम्हारा सम्बन्ध है, पशु-पक्षी-मनुष्य, देवता-पितरके साथ तुम्हारा सम्बन्ध है-तुम अकेले नहीं हो और जब तुम अकेले नहीं हो सम्पूर्ण विश्वके साथ सम्बद्ध हो तो, जब तुम लोभके वशमें होकरके चोरी-बेईमानी करते हो तब तुम अपना मन भर बिगाड़ते हो-नहीं तो चुराई हुई वस्तु तुम्हारे पास रहेगी क्या? कोई चीज नहीं रहेगी। यह धरती, यह मकान, यह सोना, यह चाँदी, यह हीरा-यह मोती-जिनके लिए आदमी अपने दिलको बिगाड़ लेता है-ये क्या कभी किसीके साथ रहे हैं और कभी किसीके साथ जायेंगे?

तो, धर्म किस दृष्टिसे सिद्ध होता है? धर्मका निर्णय होता है अपने

शरीरको समाज-रूप अनुभव करनेसे। अर्थात् यह शरीर एक समाज है और इसमें जब धर्मका उदय होता है तब सम्पूर्ण-विश्व अपना समाज बन जाता है और सर्वात्म-भाव होनेपर हमारे जीवनमें सदाचार अपने-आप ही आ जाता है; तब हम लोभके द्वारा प्रेरित होकर चोरी-बेईमानी करनेसे मुक्त हो जाते हैं; कामके द्वारा प्रेरित होकर अनाचार-व्यभिचारसे मुक्त हो जाते हैं और क्रोधसे प्रेरित होकर हिंसा-वैमनस्य करनेसे मुक्त हो जाते हैं। इस तरह धर्म हमारे जीवनमें आकर हमारे जीवनका संस्कार करता है।

आज तो धर्मका नाम भी लेना-किसी-किसी विषयमें तो बिलकुल अपराध हो गया है। आपलोगोंमें भी बहुत बड़े-बड़े विद्वान् होंगे जो देश और विदेशके धर्मोंके बारेमें जानते होंगे! आजकल क्या होता है कि यदि कोई आचार्य अथवा पैगम्बर, कोई खास समय पर कोई मजहब चलाता है तो उसे धर्मकी संज्ञा दे दी जाती है। पर एक आचार्यके द्वारा, एक खास समयमें, खास लोगोंके लिए चलाये हुए मजहबको लोग भले ही धर्म कहें, हम उसको धर्म नहीं कहते हैं। हमारी दृष्टिमें वह एक मत है, एक पंथ है अथवा यों कहें कि किसी एक प्रकारके दोषको दूर करनेके लिए कुछ लोगोंका संगठन है। मजहबको हम धर्म नहीं कहते, हम धर्म उसको कहते हैं जिसमें विश्व-सृष्टिके नियन्त्रणकी व्यवस्था है। आप ध्यानसे इस बातको सुनें-हम वेद किसको कहते हैं कि सृष्टिकी उत्पत्तिके साथ जिसके नियम उदय होते हैं, दूसरे शब्दोंमें इसे यों कह सकते हैं-सृष्टिके संविधानका नाम 'वेद' है। विश्व-सृष्टिके ईश्वरीय-संविधान, स्वतः-सिद्ध-संविधानका नाम वेद है और विश्व-सृष्टिकी जो सद्-व्यवस्था है उसका नाम धर्म है।

धर्मकी व्याख्या आज लोगोंकी समझमें जल्दी नहीं आती है। पर इसको मैं और सरल बनाकर बताता हूँ। आप इसको ऐसे देखो-धर्म वह है जो आपकी कामकी प्रेरणा, लोभकी प्रेरणा, क्रोधकी प्रेरणाको दबा दे और आपको ईश्वरीय प्रेरणाका, जो कि सारे विश्वके कल्याणके लिए है-अनुभव करावे। इसको यों समझो-जो आपके जीवनको शाश्वतसे एक नहीं करे, आपके जीवनको अनित्यसे नित्यकी ओर न ले जाय, अपवित्रसे पवित्रकी ओर न ले जाय, परिच्छिन्नसे पूर्णकी ओर न ले जाय, आपके जीवनको जो विनश्वरसे अविनाशीकी ओर न ले जाय-वह धर्म नहीं हो सकता। धर्म वह है जो समग्र-सृष्टि-व्यवस्थाको ठीक-ठीक धारण करे।

अब, एक दूसरी बात देखो-यह धर्म रहता कहाँ है? धर्म देहात्माको विश्वात्मासे एक करता है। जो देहात्मा चैतन्य है वही विश्वात्मा चैतन्य है। यहाँ वह उपाधिसे आपको जोड़ देता है-देह विश्वसे पृथक नहीं है।

अब, एक तीसरा संस्कार लो अपने मनमें। धर्म माने वह संस्कार जो हमारे अन्तःकरणमें विद्यमान दुःखोंको मिटा दे। अब देखो-दुःश्चरित्र-जन्य दुःखोंको मिटानेवाला 'धर्म' है और वासनाजन्य दुःखोंको मिटानेवाली 'उपासना' है। वासनाएँ बहुत सताती हैं, बहुत दुःख देती हैं और चित्तकी गहराईमें रहती हैं-राग-द्वेष जो हमारे चित्तमें हैं, वे हिंसा और दुराचारसे अधिक गहराईमें हैं-हिंसा और दुराचार तो रोगके बाहरी लक्षण हैं, वासनाएँ गहराईमें रहती हैं। तो, जब इन वासनाओंको मिटानेके लिए हम ईश्वरकी उपासना करने लगते हैं, ईश्वरसे अनुराग करने लगते हैं, उसकी भक्ति करने लगते हैं, तब हमारी वासनाएँ छूट जाती हैं, हम अनासक्त हो जाते हैं और राग-द्वेषकी निवृत्ति हो जाती है। असलमें हमें यहाँ कहना चाहिए था 'वैराग्य' कि हमें वैराग्य हो जाता है। वैराग्यको बौद्ध भी मानते हैं, जैन भी मानते हैं, शैव भी मानते हैं और हमारे वेदान्ती-संन्यासी भी मानते हैं। वैराग्य बहुत बढ़िया वस्तु है, परन्तु, एक बात आप ध्यानमें रखना-वैराग्यमें त्यागकी प्रधानता हो जाती है, इसलिए इस शब्दका प्रयोग करनेमें गीतामें बहुत सावधानी बरती गयी है। आपका ध्यान उसपर जाये कि न जाये-वैराग्य शब्दका प्रयोग गीतामें है-'वैराग्यं समुपाश्रितः (18.52)-वैराग्यका सहारा लेना चाहिए; परन्तु, भगवान्ने क्या आश्चर्य-चमत्कार कर दिया, वे बोले कि बाबा जहाँ हम अर्जुनको सम्पूर्ण-विश्वमें-से अधर्मको मिटाकर धर्मकी स्थापना करनेके लिए युद्ध करनेके लिए तैयार कर रहे हैं वहाँ यदि हम 'वैराग्य' शब्दका प्रयोग ज्यादा करेंगे तो अर्जुन तो युद्ध करेगा ही नहीं। वह तो खुद ही कहता है-'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके' (2.5) वह तो खुद ही भिक्षा माँगनेको तैयार है, वैरागी होनेको तैयार है, तो फिर तो बात ही उलट जायेगी। इसलिए भगवान्ने गीतामें यह सावधानी बरती कि 'वैराग्य' शब्दके स्थानपर उन्होंने 'अनासक्ति' शब्दका प्रयोग किया-

अनासक्त रहो, सङ्ग छोड़ो, आसक्ति छोड़ो। असलमें यह जो अनासक्ति है, यह और कुछ नहीं वैराग्य ही है। संन्यासीके लिए जो वैराग्य है गृहस्थके लिए वह अनासक्ति है। वैराग्यका उदय होनेपर क्या होता है कि आओ वैष्णव हो जायँ-घर-द्वारका त्याग करके बाहर चले जायँ; संन्यासी हो जायँ; वानप्रस्थी हो जाए; किसी गुफामें जाकर योगाभ्यास करें-त्याग जुड़ जाता है! भगवान्ने कहा कि बाबा! यह जो वैराग्यके साथ त्याग जुड़ गया कि जब मनुष्य वैरागी होता है तब त्याग भी करता है-और जो त्यागके लिए तैयार नहीं उसके मनमें वैराग्य भी क्या-तो भगवान्ने कहा कि हमको ऐसे शब्दका प्रयोग करना चाहिए कि जिसमें त्याग तो अनिवार्य हो नहीं और वैराग्यका जितना फायदा है, वह सब-का-सब आ जाय और इसके लिए उन्होंने शब्द चुना-अनासक्ति। तो हमारे अन्तःकरणका दूसरा संस्कार है-राग और द्वेषकी निवृत्ति। रागमें-से काम निकला, काममें-से व्यभिचार निकला और द्वेषमें-से क्रोध निकला और क्रोधमें-से हिंसा निकली-हिंसाका बाप क्रोध और क्रोधका बाप द्वेष! तो, राग और द्वेष दोनोंको एक ही प्रयासमें मिटा देनेके लिए गीतामें 'अनासक्ति' शब्दका प्रयोग किया गया है।

अब, आप साधनाकी दृष्टिसे इसपर विचार करें कि अनासक्ति जो है वह हमारे अन्तःकरणमें क्या संस्कार करती है। उपासना जब हमारे मनको परमेश्वरके साथ जोड़ देती है तब संसारमें हमारी जो आसक्ति होती है वह मिट जाती है। कोई कहे कि ईश्वरके प्रति भी हमारी आसक्ति है और पैसेमें भी हमारी आसक्ति है तो यह गलत है। आसक्ति माने सट जाना, आसक्ति माने गोंद-जैसे गोंदसे एक चीज दूसरी चीजसे चिपक जाती है वैसे, आसक्ति माने सटना, सक्त होना-बोलते हैं न कि इसको तो हम छोड़ नहीं सकते-स्त्रीमें आसक्ति है, पुरुषमें आसक्ति है, धनसे आसक्ति है, मकानमें आसक्ति है-तो यह आसक्ति उपासनासे मिट जाती है। आप कभी अपने मनमें निराश मत होना, कभी अपनेको उदास मत करना, भगवान्ने हमें दो चीजका सामर्थ्य बिलकुल पक्का दिया है; रोज-रोज वे हमको दो बात सिखाते हैं! क्या? कि एक तो हम सब कुछ छोड़ सकते हैं, हमारे अन्दर यह सब कुछ छोड़नेका सामर्थ्य है। कैसे? कि देखो, सुषुप्तिमें हम सब कुछ छोड़ देते हैं और सब कुछ छोड़कर आरामका अनुभव करते हैं। क्या आप बिना सोये रह सकते हैं? नहीं! जब आपके लिए सोना अनिवार्य है तब इसका अर्थ है कि आपके लिए सबको छोड़कर मजा लेना भी अनिवार्य है-हमारे अन्दर यह सामर्थ्य है और इससे भगवान् हमारी असंगता और हमारे त्यागके सामर्थ्यको प्रकट भी करते हैं, परन्तु यह हमें मालूम नहीं है, हम इसपर ध्यान नहीं देते हैं। और दूसरा सामर्थ्य जो हममें है वह क्या है? कि नयी दुनिया बनानेका सामर्थ्य। आप जब सपना देखते हैं तब नयी दुनिया ही तो बनाते हैं। ईश्वर कहता है कि देखो, मुझमें जो ईश्वरता है वह मैंने पूरी तरहसे तुमको दे दी-जैसे मैं नयी दुनिया बनाता हूँ वैसे ही तुम भी नयी दुनिया बना लेते हो और जैसे मैं सारी दुनियाका महाप्रलय करके अपने स्वरूपमें अकेले बैठ जाता हूँ वैसे ही तुम भी सबसे अनासक्त होकर सबका त्याग करके बैठ जाते हो अकेले। इस तरह, नयी दुनियाके निर्माणका सामर्थ्य स्वप्नसे सिद्ध होता है और सबके परित्यागका सामर्थ्य सुषुप्तिसे सिद्ध होता है।

सुषुप्तिमें-गाढ़ निद्रामें कुछ नहीं भासता-यह बड़ी भारी नियामत है, बड़ी भारी सम्पदा ईश्वरने हमें दी है, पर, दुनियादार लोगोंकी नजर ही इसपर नहीं जाती। कहेंगे कि सबको छोड़कर कैसे रहेंगे? जैसे छह घंटेके लिए सब कुछ छोड़कर सो जाते हो, वैसे ही। कहेंगे कि हम इस सृष्टिको छोड़करके नयी सृष्टि कैसे बनावेंगे? तो जैसे सपनेमें रोज बना लेते हो, वैसे ही बना लोगे! बिलकुल इसके लिए उदास-निराश नहीं होना चाहिए। बम्बईमें नहीं रहेंगे मद्रासमें रहेंगे, मद्रासमें नहीं रहेंगे हिमालयमें रहेंगे, इन लोगोंके बीचमें नहीं रहेंगे तो दूसरे लोगोंके बीचमें रहेंगे। आपके अन्दर नयी दुनिया बनानेका सामर्थ्य है और सबके त्यागका भी सामर्थ्य है-उपासनामें ये दो ही चीज हैं। आप सबको छोड़कर ईश्वरके साथ मिलकर बैठ जाओ और वैकुण्ठ बना लो चाहे गोलोक बना लो और स्वप्न-सृष्टिका आनन्द ले लो और चाहे आप सारी सृष्टिका बनाना छोड़कर समाधिमें बैठ जाओ और सुषुप्तिका आनन्द ले लो-ईश्वरोपासनाकी प्रधानतासे गोलोक-बैकुण्ठ आदि होते हैं और आत्मोपासनाकी प्रधानतासे समाधि होती है। हम समग्र शास्त्रका विज्ञान आपको बता रहे हैं कि यदि हम अपने मनको अपनेमें

स्थित करना चाहेंगे तो द्वैतका भाव बिलकुल विलुप्त हो जायेगा, परन्तु यदि हम अपने मनको दूसरे पदार्थमें, अन्य ईश्वरमें, विलीन करना चाहेंगे तो द्वैतका भाव विलुप्त नहीं होगा, इसलिए गोलोक-बैकुण्ठ आदिका अनुभव होगा-स्वप्नवत् और समाधिका अनुभव होगा-सुषुप्तिवत्।

सारे संस्कारोंका जो मूल है वह हमारे इसी साढ़े तीन हाथके शरीरमें है-पाँवसे लेकर सिरतक जो यह हमारा शरीर है-इसीमें धर्म-संस्कारका मूल है, उपासना-संस्कारका मूल है, योग-संस्कारका मूल है, यहींसे सारा-का-सारा विज्ञान निकलता है। वह तिब्बतमें पैदा नहीं होता, वह अबसे दो हजार वर्ष पहले पैदा नहीं हुआ है; अबसे चार हजार, पाँच हजार वर्ष पहले जो योगी हुए हैं उन्होंने उसका विज्ञान समझा था और हम नहीं समझते हैं-यह बात नहीं है, अबसे दस हजार वर्ष पहले जो आचार्य हुए हैं वे उपासनाका विज्ञान समझते थे और हम नहीं समझते हैं सो बात भी नहीं है; पोथियोंमें इनका विज्ञान लिखा है और हमारे जीवनमें नहीं है यह बात भी नहीं है-आखिर पाथियों में भी तो लिखा ही गया है, महात्माओंने भी तो वेद-मन्त्रोंका दर्शन किया ही है, वे वेद-द्रष्टा तो हुए हैं, यह जो हमारा द्रष्टा है यह वेदका द्रष्टा है, यह ईश्वरका द्रष्टा है, यह धर्मका द्रष्टा है, यह गोलोक-बैकुण्ठका द्रष्टा है, यह दृश्य-मात्रका द्रष्टा है-समग्र विज्ञान इसके सामने पैदा होते हैं और नष्ट होते हैं। इसलिए, यह गीता क्या है कि इसमें हमारे धर्म-विज्ञानका संकेत करनेवाले एक-एक इशारे हैं-धर्मका संकेत करनेवाले, उपासनाका संकेत करनेवाले-योग और ज्ञानके संकेत करनेवाले। उपासना हमको तैजस-आत्मासे एक करती है, योग हमको प्राज्ञ-ईश्वरसे एक करता है। जहाँ योगमें स्थिति है, ऐश्वर्यमें स्थिति है वहाँ परम-प्रियतम-परमेश्वरमें अपनी वासनाओंको लीन करनेके लिए उपासनाकी, भक्तिकी स्थिति है और अविद्याका संस्कार करनेके लिए अथवा अविद्याका निवारण करनेके लिए तत्त्वज्ञान है।

प्रवचन : 4

मूल दोष मोह-ममता मिटानेके उपाय

चलो वहाँ-जहाँ अर्जुनके रथ पर सारथिके रूपमें भगवान् बैठे हैं और अर्जुन दोनों ओरकी सेनाको देख रहा है और जब वह सेनाकी ओर देखता है तब उसके मनमें चार बातें आती हैं। सबसे पहले वह अपने युद्धरूप-धर्मसे अपनी विमुखताको प्रकट करता है और इसका हेतु बताता है-स्वजन-

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्-(1.28)

दूसरी बात है ममता और मोह और तीसरी बात इसके अन्दर है-भ्रान्तिके कारण अस्थिरता-

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः (1.30)

चौथी बात है-

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे (1.31)

अर्थात् यह युद्ध हमारे लिए श्रेयस्कर है कि नहीं है।

तो, धर्म-स्थितिके सम्बन्धमें गीतामें एक विशेष दृष्टिकोण दिया गया है। धर्म कि कर्मयोग?-एक प्रश्न है यह गीतामें। एक धर्म वह होता है जो यज्ञशालामें बैठकर स्वर्गकी प्राप्तिके लिए किया जाता है, पर यह धर्म जीवनके सिर्फ एक हिस्सेमें होता है। आप अग्निहोत्र कीजिये, आप गोदान कीजिये, आप प्याऊ चलाइये, आप विद्यालय चलाइये, आप अन्नदान कीजिये-ये सब धर्मके अंश हैं पर अग्निहोत्र होता रहेगा, आप पाप करते रह सकते हैं; विद्यालय चलता रहेगा आप पाप करते रह सकते हैं; गोदान कर देंगे फिर आप पाप करते रह सकते हैं। इस तरहका धर्म, जो जीवनके केवल एक अंशमें प्रतिष्ठित कर दिया जाता है वह अधूरा धर्म है। असलमें धर्म तो ऐसा होना चाहिए जो हमारे समग्र जीवनमें व्याप्त हो। इसलिए, यज्ञशालाके धर्मसे गीताके धर्ममें जो विलक्षणता है उसपर आप ध्यान दें।

गीतामें उस धर्मका वर्णन है जो अपने जीवनमें दिन-रात, सोते-जागते, चलते-बैठते रहता है और इसलिए गीतामें स्वर्ग-प्राप्त करानेवाले धर्मपर कटाक्ष भी मिलता है। आज हम धर्म करें और कल हमको भोग मिले, आज हम धर्म करें और परलोकमें हमको भोग मिले, आज हम धर्म करें और अगले जन्ममें हमको भोग मिले- यह आगे भोग मिलनेकी आशासे जो पुण्य-धर्म किया जाता है, गीता उसका समर्थन नहीं करती, उसकी निन्दा करती है- यह बात आपके ध्यानमें होगी और यदि नहीं हो तो बैठा लीजिये। देखिये-

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।

(2.42-43)

यज्ञशालाके धर्ममें कर्म-विशेष-खास तरहका कर्म किया जाता है; जबकि गीताके धर्ममें दृष्टि-विशेष रखी जाती है और कर्म सामान्य ही होता है और यही सामान्य-कर्म ही कर्मयोग हो जाता है। कर्म-विशेष है यज्ञशालामें और दृष्टि-विशेष है कर्मयोगमें। यह अन्तर जबतक आपके ध्यानमें नहीं आवेगा तबतक गीताने धर्मक्षेत्रमें क्या क्रान्ति की है इस बातको आप नहीं देख सकेंगे। इसलिए आप इस बातकी ओर देखिये- 'कामात्मानः स्वर्गपराः' यज्ञ करते समय हृदयमें है कामना और फलके रूपमें चाहते हैं स्वर्ग-'जन्ममृत्युफलप्रदाम्'-बार-बार जन्में, बार-बार मरें और बार-बार हमको भोग मिले-धर्मका एक दृष्टिकोण तो यह है; और गीतामें धर्मका जो दृष्टिकोण है वह यह है कि उसको (कर्मको) हम समदृष्टिसे करें, अनासक्त होकर करें।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।। (2.38)

अर्जुनका विचार है कि युद्ध करनेसे पाप लगेगा। भगवान् बोले कि हाँ, यदि तुम अपने व्यक्तिगत लाभके लिए अथवा स्वर्गकी प्राप्तिके लिए- माने इस जन्ममें या अगले जन्ममें व्यक्तिगत सुख-स्वार्थ प्राप्त करनेके लिए-कामनावश युद्ध-धर्मका पालन करोगे तो तुम्हें अवश्य पाप लगेगा। परन्तु 'सुखदुःखे समे कृत्वा'-सुख दुःखको समान समझकर युद्ध-धर्मका पालन करोगे तो पाप नहीं लगेगा। यह गीताने हमें एक दृष्टिकोण दिया- प्रत्येक शास्त्र हमें एक-न-एक दृष्टिकोण देता है। सुखदुःखे समे कृत्वा- संस्कार हो गया-हमारे कर्मको सँवार दिया गया-कर्मयोगका यही अर्थ होता है-

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।। (2.51)

यहाँ दृष्टि-विशेषसे कर्मका अनुष्ठान धर्म है और वह दृष्टि-विशेष क्या है? वह समताकी दृष्टि है, अनासक्तिकी दृष्टि है, निष्कामताकी दृष्टि है। यह गीता एक संस्कार लेकर आयी-वह यह कि आप दिन-रात जो काम करते हैं वह काम करते रहिये-आप नौकरी कीजिये, आप व्यापार कीजिये, आप युद्ध कीजिये, आप वैज्ञानिक आविष्कार कीजिये, आप स्वाध्याय कीजिये, परन्तु दृष्टिमें समता, निष्कामता, असंगता रखिये।

अब, आओ जरा मनमें जो ममता है, मोह है उसका संस्कार कैसे होता है यह देखें। गीताका यह कहना नहीं है कि आप ममत्वका जो विषय है उसको छोड़ दीजिये या मोहका जो विषय है उसको छोड़ दीजिये। न संन्यास-धर्म यह कहता है कि जिससे आपकी ममता है, जिससे आपका मोह है उस वस्तुको और उस व्यक्तिको छोड़ दीजिये। परन्तु गीता यह कहती है कि उस वस्तुको और उस व्यक्तिको जहाँ-का-तहाँ रहने दीजिये और आप अपने-आपमें असङ्ग हो जाइये। हम कई दृष्टिकोणसे आपको यह बात सुना रहे हैं। बात यह है कि गीताका पाठ करना दूसरी बात है और हम एक चुटकुला सुनाकर, एक कहानी सुनाकर आपका मनोरंजन कर दें और आप जैसे सिनेमा देखते समय खुश हो जाते हैं और नाटक देखते समय जैसे खुश हो जाते हैं वैसे खुश हो जायँ वह बात दूसरी है। आप इधर ध्यान दीजिये कि हमारी मोह-ममताकी निवृत्तिके लिए गीता हमें क्या दृष्टिकोण देती है। गीतासे आप वह दृष्टिकोण प्राप्त कीजिये। आपका हाथ पकड़कर गीता आपसे काम नहीं करावेगी, गीता आपको एक ऐसा ज्ञान देगी जिससे कर्म करते समय भी आप कर्मके बन्धनसे मुक्त रह सकेंगे। आप वह

दृष्किोण देखिये–ममता और मोह प्रकृतिकी वस्तुओंसे होता है–वह प्रकृतिकी वस्तु चाहे किसी भी रूपमें हो–घोड़ेसे भी ममता होती है, बैलसे भी ममता होती है, हाथीसे भी ममता होती है और मोटरसे भी ममता होती है; हीरा–मोती, सोना–चाँदीसे भी ममता होती है और स्त्री–पुत्र, भाई–बन्धुसे भी ममता होती है। और ममता जहाँ गाढ़ होती है, वहाँ मोह होता है। जो दृश्य वस्तु हमारे सामने है उसीसे ममता, उसीसे मोह, उसीसे राग, उसीसे द्वेष होता है। यदि ममता–मोह सोनेके मनमें होता या चाँदीके मनमें होता, या हीरेके मनमें होता तो संस्कार करनेकी जरूरत वहाँ पड़ती। हीरा–मोती, स्त्री–पुत्र, हाथी–घोड़ा, मोटर मकान इनके प्रति जो ममता–मोह है वह हमारे मनमें है इसलिए संस्कार तो हमारे मनका होगा–जहाँ गन्दगी होगी वहाँ न उसको धोना पड़ेगा, न कि गन्दगी हो कहीं और धोवेंगे कहीं! इससे तो काम नहीं चलेगा। अब देखना है कि गीता इसके सम्बन्धमें आपको क्या दृष्टिकोण देती है–कैसे इसका संस्कार करती है। आप पहले तीन बातपर ध्यान दीजिये फिर चौथी एक बात और सुनावेंगे यदि याद आ गयी तो!

एक दृष्टिकोण गीतामें यह है कि ये जो प्रत्यक्ष वस्तुएँ दिखायी पड़ती है–स्त्री पुत्र, धन, पशु, मकान कोई चलती–फिरती और कोई न चलती–फिरती, चल और अचल ये सारी–की–सारी वस्तुएँ प्रकृतिकी हैं और आत्मा असङ्ग है। और असङ्ग–आत्माका इन दृश्य–वस्तुओंके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आप तीन प्रकारसे इसपर विचार कीजिये–ये जो प्रत्यक्ष वस्तुएँ हैं ये वैज्ञानिक दृष्टिसे इतने जोर–शोरसे बदल रही हैं कि जबतक आप इनसे मोह–ममता करते हैं तबतक उनमें परिवर्तन हो जाता है–प्रकृति परिवर्तनशील है।

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्। (9.33)

यह जो लोक है, यह जो दृश्य सृष्टि दिखायी पड़ रही है–इसमें तीन बात आपको मिलेगी–जड़ता तो इसकी प्रत्यक्ष है–स्त्री–पुत्रका शरीर भी जड़ होता है और भाई–बन्धुका शरीर भी जड़ होता है, माने प्रकृतिका कार्य जड़ है और आप हैं चेतन यह एक बात हुई। दूसरी बात यह है कि यह बदलती हुई है, असत् है, दुःख है। आपको अपने जीवनकी एक बात सुनाता हूँ–एक आदमीने हमसे बहुत प्रेम किया। फिर हम किसी कारणसे अलग हो गये। अब हमारे ख्यालसे यही बात रही कि इसका प्रेम हमसे बहुत ज्यादा है। परन्तु दो ही महीनेमें उसका प्रेम मेरी ओर से हटकर दूसरी ओर चला गया और वह बिल्कुल बदल गया और मैं तो दो महीने पहले का ख्याल लेकर बैठा था कि यह हमसे बहुत प्रेम करता है–तो यह हुई बदलनेकी बात। और देखो–एक आदमी मुझसे कहता है कि जबतक आपके साथ हैं तबतक यह काम हम करेंगे। बहुत बढ़िया बात है कि नहीं? लेकिन यदि आप इस बातको ध्यानसे देखेंगे तो मालूम पड़ेगा कि उसके मनमें यह कल्पना जरूर है कि एक–न–एक दिन साथ छोड़कर जाना है–संसार अशाश्वत है, दुःखालय है।

'अनित्यम् असुखम् लोकम्'–तो मोह–ममता किससे? अर्थात् प्रत्यक्ष दीखनेवाली वस्तुओंके स्वरूपपर यदि विचार किया जाय तो उनके प्रति मोह–ममता कम होगी। एक दृष्टिकोण यह हुआ।

अब दूसरा दृष्टिकोण देखो–वैराग्य–हेतुक मोह–ममताकी निवृत्ति–इसको बोलेंगे। परिणाम, ताप, संस्कार–सब सृष्टिमें लगा हुआ है और दुनिया बदल रही है और यह सब हमारे चित्तपर बुरा संस्कार डालते हैं–दूसरेको देखकर हमारे हृदयमें ताप होता है और हमारे मनमें ही तरह–तरहकी वृत्तियाँ उदय होती रहती हैं। इस तरह संसारमें दोष दर्शन करके जो मोह–ममताका त्याग होता है वह वैराग्य–हेतुक होता है–

मरेंगे मर जायेंगे कोई न लेगा नाम।
उजड़ जाय बसायेंगे छोड़ वसन्ता गाम।।

हाड़ जरै जैसे लाकड़ी केश जरै जैसे घास।
सब जग जलता देखकर भया कबीर उदास।।

आप जो यह विश्वास करते हैं कि हमारा बेटा हमेशा हमारे प्रति वफादार रहेगा–वह आपका विश्वास बहुत उत्तम है, परन्तु, जब उसकी बहू आ जायेगी तो वह क्या उसके प्रति वफादार नहीं रहेगा? क्या जब उसके बेटा हो जायेगा तो उसके प्रति वफादार नहीं रहेगा? उसने क्या आपके प्रति वफादारीकी कोई शपथ ले रखी है? दुनियाकी हालतको देख–करके दोष–दर्शनके द्वारा मोह–ममताको कम करनेका यह एक ढंग है गीतामें–

अनित्यमसुखं लोकम् (9.33) दुःखालयमशाश्वतम् (8.15) संसार जड़ है, अनित्य है, दुःख है।

अब एक दूसरी प्रक्रिया आपको सुनाते हैं–यह जो प्रत्यक्ष संसार दीख रहा है इसके कारण तुम नहीं हो, इसको तुमने नहीं बनाया है। प्रकृतिकी बात छोड़ दो कि यह प्राकृत सृष्टि परिवर्तनशील है, यह देखो कि यह ईश्वरकी बनायी हुई सृष्टि है–ईश्वर स्वयं सृष्टि बनाता है और स्वयं सृष्टिके रूपमें बनता है, सृष्टिके रूपमें स्वयं ही खेलता है और फिर स्वयं ही सृष्टिको समेट लेता है–

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।। (10.8)

जैसे माँकी जब इच्छा होती है तब बच्चेके हाथमें खिलौना दे देती है, बच्चा खेलता रहता है और फिर जब उसका मन दूध पिलानेका होता है कि बच्चा भूखा है तो खिलौना उसके हाथसे ले लेती है और उसको अपनी छातीसे चिपका करके दूध पिलाती है, वैसे ही परमेश्वरकी जब मौज होती है तब तुम्हारे सामने इस सृष्टिको खड़ा कर देता है। यह सृष्टि एक खिलौना है–और जब मौज होती है उसकी, तब इस सृष्टिका लय हो जाता है। इस दृष्टिकोणको समझो! यह सृष्टि ईश्वरकी है, इसपर ममत्व आपका नहीं है, इसपर स्वामित्व आपका नहीं है, ईश्वरकी वस्तुसे आप मोह करेंगे तो आपको रोना पड़ेगा। आपने यह श्रुति कभी सुनी है कि नहीं सुनी है–'प्रियं त्वां रोत्स्यति'–दुनियामें तुम जिससे प्रेम करोगे वह तुमको रुलायेगा, वह तुमको बाँधेगा। रोद्स्यति–रोध करेगा और रोदन देगा–जिससे तुम प्रेम करोगे दुनियामें वह तुमको बाँध लेगा और जिससे तुम प्रेम करोगे दुनियामें वह तुमको रुलावेगा। भर्तृहरिका एक श्लोक है, बाल्यावस्थामें हम बड़े जोर-जोरसे चिल्लाकर इसको बोला करते थे। मणिकर्णिका घाट पर बैठ जाते और जोर-जोरसे बोलते–

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत् स्वयममून्।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति।।

कहते हैं दुनियाके सब विषय दुनियाकी सब वस्तुएँ एक-न-एक दिन जरूर-जरूर, अवश्य अनिवार्यरूपसे जायेंगी। बोले–जायेंगी तो जाने दो। तो बोले–

व्रजन्तः स्वात्न्त्र्याद् अतुलपरितापाय मनसः।

यदि ये स्वयं जायेंगी तो तुमको रुलाकर जायेंगी और यदि तुम इनको छोड़ दोगे तो तुम्हें बड़ा भारी सुख, बड़ी भारी शान्ति–त्यागकी एक निर्मलता, तुम्हारे हृदयमें आवेगी।

तो, मोह-ममता छोड़नेके लिए एक तो है प्राकृत वस्तुओंकी नश्वरताका विचार और दूसरा विचार यह है कि सृष्टि ईश्वरकी है, ईश्वराधीन है, इसमें तुम्हारा कोई हाथ नहीं है–'जिस सरका है यह बाल, उस सरमें इसे जोड़ दो'–ईश्वरकी वस्तु ईश्वरको समर्पित कर दो। ईश्वरके प्रति समर्पण हो जानेसे तुम्हारी मोह-ममता क्षीण हो जायेगी–यह बात गीतामें आप जहाँ-तहाँ देखेंगे–

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।
(1.9.10)

'तत् प्रसादात्'का अर्थ यह है कि यह जो छिपा हुआ परमेश्वर है तुम्हारे हृदयमें–इसका अर्थ प्रसाद नहीं है; वह तो तुमसे कपट करके छिपा हुआ है; क्योंकि तुम उससे हजार कपट करते हो और उसने तो तुमसे एक ही कपट कर रखा है–तुम्हारे हृदयमें रहते हुए तुमसे छिपा हुआ है। तत् प्रसाद माने 'नैर्मल्य' जहाँ मायाका परदा फाड़कर वह प्रकट हो जाये वहाँ प्रसन्नता ही प्रसन्नता है, शान्ति-ही-शान्ति है। आप गीताके इस सिद्धान्तपर ध्यान दीजिये–

मच्चिता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।
(10.9-10)

ईश्वरके चरणोंमें यह समर्पण है–दुनियाका सब मेरा नहीं ईश्वरका है–यह धन मेरा नहीं, ईश्वरका है; यह हाथी, घोड़ा, मोटर, मकान मेरा नहीं ईश्वरका है; यह शरीर मेरा नहीं ईश्वरका है; इस प्रकार आप देखो। मोह-ममताके परित्यागका एक दृष्टिकोण यह है कि प्राकृत वस्तुएँ नश्वर हैं और दूसरा दृष्टिकोण यह है कि ये सब वस्तुएँ ईश्वरकी हैं हमारी नहीं हैं।

एक तीसरा दृष्टिकोण देखो–आत्माका स्वरूप असंग है: 'असंगो न हि सज्जते'। कितनी चीजें दुनियामें आयीं और कितनी गयीं और यह तो असंग चेतन, ज्यों-का-त्यों है–यह वैराग्यकी बात नहीं है, आप जरा ध्यान देना! प्राकृत वस्तुओंके दोषका विचार करनेसे उनसे वैराग्य होता है और ईश्वरके प्रति ममता समर्पित कर देनेसे भक्ति होती है और अपने स्वरूपका विचार करनेसे असंगता होती है–ये तीनों साधन हैं। किस बातके साधन हैं? मोह और ममताकी निवृत्तिके साधन हैं।

अब एक बात बीचमें आपको सुनाते हैं–असंगता और योग-की समाधि–इसमें भी फर्क है। समाधि एक अवस्था है, समाधि पूरा योग नहीं है! समाधि ही योग है यह बात तो वे लोग कहते हैं जिन्होंने योगदर्शनका ठीक-ठीक स्वाध्याय नहीं किया है। मैं आपको योगदर्शनकी दृष्टिसे ही बताता हूँ–समाधि योगका अंग है। आपको यदि वह सूत्र याद हो तो आप उसको एक बार दुहरा लेना:

यम - नियम - आसन - प्राणायाम - प्रत्याहार - धारणा - ध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि (योगदर्शन 2.29)

योगके ये आठ अंग हैं, अंग अंगी नहीं हुआ करता। तो समाधिमें जो मोह-ममता छूटती है वह तो वहाँ वस्तुका मान नहीं होनेसे है–वहाँ हाथी नहीं दीखता, घोड़ा नहीं दीखता, वहाँ मोटर नहीं दीखती, वहाँ स्त्री-पुत्र-मकान नहीं होता इसलिए मोह-ममता नहीं रहती है। परन्तु असंगता वह चीज है कि वस्तु तो मालूम पड़ती रहे और उससे आसक्ति न हो। देखो पहले समाधिसे अंसगताको अलग करके दिखाया। अब निवृत्तिसे भी असंगता अलग है। यह बताते हैं। निवृत्ति क्या है? जो सम्पूर्ण वेदोक्त कर्म हैं उनसे संन्यास लेकर शिखा-सूत्रका परित्याग करके एकान्तमें रहते हैं, और आत्म-चिन्तन करते हैं–उसका नाम निवृत्ति होता है। संन्यासीका मुख्य धर्म निवृत्ति है और योगीकी एक खास अवस्था समाधि है। यदि आप निवृत्त होकर असंग होते हैं तो वह गीताकी असंगता नहीं है, यदि आप समाधि लगाकर असंग होते हैं तो वह गीताकी असंगता नहीं है। गीताकी असंगता है कि आप रहें भीड़में और आप करें काम और काम करते हुए भी और भीड़में रहते हुए भी आपके अन्दर असंगता रहे।

अब ईश्वरके प्रति समर्पणकी दृष्टिसे असंगता देखो–

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।

(12.6-8)

प्रकृतिके स्वरूपपर विचार करनेपर मोह-ममताका न होना और यह समग्र विश्व-सृष्टिको चाहे चर हो चाहे अचर, चाहे वस्तु हो, चाहे व्यक्ति उसको भगवान्‌के प्रति समर्पित कर देनेपर असंगता हो जाना अथवा अपने स्वरूपके विवेकसे असंगता हो जाना–ऐसा है यह असंगताका स्वरूप। जैसे शरीरमें तेल लगाकर मल्लाह लोग पानी में घुसते हैं तो पानी उनके शरीरमें प्रवेश नहीं करता है और जैसे कमल जलमें रहता है और कमलपर जलका असर नहीं पड़ता है, ऐसे ही अपने आत्माका संसारमें इस प्रकार रहना कि कहीं भी आसक्ति नहीं हो–असंगता है। तो असंग आत्माका जो स्वरूप है उसको देखो। द्रष्टा द्रष्टा ही है, साक्षी साक्षी ही है, चेतन चेतन ही है। वह कभी जड़के साथ सम्पृक्त नहीं होता, उसका संसर्ग नहीं होता, अनात्माके साथ आत्मा कभी सम्पृक्त नहीं होता, कहीं तृप्त नहीं होता, उसका मैं-मेरा नहीं होता, वह रहता है ज्यों-का-त्यों कितने आये और कितने गये–असंग हैं! 'साक्षी आत्मा असंगो नैव सज्जते!'

गीतामें समाधि लगा करके असंग होना या निवृत्त होकर असंग होना नहीं, लोक-व्यवहारमें रहते हुए असंग होना बताया है। इस प्रकार प्रकृतिके स्वभावको जानकर या परमेश्वरको अर्पित करके या अपनी स्वरूपगत

असंगताको जानकर असंग होना–ये तीन दृष्टिकोण गीताने दिया। यह मैं बार-बार जो दोहरा रहा हूँ जान-बूझकर दोहरा रहा हूँ–बातको पक्की करनेके लिए। एक चौथी बात और है वह तो बस आप देखेंगे! इसमें एक बात आपको और सुना देता हूँ–यह सृष्टि प्रत्यक्ष है इन्द्रियोंके साथ यन्त्रको जोड़कर हम इसके स्वरूपको देख सकते हैं। विज्ञान सहकृत-ऐन्द्रियक-ज्ञान प्रकृतिके रहस्यको विश्लिष्ट करके, अलग-अलग करके दिखा देता है। इन्द्रियोंके द्वारा यह जो दुनिया दीख रही है, इसको यदि आप मशीन लगाकर समझना चाहें तो ये मशीनें इसको बिल्कुल कण-कण करके रख देंगी, अणु-अणु करके रख देंगी, परमाणु-परमाणु करके रख देगीं, इसकी सारी पोल-पट्टी आपके सामने खोल देंगी। यह मेज जो आप देख रहे हैं–यदि इसे आप सूक्ष्म मशीनसे देखेंगे तो मेज नामकी कोई चीज आपको नहीं दिखेगी। यदि तीव्र गतिसे एक बाण छोड़ा जाय तो वह मेजके पार निकल जाय, पर मेजमें कोई छेद नहीं हो ऐसी वैज्ञानिक प्रक्रियाका भी अविष्कार हो चुका है। यन्त्रके द्वारा इस मेजके परमाणुओंको इतने जोरसे घुमाया जा सकता है कि मेज नामकी कोई वस्तु दिखायी न पड़े। जैसे विज्ञान-सहकृत-ऐन्द्रियक-ज्ञान प्रकृतिके रहस्यको भेदनेमें समर्थ है वैसे ही श्रद्धा-सहकृत-विज्ञान जो है वह परोक्ष ईश्वरके स्वरूपको अपने हृदयमें बैठानेमें समर्थ है। क्योंकि ईश्वर परोक्ष है, वह न ऐन्द्रियक है, न मानस है, और न यान्त्रिक है, उसमें श्रद्धाकी आवश्यकता पड़ती है और श्रद्धा-सहकृत-ईश्वर-विषयक जो विचार है वह विचार सबको ईश्वरके प्रति समर्पित करवा देता है; और इसी प्रकार अन्तर्मुखता-सहकृत जो आत्म-विवेक है वह आपको सृष्टिमें असंग कर देता है। श्रद्धा सहकृत जो विवेक है उसका नाम है भक्ति और अन्तर्मुखता सहकृत जो विवेक है उसका नाम है असंगता और श्रद्धा और अन्तर्मुखतासे रहित जो द्रव्य-विवेक है उसका नाम है–विज्ञान। न उसमें श्रद्धा करनेकी जरूरत है, न अन्तर्मुख होनेकी जरूरत है, पर एक बात आपको प्रसंगवश और सुना देता हूँ–हमारे पास एक सज्जन आये थे जो पिलानीमें अध्ययन कर रहे हैं। वे एक ग्रन्थ लिख रहे हैं–जैसे थीसिस लिखते हैं, वैसे। तो वे क्या लिख रहे हैं कि उनका कहना है कि जैसे परमार्थके ज्ञानके लिए शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधानकी जरूरत पड़ती है वैसे विज्ञानमें भी किसी तत्त्वके अनुसन्धानके लिए शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधानकी जरूरत पड़ती है। यह आपकी जानकारीके लिए सुनाते हैं–जबतक मन शान्त नहीं होगा, इन्द्रियाँ दान्त नहीं होगी, दूसरे कर्मोंसे उपराम नहीं होंगे, कुछ कष्ट सहन नहीं करेंगे, श्रद्धा नहीं करेंगे और चित्तको एकाग्र करके उसी विषयमें नहीं लगावेंगे तबतक हमको वैज्ञानिक तत्त्वानुसन्धानमें भी सफलता नहीं मिल सकती। उसमें अन्तर इतना ही है कि बाह्य वस्तुओंके अनुसन्धानके लिए तात्कालिक षट् सम्पत्तिकी जरूरत पड़ेगी और शाश्वत-तत्त्वके अनुसन्धानके लिए स्थिर षट्-सम्पत्ति की आवश्यकता पड़ेगी; परन्तु बिना षट्-सम्पत्तिके मन शान्त न हो, इन्द्रियाँ सधी हुई न हों, दूसरे कर्मोंसे उपराम न हों, कष्ट सहन न करें, तो तत्त्वका ज्ञान कैसे होगा? तो अभी आपको तीन विभाग सुनाया–हमारे एन्द्रिक ज्ञानको हम यन्त्रोंके द्वारा बढ़ाकर अदृश्य वस्तुओंको भी संसारमें देख सकते हैं और श्रद्धाके द्वारा विवेक करके हम ईश्वरमयी सृष्टिको जान सकते हैं–सृष्टिके अन्तर्यामी अभिन्न-निमित्तोपादान कारण, सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, परम चेतनकी श्रद्धाके द्वारा उसकी भक्ति करके उसमें तन्मय हो सकते हैं और अन्तर्मुखता-युक्त विवेकके द्वारा असंग हो सकते हैं। अब देखो-प्रत्यक्ष है दीखना, परोक्ष है ईश्वर और अपरोक्ष है अपना आत्मा–यह तीन विवेक हुआ, अभी चौथा विवेक जो है वह रह गया। असलमें श्रद्धा-युक्त-विवेक और भक्ति एक ही चीज है–भक्ति माने विवेक ही होता है, परोक्ष वस्तुके विवेकका नाम भक्ति है और अपरोक्ष वस्तुके विवेकका नाम विवेक है, विचारका नाम विवेक है।

अब एक अद्‌भुत वस्तु गीता आपके सामने रखती है जिसमें मोह-ममता, शोक-मोहका आत्यन्तिक संहार हो जाता है; वही उपनिषद्‌का सार है जिसको हमने अन्तर्मुख-सहकृत-विवेकके द्वारा अपरोक्ष आत्माके रूपमें साक्षात्कार किया और जिसको श्रद्धा-भक्ति पुरस्सर विवेकके द्वारा ईश्वरके रूपमें जानकर उसके साथ तन्मय हो गये, वे दोनों एक ही हैं। एक प्रत्यक्षके उस पार (ईश्वर) और एक प्रत्यक्षके इस पार (आत्मा) और बीचमें यह प्रत्यक्षकी उपाधि है जो इस पार और उस पारका भेद बनाती है! दृष्टिकी प्रधानतासे देखें तो प्रत्यक्ष वस्तु ईश्वरकी सृष्टि है; लेकिन जो ईश्वर

सृष्टिके परे रहकर सृटि कर रहा है और जो आत्मा सृष्टिसे परे रहकर सृष्टिको देख रहा है वे दोनों तत्त्वतः एक ही वस्तु हैं। गीताने यह उपस्थापन किया कि–

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।।
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।

(6.30-32)

आप ध्यान देना प्रत्यक्ष क्या है? जिसको हमने पहले प्रत्यक्ष कहा, वह है–सर्वभूत। सर्वभूत दृश्य है और ईश्वरसे उर्ला है और हमारी आँखोंके सामने है–और सर्वभूतमें अनुस्यूत कौन है कि 'माम्'–'परमेश्वर यो मां पश्यति सर्वत्र'।

'तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति'–यदि आप सबमें ईश्वर और सबको ईश्वरमें देखने लगेंगे तो ईश्वरका लोप आपके सामनेसे कभी नहीं होगा–यही परोक्ष ईश्वरका लक्षण है कि वह सबमें है और उसमें सब है। अब जरा आत्माका लक्षण देखो–सर्वभूत वही है–

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। (6.29)

आत्मामें सर्वभूत है और सर्वभूतमें आत्मा है–जो ईश्वरका लक्षण है वही आत्माका लक्षण है। इसका अर्थ यह हुआ कि जगत्की दृष्टिसे समष्टिकर्ता, सर्वज्ञ, सर्वेश्वरके रूपमें हम जिस परमेश्वरको सृष्टिसे परे मानते हैं और इस सृष्टिके द्रष्टाके रूपमें अपनी दृष्टिमें सर्वत्र जगत्को लिये हुए जो हम हैं, वे दोनों एक हैं–हम सृष्टिमें और सृष्टि हममें और सृष्टि ईश्वरमें और ईश्वर सृष्टिमें। इसका अर्थ यह हुआ–सृष्टि तो हुई प्रत्यक्ष सर्वभूत और परोक्ष ईश्वर और अपरोक्ष आत्मा ये दोनों दो नहीं हैं, बिलकुल एक हैं! तो यह बात कहाँसे आयी कि यह 'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति' है। जो 'माम्' ईश्वर है वही 'सर्वभूतस्थमात्मानम्'में आत्मा है, दोनोंका एकत्व है : भजत्येकत्वमास्थितः। 'एकत्व' माने वही आत्मा है, जो माम् है सो आत्मा है, जो आत्मा है सो माम् है, दोनोंमें एकत्व है, यह तत्त्वमसि महावाक्यका अर्थ हुआ–'यो माम् पश्यति सर्वत्र' यह तत् पदार्थ है और 'सर्वभूतस्थ-मात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' यह त्वम् पदार्थ है और 'सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः' यह असि पदार्थ है।

अब देखो गीताने एक चौथाई बात प्रस्तुत की कि ईश्वरसे जगत् अलग नहीं है और चूँकि आत्मा और ईश्वर दोनों एक हैं, इसलिए आत्मासे जगत्के अलग अस्तित्वका कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।

(9.4-5)

पहले बताया 'यो माम् पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति', 'सर्वत्र मयि पश्यति' क्या है तो कहा कि 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' सब भूत मुझमें स्थित हैं। फिर कहा–'न च मत्स्थानि भूतानि' भूत मुझमें स्थित नहीं हैं। यह कब होगा कि जब आत्मा और ईश्वर दोनों एक हो जायेंगे। अब लो महाराज! ईश्वर कृपासे यह चतुर्थ दृष्टिकोण है कि दूसरा है ही नहीं तब मोह–ममता किससे? इस तरह चार दृष्टिकोण आपके सामने आये–प्राकृत वस्तुएँ नश्वर हैं। इसलिए मोह–ममता झूठी; ईश्वरकी सृष्टि ईश्वर ही है–ईश्वरमयी है। इसलिए मोह–ममता झूठी; आत्मा द्रष्टा असंग–चैतन्य है, इसलिए मोह–ममता झूठी और प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परब्रह्मके सिवाय, परमात्माके सिवाय, दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है तो मोह–ममता झूठी। आप अर्जुनकी आपत्तियोंपर ध्यान दो–

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्' स्वजनको देख करके मोह–ममताका उदय हुआ–

'सीदन्ति मम् गात्राणि' सीदन्तिका अर्थ है–फट रहा है हमारा शरीर 'मुखं च परिशुष्यति'–मुँह सूख रहा है, प्यास लग रही है बार–बार 'वेपथुश्च' शरीरमें 'रोमहर्षश्च जायते'–कँपकँपी हो रही है शरीरमें रोएँ खड़े हो रहे हैं। ये सब बुखारके लक्षण हैं कि नहीं? 'गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते' अब? 'न च शक्नोम्यवस्थातुं' स्थिरता बिल्कुल नहीं है 'भ्रमतीव च मे

मनः'—मनमें भ्रान्ति है और 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे'—श्रेयस्कर भी नहीं है। अर्जुनका जो यह ख्याल था वह मोह–ममताके कारण हुआ था कि यह सृष्टि मेरी! भगवान् सारी गीता में यह बात समझाते हैं कि यह सृष्टि प्रकृतिकी है तब भी तुम्हारी नहीं; ईश्वरकी है तब भी तुम्हारी नहीं; तुम असंग आत्मा हो तब भी तुम्हारी नहीं और अद्वितीय ब्रह्म यदि परमार्थ सत्य है और सचमुच वही परमार्थ सत्य है तो फिर यह सृष्टि ही नहीं, तो फिर मोह–ममता कैसी? इसका अर्थ यह हुआ कि यहाँ व्यवहार नहीं काटा गया, यहाँ जगत नहीं काटा गया—गीताका उपदेश आपके मनमें जो दोष है, बुद्धिमें जो भ्रम है उसको मिटा देता है; आपके चित्तमें जो स्थिति नहीं विक्षेप है उसको दूर कर देता है—आपके मनमें जो मोह–ममता है उसको मिटा देता है और आपके जीवनमें जो धर्मच्युति है उसको मिटा देता है।

इसको मैं फिरसे दोहरा देता हूँ। गीता हमारे जीवनका संस्कार चार तरहसे करती है—हमारे स्थूल शरीरके लिए धर्मच्युति मिटाती है; हमारे अन्तःकरणसे, मनसे मोह–ममता मिटाती है, हमारे कारण शरीरमें-से अस्थिरता, अनिष्ठा, अस्थितिको मिटाती है और अपने स्वरूपमें हमें यह जो भ्रम भास रहा है, इस भ्रमको मिटाती है। इस तरह गीता एक संस्कार लेकरके हमारे जीवनको सँवारनेके लिए हमारे जीवनमें आयी। भ्रमके कारण हम गन्दे हो जाते हैं अस्थिरताके कारण हम गन्दे हो जाते हैं, मोह–भमताके कारण हम गन्दे हो जाते हैं; धर्म-भ्रष्ट होनेके कारण हम गन्दे हो जाते हैं, तो हमारी यह गन्दगी मिटानेके लिए गीता माता—जैसे एक माँ बच्चेको उबटन लगाती है, तेल–फुलेल लगाती है, उसको कपड़े पहनाती है, उसके बालोंको सँवारती है, उसको बिन्दी लगाती है, और उसको साफ-सुथरा करके सुन्दर बनाती है—वैसे यह गीता माता हमारे जीवनको सुन्दर, परम सुन्दर बनानेके लिए हमारे जीवनके दोष–दुर्गुणोंको, दुश्चरित्रोंको मिटानेके लिए यह गीता माता आयी है!

प्रवचन : 5

कर्म-दोष एवं भाव-दोषको मिटानेके उपाय

आज पहले हम आपको यह बताते हैं कि जीवनमें जितने भी दुःख होते हैं वे किसी–न–किसी दोषसे होते हैं। अर्थात् दुःखकी उत्पत्ति दोषसे होती है और दोषसे होते हैं चार प्रकारके—देहाभिनिवेश–मूलक, राग–द्वेष मूलक, अस्मिता–मूलक और अविद्या–मूलक।

देहाभिनिवेश–मूलक जो दोष होते हैं उनमें देहमें (मैं)का अत्यन्त प्रवेश—प्रवेश ही नहीं निवेश—होता है। निवेश शब्दका अर्थ संस्कृतमें होता है—सोना, जैसे आप घरमें प्रवेश करें तो प्रविशति बोलते हैं, वैसे आप अपने घरमें सोवें तो निविशति बोलते हैं।

देखो, एकही 'वश्' धातु है पर प्रवेशमें यह परस्मैपदी है और निवेशमें आत्मनेपदी है—व्याकरणकी यह सूझ देखो—जब हम सोते हैं तब अपने लिए अपनेमें सोते हैं, इसलिए, 'वश्' धातुके साथ आत्मनेपदी कर दिया—निविशति। और जब हम प्रवेश करते हैं तब उसमें दूसरेका उपकार, दूसरेके साथ सम्बन्ध भी होता है इसलिए उसको परस्मैपदी—'प्रविशति' कर दिया। तो, देहमें क्या हुआ कि निवेश हुआ—अभिनिवेश हुआ—पूरी तरहसे सो गये, माने देहको ही मैं मान लिया, जिसके कारण जीवनमें अनेक दोष आ गये और इन दोषोंके कारण ही मनुष्यको दुःख होता है।

अब जरा इसपर विचार करें कि इसके कारण हमारे जीवनमें क्या–क्या दोष आते हैं। देहमें अभिनिवेश हो जानेके कारण हम 'देहका आराम ही सब कुछ है'—ऐसा समझने लगते हैं और कर्मसे हमारी अप्रवृत्ति हो जाती है तथा अप्रवृत्ति हो जानेसे हमारे जीवनमें निद्रा, आलस्य और प्रमाद आ जाते हैं और मनुष्य तमोगुणी हो जाता है! माने यह देह ही 'मैं' हो गया; इसलिए देहके आरामको ही सबसे बड़ी चीज समझने लगा और इन देहको नींदमें, आलस्यमें, प्रमादमें ही रखने लगा। नींद तो आप जानते ही हैं—इसमें बेहोशी है। आलस्य और प्रमादमें थोड़ा अन्तर होता है। प्रमादमें ऐसा होता है कि समयपर अपने कर्तव्यकी स्फुरता ही नहीं होती और आलस्यमें ऐसा होता है

कि कर्तव्यका स्मरण होनेपर भी आलस्य कर जाते हैं कि अब नहीं तब करेंगे। अर्थात् निद्रामें बेहोशी है, प्रमादमें होश होनेपर स्फुरण नहीं है और आलस्यमें स्फुरण होनेपर भी उसकी उपेक्षा है। पर, यह सब किसी भी श्रेयस्‌का साधन नहीं है—निद्रा आपको अन्धकारसे आवृत कर देती है, प्रमाद आपमें एक प्रकारका मतवालापन ला देता है और आलस्य आपको रसहीन, शोभाहीन कर देता है। आलस्यका अर्थ ही है कि आपके जीवनमें कोई रस नहीं है, कोई शोभा नहीं है, अपना कर्तव्य-कर्म पूरा करनेमें जिसको कोई रस नहीं आता उसको आलसी कहते हैं और 'र' और 'ल' दोनोंको एक मानकर उसको ही अरस बोल देते हैं और अलस पुरुषका जो भाव है उसका नाम आलस्य है—अलस्य भावः—शोभाहीन, रसहीन, चेहरेपर रौनक नहीं, दिलमें मजा नहीं, तो इसमें कोई भी काम करनेमें आलस्यका उदय हो जाता है मगर जिसको काम करनेमें मजा आता है वह कभी आलसी नहीं होता। वह तो और, और—अबहूँ और, अबहूँ और ही करता है।

अब! यह जो कर्म-प्रवृत्ति है जीवनमें—इसमें भी कई प्रकारके दोष होते है जिनमें हमें सावधान रहना चाहिए—साधु सावधान! एक तो कर्म करनेवाला जो संग्रह करता है, जो वस्तु अपने पास इकट्ठी करता है, वह कैसे करता है इसका ध्यान रखना! जैसे कि यह पुस्तक अपने पास लानी है तो हाथसे उठाकर ही इसे हम अपने पास लाते हैं, क्योंकि यह दूसरी चीज है और इसको अपने पास लाना है, इसलिए यदि उसको लानेमें हमारा कोई दोष होगा तो वह चीज आकर हमारे लिए दुःखकी सृष्टि करेगी। इसके लिए हमारे शास्त्रमें तीन बातें आती हैं—'परस्य पीड्या लब्धम्'—जो धन दूसरेको तकलीफ पहुँचाकर अपने घरमें आता है—'एक धर्मस्योल्लंघनेन च'—दो, और अपना अपमान करके अथवा शत्रुके सामने सिर झुकानेसे जो वस्तु हमें प्राप्त होती है—तीन—हमारे शास्त्र कहते हैं कि ऐसा धन हमारे घरमें कभी न आये।

आप देखो कि धनमें दोषका समावेश कब हुआ कि जब आपने धनके लिए दूसरोको दुःख पहुँचाया, जब धनकी प्राप्तिके लिए धर्मका उल्लंघन किया और जब धनकी प्राप्तिके लिए अपने आत्म-सम्मानको ठेस पहुँचायी, अपना अपमान किया। दूसरोंको दुःख पहुँचाना, धर्मका उल्लंघन करना और अपना अपमान करना—ये तीनों दोष हैं। आपके घरमें यदि कोई चीज आयी और उसको लानेमें उसके साथ यदि ये दोष आये तो आप निश्चित समझिये कि ये आपके घरमें दुःख ही लायेंगे। अब वह दुःख आज लायेंगे कि कल लायेंगे कि छह महीने बाद कि दस वर्ष बाद लायेंगे—यह ईश्वरके बही-खातेका हिसाब जरा लम्बा है, ठीक नहीं है, पर लायेंगे जरूर। यहाँ तक कि पहले अन्यायोपार्जित धन बहुत बढ़ता है पर, पीछे 'समूलं च—विनष्टयति'—स्वयं नष्ट हो जाता है इतना ही नहीं, लानेवालेको भी विनाशके कगार पर पहुँचा देता है, समूल नष्ट कर देता है। इसलिए, कर्म-शुद्धिमें पहली बात ध्यान देनेकी यह है कि जो वस्तु हमारे घरमें आ रही है वह पर-पीड़ासे, अन्यायसे अथवा तिरस्कार करके नहीं लायी जा रही है।

अब दूसरी बात सुनो—आयी हुई वस्तुका अपने जीवनमें उपभोग होता है और आप देखें कि जिस वस्तुका उपभोग हम करते हैं उसको लानेमें तो कर्म होता ही है, उपभोगमें भी कर्म होता है! लोग कहते हैं—भोग प्रारब्धसे मिलता है! वे प्रारब्धका नाम तो लेते हैं पर, प्रारब्धके सम्बन्धमें कभी विचार नहीं करते—कर्मके सम्बन्धके बिना प्रारब्ध चरितार्थ नहीं हो सकता। मान लें कि आपकी जीभको स्वाद मिलता है और आपके मनको उस स्वादसे खुश होना है—यह प्रारब्धका भोग आपके लिए आ रहा है, परन्तु यह जो स्वाद देनेवाली वस्तु है उसको आप हाथसे उठायेंगे, अपने मुँहमें डालेंगे तो ही जीभपर स्वाद आयेगा और इस स्वादको ही भोग बोलते हैं! परन्तु, इस स्वाद-संविद्‌को जगावे और उस वस्तुकी जरूरत पड़ी तो जीभपर जाकर स्वादको जगावे और उस वस्तुको जीभपर पहुँचानेके लिए हाथकी जरूरत पड़ी और स्वाद लेनेके लिए मुँह चलानेकी जरूरत पड़ी—यह सब कर्म करना पड़ा—माने बिना कर्म-सम्बन्धके प्रारब्ध नहीं जगेगा। प्रारब्धको जगानेके लिए द्रव्य-सम्बन्ध और कर्म-सम्बन्ध आवश्यक होते हैं।

प्रारब्ध तो भोग-मात्र है, कर्मका नाम प्रारब्ध नहीं है। अब देखो, जब आप बेईमानीसे किसी दूसरेको चीज उठाकर अपने मुँहमें डाल लोगे तो ठीक है जो स्वाद आया आपको वह आपका भोग है, परन्तु जिस हाथसे आपने

बेईमानीकी चीज उठायी उसमें पाप आ गया, उसमें दोष आ गया। तो भोग आपको कौन-सा प्राप्त होना चाहिए कि जो धर्म-मर्यादासे प्राप्त हो!

अब जरा आप धर्म-मर्यादाकी ओर ध्यान दें। धर्म-मर्यादा वह नहीं होती जो दुनियाभर लोग अपने मनसे सोचते हैं, इसमें भी सीखनेकी जरूरत होती है। जहाँ अनुशासन नहीं है वहाँ धर्मकी उत्पत्ति नहीं होती—यह हमारा धर्मसम्बन्धी निर्णय है और यह निर्णय बहुत सोच-विचारकर हमारे महापुरुषोंने निकाला!

देखो, एक सैनिक सेनापति आज्ञासे सामनेवाले आदमीको बन्दूकसे मार देता है, परन्तु, वहाँ पापकी उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि वह एक अनुशासनमें स्थित है—एक राज्यकी मर्यादा है, एक सेनापति उसके ऊपर है और उसकी आज्ञाके अनुसार वह बन्दूक चलाता है और उसे मारता है। मारनेकी क्रिया बुरी है, बन्दूक चलाना अधर्म है, परन्तु अनुशासनसे बद्ध होनेके कारण उसमें कोई पाप नहीं है, कोई दोष नहीं है, कोई अधर्म नहीं है। परन्तु एक आदमी यदि सामनेवाले आदमीको लाठी भी मारता है तो उसका वह लाठी मारना भी बुरा काम हो जाता है, अधर्म हो जाता है, पाप हो जाता है, क्योंकि वह लाठी अपनी वासनाके अनुसार मारता है। तो, इसका क्या अर्थ हुआ कि वासनानुसारी जो कर्म होता है वह अधर्म होता है। अब आप बताइये, क्या आप अपनी वासनाके अनुसार कर्म करते हैं या कि किसी शासनमें आबद्ध होकर कर्म करते हैं? जहाँ शासन होता है वहाँ इन्द्रियाँ काबूमें होती हैं, मन काबूमें होता है—किसी भोगको हम उच्छृङ्खलतासे धर्मकी मर्यादा तोड़कर नहीं प्राप्त करते हैं, अनुशासनके अनुसार प्राप्त करते हैं। हमारे कर्ममें पवित्रता लानेके लिए हमारे जीवनमें अनुशासन होना चाहिए! हम लोग भले ही प्रारब्धके अनुसार करें, परन्तु उसे भोगनेके लिए शरीरको जो क्रिया करनी पड़ती है वह धर्मानुशासनसे आबद्ध होनी चाहिए—हाथ गन्दी अथवा परायी चीजको उठाकर मुँहमें न डाले—इसका हमें ध्यान रखना होगा।

यह धर्माधर्म हाथोंमें-से निकलेगा! यह सब आपको इसलिए सुनाया कि पहले तो कर्मसे अप्रवृत्ति ही दोष है और कर्ममें प्रवृत्ति होनेपर वासनानुसार कर्म दोष हैं! कर्ममें प्रवृत्ति होनेपर, कर्म करनेकी यह रीति है कि वासनाके अनुसार कर्म, भोग और भाषण नहीं होना चाहिए, शासनानुसार होना चाहिए! शासनानुसार कर्म होनेसे कर्मके दोष निवृत्त हो जायेंगे। और यदि कदाचित् आपके कर्ममें दोष रहा तो वह दोषमुक्त कर्म आपके लिए दुःख लेकर आवेगा। जैसे रूईमें आग लग जानेसे वह नष्ट हो जाती है ऐसे ही अन्यायोपार्जित धन भी नष्ट हो जाता है। एक आदमी एक दिन दुःखी हो रहा था; क्योंकि उसके पाँच रुपये चले गये थे। पाँच रुपयेमें आपको दुःख न होता हो तो आप उसको पाँच हजार कर दीजिये, पाँच लाख कर दीजिये, पाँच करोड़ कर दीजिये—वह दुःखी हो रहा था कि उसके पाँच रुपये चले गये थे। किसीने पूछा उससे कि तुम्हारे पास रुपये आये कहाँसे थे? वह बोला! वह तो मैंने किसीका बेईमानीसे ले लिया था। स्वयं कभी बेईमानीसे ले लिया था और अब जानेसे रो रहा है—देखिये आप! उसका वह रोना आज नहीं आया। उसके घरमें, जिस दिन वह बेईमानीका पाँच रुपया आया उसी दिन यह रोना, यह दुःख भी घरमें आ गया! दोष ही दुःख देता है।

गीताके मतमें मनुष्यके मनमें जो कर्मके प्रति अप्रवृत्ति है वह तामसी है। जो नींद लेकर सुख मानता है वह प्रमादमें सुख मानता है, जो आलस्यमें सुख मानता है वह तामसी सुखमें फँसा हुआ है! गीताके मतमें कर्म करना आवश्यक है और इस बातमें हम अपने जीवनका जो पहला स्तर है वहाँसे प्रवेश करते हैं। हम दोषोंका चार विभाग कर देते हैं— बुद्धिके दोष, भावके दोष, और कर्मके दोष। बुद्धिका दोष-बुद्धि-दोष है—भ्रान्ति, अहंका दोष है - अस्मिता; भावका दोष है—राग-द्वेष और कर्मके जो दोष हैं—वह भी आपको बताते हैं।

पहली बात यह है कि कर्मसे अप्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए—कर्मसे कभी भागना नहीं, अपने हिस्सेका जो कर्म है वह अवश्य करना। फिर बोले कि आओ भाई, हम ऐसा निश्चय कर लें कि हम कर्म करेंगे ही नहीं। तो 'कर्म करेंगे ही नहीं'—इससे आपको नैष्कर्म्यकी प्राप्ति नहीं होगी। एक आदमीने कहा कि हम चौबीस घण्टे पलंगसे उठेंगे नहीं और नींद खूब अच्छी आनी चाहिए तो भाई, कोई दवा लेकर सो जाओ तो बात दूसरी है, पर यों यदि आप चौबीस घण्टे पलंगपर पड़े रहेंगे तो आपको अच्छी नींद कहाँसे आयेगी? अच्छी नींद तो तब आवेगी ना जब आप पलंगपरसे उठोगे कुछ घूमोगे, कुछ टहलोगे, कुछ श्रम करोगे।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यम् पुरुषोऽश्नुते। (3.4)

यदि कर्म करोगे ही नहीं तो नैष्कर्म्यकी प्राप्ति नहीं होगी। कर्म करनेपर ही नैष्कर्म्य प्राप्त होता है, कर्म न करनेपर नैष्कर्म्य प्राप्त नहीं होता; यह बात आपके ध्यानमें आ जानी चाहिए। दुनियामें चित्र-विचित्र प्रकारके लोग मिलते हैं। एकने जाकर एक महात्मासे कहा कि हमको भगवान्‌की प्राप्ति होनी चाहिए, भगवान् आकर हमें दर्शन दें। महात्माने कहा कि देखो भाई, भगवान् दर्शन तब देंगे जब तुम यह अनुभव करोगे कि अब इससे ज्यादा हम कुछ नहीं कर सकते, तब ईश्वर कृपा करके तुम्हें दर्शन देंगे। अब महाराज वह आकर बैठ गया और बोला कि हम तो कुछ नहीं कर सकते हैं और हमारे किये होगा भी क्या? माने जो कर सकता था वह सब कुछ उसने नहीं किया और आसमानकी ओर देखे कि ईश्वर हमको दर्शन देने आ रहे हैं कि नहीं! महात्माने डाँटा—पहले कुछ कर। क्या करें महाराज? कि अन्तःकरणशुद्धिके लिए पहले चौबीस लाख गायत्रीका जप कर और अपने इष्टदेवका जितना ध्यान, जितना जप, पुरश्चरण, जितना अनुष्ठान कर सकता है उतना कर और फिर करते-करते-करते थक जाय कि बस, इससे ज्यादा अब नहीं होता—तो यह ज्यादा नहीं होता—निराश होकर नहीं; करके जब थक जायेगा कि अब नहीं होता तब ईश्वर कृपा करके दर्शन देंगे।

हमारी 16-17 वर्षकी उम्र थी, मैं स्वामी श्रीयोगानन्दपुरी जो परमहंस श्रीरामकृष्णके शिष्य स्वामीश्री नित्यानन्दजीके शिष्य थे उनके पास गया। उन्होंने पूछा—गायत्री दीक्षा ली है? गायत्रीका अनुष्ठान किया है? मैंने बताया कि नहीं किया है। तो बोले—करो गायत्रीका 24 लाख जप। फिर बोले—श्रीकृष्ण मन्त्रकी दीक्षा लो—इसका अनुष्ठान करो। एक अनुष्ठान नहीं, दो अनुष्ठान नहीं, तीन अनुष्ठान नहीं, चार अनुष्ठान नहीं—चतुर्गुण-चार गुणा किया। आपको सुनाते हैं—कर्म कैसे ईश्वरके प्रसादको लाता है! सबेरे बैठे भजन करने, सात बजे उठे; नित्यकर्म किया, फिर साढ़े आठ बजे बैठ गये और साढ़े ग्यारह बजे उठे; फिर भोजन किया, और थोड़ा विश्राम करके, और थोड़ा विश्राम करके दो बजे बैठ गये और पाँच बजे तक भजन किया! मगर सपना भी नहीं आया भगवान्‌का! यह नहीं होता कि—

चोरी करें निहाय की करें सूई को दान।
ऊँचे चढ़कर देखते कित्ती दूर विमान।।

दो चार माला फेर ली और बोले कि हमने इतना किया, इतना तो करते हैं—फिर भगवान् क्यों नहीं आये? एकने हमसे कल कि परसों ही कहा कि महाराज, इतना तो करते हैं कबतक करते रहेंगे? भगवान्‌के आनेमें कितनी देर लगेगी! मैंने कहा कि भाई, तुम्हारे भावमें भगवान्‌को पानेकी जल्दी नहीं है, यह तो इसकी जल्दी है कि हम इस झगड़ेसे कब छूट जायें! तुम ऐसे क्यों नहीं कहते कि जबतक भगवान् नहीं मिलेंगे तबतक, हम यही करते रहेंगे।

जन्म कोटि लगि रगर हमारी।
बरउँ संभु न तउँ रह कुआरी।। मानस 1.81.6

ऐसा तुम्हारे मनमें क्यों नहीं आता? बोले कि महाराज, जरा जल्दी है, जरा दुकानका काम शुरू करना है। भगवान् पहले मिल जाते तब दुकानका काम शुरू करते; तो ऐसे थोड़े ही होता है। यह आपको एक बात सुनायी। हमारा क्या हुआ, हम अपना भी आपको सुना देते हैं। जब कुछ नहीं मिला, अनुष्ठान सब पूरे हो गये तो गंगा स्नान करने लगा। वहाँ माला किनारेपर रखकर जब गंगा-स्नान करने गया तब एक कौआ हमारी माला उठा ले गया और उसने उसको गंगाजीमें डाल दिया। मैंने कहा—खतम, बस! कौआ राम माला ले गये, ले जाकर गंगाजीमें डाल दी तो बस हम जप नहीं करेंगे। फिर अपने मनमें आया—कि हम बड़े पापी हैं, हमारेमें बहुत दोष हैं, हमको भगवान् कैसे मिलेंगे, चलो अब भागकर, घर छोड़कर हिमालय चले जायें। भगे घरसे। तो जब भगे घरसे तो पच्चीस मील चलते-चलते पकड़ लिए गये—नंगा पाँव, नंगा सिर। गाँवके भाई साथमें लौटा ले आये पकड़कर और लाकर हमें सिनेमा भी दिखाया। अब रोना आये। दूसरे दिन कमरा बन्द करके वह रोया, वह रोया, वह रोया, कि अब इस जन्ममें ईश्वरकी प्राप्ति नहीं होगी—जान-बूझकर साधन-रूपसे नहीं रोया कि रोनेसे भगवान् खुश हो जायेंगे, रोनेमें साधन-बुद्धि नहीं थी, अपना पौरुष नहीं था, रोनेमें अपने अहंका विनाश था। वह रोया, वह रोया कि उसके बाद हमको एक बड़ा अद्‌भुत अनुभव हुआ—वह अनुभव हम आपको नहीं बताते। हमको कहना

यह है कि यदि आप बिना किये ही मान बैठेंगे कि हम कुछ नहीं कर सकते, सब कुछ भगवान् करें तो यह गलत होगा। सिद्धान्त यह है कि आप जितना कर सकते हैं उतना कीजिये, जहाँ आपका पौरुष समाप्त होता है वहाँसे भगवान्की कृपाका प्रारम्भ होता है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते.....

यदि आप कर्म करेंगे ही नहीं, साधन करेंगे ही नहीं तो नैष्कर्म्यकी प्राप्ति नहीं होगी, आप श्रम करेंगे तो नींद आयेगी, आप उपवास करेंगे तो भूख लगेगी, आप कर्म करेंगे तो कर्मोंके बन्धनसे छूटेंगे–

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।। (3.4)

केवल संन्यास ले लिया, सब छोड़-छाड़के अलग हो गये– उससे भी सिद्धिकी प्राप्ति नहीं होती। आप कहीं जंगलमें जायेंगे तो अपने इसी मनको ले करके तो जायेंगे, इन्हीं इन्द्रियोंको लेकर तो जायेंगे? एक सेठ रतनगढ़के थे, अपना घर-बार छोड़कर वृन्दावनमें आये। सब छोड़कर भगवान्का भजन करेंगे–ऐसे बोले और जपवाली थैली रख ली हाथमें–एक हाथ उसमें फँसाया। थोड़े दिनोंके बाद क्या हुआ कि उसने और बहुतसे सेठोंको पटाया। बोला–वृन्दावनमें आश्रम बनेगा। अब महाराज–दोपहरमें–बायें हाथमें छाता और दाहिने हाथसे माला-झोली लिये एक गधा, दो गधा, तीन गधा, चार गधा–सैकड़ों गधोंपर ईंटें जो लदकर आतीं थीं वह उनको गिनता। देखकर हँसी आती–भजन करनेके लिए घर-द्वार छोड़कर आये अब ईंट और गधे गिननेमें समय बिता रहे हैं–घरमें नोट-रुपया गिनते थे और वृन्दावनमें ईंट और गधे गिनने लगे। फिर कुछ ही दिनों बाद वे मर गये। अब वह ईंट और गधा और रुपया और मकानकी जो वासना थी, वह वृन्दावनमें आनेपर भी मनमें तो बनी ही रही ना। तो त्याग यह नहीं होता है।

और सुनो, एक संन्यासी गये पेड़के नीचे बैठकर भजन करने। एक कौआ आकर उनके सिरपर बीट कर गया। अब वे लेकर ढेला बैठ गये कि कौएको बैठने ही नहीं देंगे। कौआ आकर बैठे और वे ढेला फेंककर उसे उड़ायें, फिर आकर बैठे, फिर उड़ायें। हुआ यह कि भजन छूट गया और सारा समय कौआ उड़ानेमें बीत गया! तो–

केवल संन्यास लेनेसे, केवल त्याग करनेसे सिद्धिकी प्राप्ति नहीं होती, उसके लिए मनके निर्माणकी जरूरत पड़ती है। तो अपने मनको शुद्ध करनेके लिए कर्म करना आवश्यक है–एक दृष्टिसे नहीं अनेक दृष्टिसे आवश्यक है। आप तीसरा अध्याय देखिये–भगवान्ने करीब बीसके लगभग ऐसी युक्ति दी हैं, बीसके लगभग ऐसे कारण बताये हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यको अपने कर्तव्य कर्मका परित्याग नहीं करना चाहिए, अपने कर्म-दोषको निवृत्त करनेके लिए कर्मका ठीक-ठीक अनुसन्धान, ठीक-ठीक अनुष्ठान करना चाहिए–

नियतं कुरु कर्मत्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीर यात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।। (3.8)

'त्वं'–हे मनुष्य! मनुष्य ही गीताके कर्मका अधिकारी है, यह आप जानते हैं–और गीताकी यह एक विशेषता है। बोले–कि भाई सभी शास्त्रोंमें कर्मका अधिकारी तो मनुष्य ही है–फिर 'गीताके कर्मका अधिकारी मनुष्य है'–यह कहनेमें क्या फायदा, क्या विशेषता? तो इसमें यह विशेष है कि जैसे 'बाजपेय' अथवा 'वृहस्पति सब' करनेका विधान ब्राह्मणके लिए है मनुष्यमात्रके लिए नहीं है; 'राजसूय' करनेका विधान राजाके लिए है मनुष्य मात्रके लिए नहीं है; 'वैश्यस्तोम' करनेका विधान वैश्यके लिए है मनुष्य मात्रके लिए नहीं है वैसे गीतामें नहीं है। गीता सामान्यरूपसे भगवान्के जो पुत्र हैं, सभी मनुष्य उनके लिए है। गीता बताती है कि कर्म करो बेटा। जैसे एक पिता अपने पुत्रको शिक्षा देता है कि बेटा कर्म करो, ठीक वैसे ही परमेश्वर अपने पुत्रोंको शिक्षा देता है-बेटा, कर्म करो। 'नियतं कुरु कर्म त्वम्'।

भगवान् जो शिक्षा देते हैं वह अपनी सब सन्तानोंके लिए एक साथ शिक्षा देते हैं। क्या शिक्षा देते हैं कि नियतं कुरु कर्मत्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः–हे मनुष्य, हे मानव, तूँ निश्चितरूपसे कर्मकर 'नियतं कुरु कर्म त्वं'का दो अर्थ है–'नियतं' यदि क्रिया-विशेषण है तो निश्चित रूपसे कर– इसका यह अर्थ होता है; 'त्वं कर्म नियतं कुरु'; विशेषण है तो अपने लिए जो नियत कर्म हैं वह कर त्वं नियतं कर्म कुरु–तो अर्थ क्या हुआ? कर्म करो–'कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः'–कर्म न करनेसे कर्म करना अच्छा है।

एक बात मैं आपको हृदयकी बड़ी पीड़ाके साथ सुनाता हूँ, अपना पक्षपात लेकर सुनाता हूँ, अपनी वेदना लेकर सुनाता हूँ—यह जो लोग अपना विकार मिटानेके लिए कर्म-संस्कार नहीं मानते या नहीं करते हैं वे लोग सही रास्ते पर नहीं चल रहे हैं। जैसे कि व्यभिचार एक कर्म है, झूठ बोलना एक कर्म है, चोरी करना एक कर्म है और जिस मनुष्यके जीवनमें विकार कर्म-पर्यन्त पहुँच गया है—वह और विकारी-कर्म करते-करते जिसके मनमें विकारोंका संस्कार भर गया है—वह, अगर विकारोंके दोषोंके निवारणके लिए कर्म नहीं करेगा, और बोलेगा कि बाबा, हम तो ईश्वरके भरोसे पड़े हैं, जैसी मौज होगी वैसा वह कर देगा; या हम तो अन्तःकरणको ज्यों-का-त्यों छोड़करके साक्षी द्रष्टाके रूपमें बैठे हैं—तो जबतक वह ईश्वरके भावमें या साक्षीके भावमें बैठा है, तबतक तो ठीक; परन्तु फिर जब वह उठेगा तब उसके मनमें बैठे हुए वही काम, वही क्रोध, वही लोभ, वही विकार उदय होंगे और उनके द्वारा जैसी क्रिया उसके शरीरसे पहले होती थी वैसी ही बादमें भी होगी। इसलिए जो हमारे जीवनमें चोरी, बेईमानी, झूठ अनाचार, व्यभिचार आया हुआ है उसके विपरीत हमारे जीवनमें सदाचारकी स्थापना जान-बूझकर जब हम करेंगे तभी होगी। नारायण! आप इस बातको अच्छी तरह समझ लें कि जो लोग आपसे यह कहते हैं कि तुम तो द्रष्टा हो, साक्षी हो, और जीवनमें जो अनाचार-व्यभिचार है वह रहने दो, उनसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है, वे आपको गलत रास्तेपर ले जाते हैं। जो बात जान-बूझकर आपने अपने जीवनमें जमायी है, वह ईश्वरके भरोसे हो जानेसे अथवा वह साक्षी-द्रष्टा बनकर बैठ जानेसे नहीं निकलेगी। यदि साँप लाकर आपने अपने घरमें पाला है तो इसको निकालनेके लिए आपको प्रयास भी करना पड़ेगा। पहली सीढ़ी तो चढ़ी ही नहीं और महलपर चढ़नेकी बात करते हैं। कर्म शुद्ध होनेसे ही आलस्य-प्रमाद मिटेंगे—भोग शुद्ध होगा, संग्रह शुद्ध होगा और भाषण शुद्ध होगा! और जो लोग ईश्वरके नामपर दुराचारको अपने जीवनमें रहनेकी जगह देते हैं अथवा जो लोग द्रष्टापना-साक्षीपनाके नामपर अपने जीवनमें दुराचार-दुर्गुणके रखनेकी जगह बनाते हैं, उनके जीवनमें सदाचारकी स्थापना नहीं हो सकती! इसलिए कर्मकी बड़ी भारी आवश्यकता है—'कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः'—अकर्मसे कर्म श्रेष्ठ है। यदि आप चुप लगाते रहेंगे तो अपने जीवनमें जो बुराइयाँ घुस आयी हैं; वे बिल्कुल नहीं निकल सकतीं। इसलिए, कर्म-दोषकी निवृत्तिके लिए सत्कर्म करनेकी आवश्यकता है। कैसे? कि यदि आप सत्कर्म करोगे तो—निद्रा, आलस्य, प्रमाद—तमोगुणका नाश होगा—एक, और आप जो चोरी-बेईमानीसे संग्रह करते हैं, अथवा कि हिंसा करते हैं, झूठ बोलते हैं—वह सब मिटेगा—दो, और भोगमें जो दोष है—अनाचार-व्यभिचार वह मिटेगा—तीन और भाषणमें जो अशुद्धि है वह मिटेगी-चार और जो कर्म आप करते हैं वह शुद्ध होगा—पाँच। तो जब आप ठीक-ठीक कर्म करने लग जायेंगे तब इन पाँच दोषोंकी निवृत्ति हो जायेगी और इन पाँचों दोषोंके निवृत्त होनेपर इनमें उत्पन्न होनेवाले जो दुःख हैं, वे भी निवृत्त हो जायेंगे—वे होंगे ही नहीं।

अब आओ भावमें क्या दोष हैं इनकी निवृत्तिके लिए गीतामें क्या उपाय है सो देखें—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। (2.47)

आप देखो—'मा फलेषु कदाचन'—कहकर गीताने दूसरा कदम उठाया—आपके मनमें जो कामना-रूपी दोष है उसकी निवृत्ति। हम आपको यह बताना चाहते हैं कि आप यदि अपने जीवनमें दुर्गुण-दुराचार रखकर आध्यात्मिक उन्नति चाहते हैं तो वह कभी नहीं हो सकती। आप यह मत कहिये कि पूर्वजन्मके जो संस्कार हैं उनसे दुर्गुण-दुराचार आते हैं। हमारी गीतामें इसकी चर्चा बिल्कुल नहीं है कि इस जन्ममें नहीं, अगले जन्ममें आपका कल्याण हो जायेगा! इसका अर्थ है कि आप कल्याण चाहते नहीं है; कल्याण चाहनेवालेको कर्म करना ही पड़ेगा! यह जो आपके मनमें आता है कि पैसा कमानेका काम हम करेंगे, भोगका काम हम करेंगे, मकान बनानेका काम हम करेंगे और कोई आकर हमारे सिर पर हाथ रख दें और कृपा कर दें और हमारी आध्यात्मिक उन्नति हो जाये—यह जो बिना कुछ करे-धरे, आप अपनी उन्नतिकी आशा रखते हैं यह वैसी ही मूर्खता-पूर्ण बात है जैसी कि बिना कुछ करे-धरे नोटको दुगुना करनेकी बात। प्रत्येक समझदार व्यक्ति यह बात जानता है कि नोट दुगुना हो नहीं सकता—होगा तो या जाली

होगा या एक नम्बरके दो नोट होंगे, तो कहीं-न-कहींसे, बेईमानीसे, चोरीसे खजानेमें आया होगा। तो यह बिना कुछ करे 'हिप्नोटाईज' करके जो आध्यात्मिक उन्नति होगी अथवा 'मैस्म-राइज' करके अथवा आपको प्रमादी बनाकर अथवा आपको बेहोश करके जो आपकी आध्यात्मिक उन्नति होगी वह न तो टिकाऊ होगी और न आपके अन्त:करणको वह शुद्ध कर सकेगी। इसलिए आपको अपने अन्त:करणके दोष स्वयं निवारण करने होंगे। गीता भगवती आपको यह बताती है कि आप कर्मके द्वारा कैसे अपने दोषोंका निवारण करें। जरा आप इसपर ध्यान दिजिये-

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।। (18.46)

आप कर्म किस लिए कर रहे हैं? आप कहते हैं कि हे धन, हम कर्म कर रहे हैं तुम हमारे घरमें आओ; हे भोग, हम कर्म कर रहे हैं तुम हमारे घरमें आओ, हे कुर्सी, हम कर्म कर रहे हैं तुम हमारे ऊपर खुश हो जाओ, हमें अपने ऊपर बैठनेकी जगह दो। जब आप असलमें कर्मको भोगके लिए लगाते हैं, कर्मको पैसेके लिए लगाते हैं, कर्मको कुर्सीके लिए लगाते हैं तब आपका कर्म खुश नहीं होता, बैठकर रोने लगता है। क्यों? क्योंकि आप उसको छोटी-छोटी वस्तुओंके साथ जोड़ते हैं। तो बोले कि फिर कर्मको कहाँ जोड़ना चाहिए? कि कर्मको जो कर्मसे भी बड़ा है उसके साथ जोड़ो-

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

अपने कर्मके द्वारा परमेश्वरकी आराधना करो-तम्-अभ्यर्च्य। अभ्यर्च्य अर्चासे बड़ी है-अभ्यर्चा। अभितः अर्चा अभ्यर्चा-चारों ओर ईश्वरकी पूजा। आप जो करो-झाड़ू लगाओ-उसमें ईश्वरकी पूजा है, गाय चराओ-उसमें ईश्वरकी पूजा है; कपड़ा उत्पादन करो-उसमें ईश्वरकी पूजा है; खेती करो-उसमें ईश्वरकी पूजा है। बोले-ईश्वरकी पूजा कैसे? फैक्टरीमें ईश्वरकी पूजा, दुकानमें ईश्वरकी पूजा-सो कैसे? बोले, देखो बात यह है कि ईश्वर सब जगह है-

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।

इसमें देखो भावकी शुद्धि है। क्या भावकी शुद्धि है कि क्या आप अपना काम अपनी बेटीके लिए कर रहे है? क्या आप अपना काम इस हड्डी-मांस-चामसे बने इस शरीरकी तुष्टि-पुष्टिके लिए कर रहे हैं? क्या आप अपना काम अपनी कामनाओंकी पूर्तिके लिए कर रहे हैं? भगवान्का कहना है कि आप कर्म तो कीजिये, पर बेटीके लिए मत कीजिये, भोगके लिए मत कीजिये, चोरी-बेईमानीके लिए मत कीजिये, पवित्र उद्देश्यके लिए कर्म कीजिये, ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए कर्म कीजिये। और जब कर्मका उद्देश्य पवित्र होगा, उसका स्वरूप पवित्र होगा और वह भोगके लिए, चोरी-बेईमानीके लिए नहीं होगा तब आपका कर्म शुद्ध होगा और तब आपके जीवनमें निद्रा-आलस्य-प्रमाद भी नहीं रहेंगे और बुरी वस्तुओंका संग्रह भी नहीं रहेगा। तो, आओ कर्म करो यह समझकर कि-

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

जो हमारे हृदयमें अन्तर्यामी रूपसे बैठकर-निराकार परमेश्वर, जिसकी शक्ल-सूरत देखनेमें नहीं आती पर तुम्हारा संचालन कर रहा है, उसकी पूजा हम अपने कर्मसे कर रहे हैं। जैसे बिजली देखनेमें नहीं आती; परन्तु पंखा चला रही है, बल्ब जला रही है-ऐसे ही-'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां' अलग-अलग शरीरोंकी ये जो मशीने हैं, इन मशीनोंको चलाने वाली भीतर जो बिजली है वह सबमें एक है। और 'येन सर्वमिदं ततम्'-सम्पूर्ण-विश्व-सृष्टि परमात्माका स्वरूप है और सबका संचालक परमात्मा है। जब यह ईश्वर-दृष्टि रखकर कर्म करोगे तो क्या होगा कि यह आपके कर्मको ईश्वर कर देगा। कर्ममें ईश्वर-भावका समावेश होते ही काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि जो भाव-गत दोष हैं वे निवृत्त हो जायेंगे-शुद्ध कर देगा।

अब अहंतागत-दोषकी निवृत्ति कैसे होगी, अस्मिता कैसे मिटेगी कि-

त्वमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। (18.62)

अहंताकी निवृत्तिके लिए गीतामें कई उपाय बताये हैं-बुद्धिमें जो दोष **है भ्रान्ति, उस** भ्रान्तिकी निवृत्तिके लिए सारी **गीतामें** एक उपाय है और **अहंताकी, अस्मिताकी** निवृत्तिके लिए तीन उपाय **है-वह अब** आपको फिर **सुनावेंगे!** ✯

प्रवचन : 6

सुसंस्कार और दोष-निवृत्ति

गीता एक शास्त्र है और इसमें हमारे जीवनको सँवारने संस्कारनेकी रीति बतायी गयी है। असलमें शास्त्र केवल पोथीमें लिखे रहनेके लिए नहीं होते अपितु हमारे जीवनका संस्कार करनेके लिए, हमारे जीवनका दुःख उन्मूलन करनेके लिए होते हैं। यदि वे अपने जीवनका संस्कार न करते हों, हमारे जीवनमें उबटन न लगाते हों, अङ्गराग न लगाते हों, हमारे जीवनकी कमियोंको पूर्ण न करते हों, हमारी समस्याओंका हल न करते हों, तो वे शास्त्र हमारे लिए उपयोगी नहीं होते। सच पूछो तो शास्त्र अपने जीवनमें अनुभव करनेके लिए होते हैं और उनके द्वारा ही अपने अन्दर लगी हुई गन्दगी दूर होती है।

अब आप देखो—बात तो बादमें कहनेकी थी, पर हम पहले ही आपको सुना देते हैं—हमारे जीवनमें जो दोष आ गये हैं उनसे यदि हम तटस्थ हो जायेंगे या थोड़ी देरके लिए उनकी उपेक्षा करके बैठ जायेंगे, उनके द्रष्टा-साक्षी हो जायेंगे तो, इससे जीवनके दोष नहीं मिट सकते। दोषोंको मिटानेके लिए उपाय करना पड़ता है। आपके जीवनमें यदि कोई दोष है तो उसको छोटा समझकर उसकी उपेक्षा मत कीजिये कि यह हमारा क्या बिगाड़ लेगा—

रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिय न छोट करि।

मानस 3.21

शत्रुको, रोगको, आगकी चिन्गारीको, पापको, साँपके बच्चेको और राजाको कभी छोटा मत समझिये, इनके अन्दर बहुत शक्ति भरी रहती है। अब, यह जो ज्ञान-स्वरूप अपना आत्मा है यह उपाधिगत दोषोंके संसर्गसे उनसे बिल्कुल घुल-मिल गया है और उपाधिमें जो दोष आये हैं वे हमारे कर्मसे आये हैं। तो गीता हमें पहली बात यह सिखाती है कि हमारे जीवनमें जो राग-द्वेष है, जो काम-क्रोध है, जो व्यभिचार-हिंसा है, जो चोरी-बेईमानी है—उनको आप यो ही मत छोड़िये, इनके निवारणका प्रयत्न कीजिये।

गीताके दृष्टिकोणसे यदि आप अपना संस्कार करना चाहते हैं, क्योंकि दुःखके निवारणके लिए दोषकी निवृत्ति आवश्यक और दोषके निवारणके लिए संस्कार आवश्यक है, तो आप अपने दोषपर दृष्टि डालिये कि वह कहाँ है—रागानुविद्ध ज्ञान और द्वेषानुविद्ध ज्ञान ही दोष है जब हमारे ज्ञानके साथ किसीका राग और किसीका द्वेष आता है। क्योंकि जिससे राग होता है उसके प्रति पक्षपात होता है और जिससे द्वेष होता है उसके प्रति क्रूरता होती है। यह हमारे अन्तःकरणका दोष है और इससे दुःखकी सृष्टि होती है। हमारे रागके अनुसार काम नहीं होगा। तो दुःख होगा। और हमारे द्वेषके अनुसार काम नहीं होगा तो दुःख होगा। अब, यदि पूर्वजन्मको स्वीकार करके हम बात करें तो पूर्व-पूर्व जन्मके राग-द्वेष, काम-क्रोध और व्यभिचार-हिंसाके दोष भीतरसे बाहर निकलते हैं; और यदि पूर्वजन्मको स्वीकार न करके हम बात करें तो इसी जीवनमें इन्द्रियोंके द्वारा ये दोष हमारे जीवनमें प्रवेश करते हैं। बात केवल हिन्दूसे ही करनी होती तो और थी, परन्तु यदि मुसलमानसे बात करनी पड़े, अथवा कभी ईसाईसे बात करनी हो तो इसी जीवनसे इसकी संगति लगानी पड़ती है कि हमारे जीवनमें ये दोष कहाँसे आये हैं। कहाँसे दोष आते हैं—यह मत सोचो, यह देखो कि हमारे जीवनमें दोष है कि नहीं? अपने दोषको अतीतके गर्भमें फेंक देना बहुत बुद्धिमत्ता नहीं है कि पूर्वजन्मसे आया हुआ है; या किसी आदमीपर डाल देना कि उसने हमको सिखा दिया—यह भी गलत है, या यह कह देना कि यह हमारे माँ-बापसे आया है—यह भी गलत है। दोष आपने स्वयं देख-देखकर सुन-सुनकर सीखा है और उसको स्वयं आपने अपने जीवनमें धारण किया है। दोष पहले इन्द्रियोंमें आते हैं, फिर मनमें प्रवेश करते हैं, फिर उनके साथ आप मिल जाते हैं। आप यह देखो कि आपमें दोष हैं कि नहीं हैं?

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्। (3.37)

आप अपने दुश्मनको नहीं पहचानते हैं—बोलते हैं कि यह हमारा क्या

करेगा? वह करेगा ही नहीं, वह आपके कलेजेको बिल्कुल काट देगा। कोई ब्रह्मज्ञान, कोई स्वरूपस्थिति तबतक काम नहीं दे सकती, हो नहीं सकता ब्रह्मज्ञान, हो नहीं सकती स्वरूपस्थिति जबतक दोषोंका निवारण न किया जाये।

एक राजा साहब हमारे भक्त हैं। उनके कुछ विदेशी मित्र उनके पास आये और बोले—जाकर स्वामीजीसे पूछ आओ कि यदि वे हमारे दैनिक क्रिया-कलापमें जो हम रोज-रोज करते हैं—जो खाते हैं, जो पीते हैं, जैसे रहते हैं उसमें कोई दस्तन्दाजी न करें तो हम उनका उपदेश माननेको तैयार हैं, उनसे ब्रह्मज्ञान सीखनेको तैयार हैं, 'योगा' करनेको तैयार हैं, 'ध्यानम्' करनेको तैयार हैं। लो भला! यह तो चेला बनानेकी जब बहुत बड़ी गरज होती है तब कुछ तो ऐसा भी बोलते हैं कि तुम ईश्वर मानो चाहे मत मानो आओ तुमको हम 'ध्यानम्' सिखाते हैं—कहते हैं कि तुम्हारी जो मौज हो सो खाओ-पीओ, जैसी मौज हो वैसे रहो, अनाचार-व्यभिचार करते रहो आओ हम तुम्हें 'ध्यानम्' करवा देते हैं। तो, अब यह बात तो भाई, यदि ऐसा चेला बनाकर उससे बहुत कुछ कमाना हो तभी कही जा सकती है, बिना लौकिक स्वार्थ हुए ऐसा काम कोई साधु, कोई महात्मा नहीं कर सकता। दो टूक बात करते हैं अपन तो भाई—देखो जो हिमालयमें रहनेवाले विरक्त महात्मा लोग हैं—बेख्वाहिश, बेपरवाह—कोई बहुत धनी आदमी उनके पास जाये तो उनकी ओर पीठ करके बैठ जायें, जंगलमें चले जायें—ऐसे महात्माओंका मैंने सत्सङ्ग किया है, कोई भी बात दो टूक कहनेमें हमें कोई संकोच नहीं है गन्दी-से-गन्दी बात भी हम भरी सभामें बोल सकते हैं!

काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्।। (3.37)

भगवान् श्रीकृष्णका कहना है कि एक दोष दो रूप धारण करके तुम्हारे सामने आया है और एक बन गया—महाशन और एक बन गया—महापाप्मा। एक ही दोष काम बनकर आया, क्रोध बनकर आया। काम है महाशन और क्रोध है महापाप्मा। 'महाशन' अर्थात् जिसका पेट इतना बड़ा कि कितना भी खाओ, कितना भी खाओ कभी पेट न भरे। जिसका भोजन बहुत बड़ा हो उसको महाशन कहते हैं और जिसका पाप बहुत बड़ा हो उसको महापाप्मा कहते हैं। जितने भी संसारमें विषय हैं उनका भोग करो परन्तु; कामका पेट नहीं भरेगा; और द्वेष, क्रोध, हिंसा—ये ऐसे-ऐसे काम अपने द्वारा करवा देते हैं जिससे दूसरोंका बहुत बड़ा नुकसान हो।

रहने दो ईश्वरको वहाँ, जहाँ रहता है और ब्रह्मज्ञानको रहने दो वेदान्तकी पोथियोंमें और असंगताको रहने दो योगियोंके घरमें, परन्तु यदि आपको अपने इस मनुष्य जीवनका संस्कार करना है तो पहले दोषके स्वरूपको समझो, दुश्मनको समझो—'विद्धयेनमिह वैरिणम्' ।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।। (3.38)

उस दोषने आपके ज्ञानको कैसे ढका कि जैसे धुँएसे आग ढकी पूरी तरह नहीं ढकी, धुँआ अलग आग अलग; जैसे शीशा मैलसे ढका—थोड़ा ढका, थोड़ा नहीं ढका। सात्विक आवरणको अग्नि और धूम बोलते हैं और राजस आवरणको शीशा और मैल बोलते हैं और तामसी आवरणको बोलते हैं—'यथोल्बेनावृतो गर्भः'—जैसे जेरसे, जरायुसे गर्भ ढकता है; इसमें पूरी तरह ढक जाता है।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा। (3.39)

यह मनुष्यका ज्ञान ढक गया है। यही उपनिषद् है। क्या उपनिषद् है कि हैं तो आप ज्ञानस्वरूप, लेकिन दूसरी वस्तुओंकी इच्छाने और दूसरी वस्तुओंके प्रति द्वेषने ऐसा रंग आपके ज्ञानमें भर दिया है कि ज्ञान तो दीखता नहीं, वह रंग दीखता है। शत्रुको पहचानो इनका नाम है काम, क्रोध। उनका काम है महाशन, महापाप्मा और ये ढकते हैं हमारे ज्ञानको और रहते कहाँ हैं? कि—

इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।। (3.40)

इन्द्रियमें, मनमें और बुद्धिमें रहते हैं! पहले ये इन्द्रियोंमें प्रवेश करते हैं, फिर इन्द्रियोंके द्वारा मनमें प्रवेश करते हैं और फिर जाकर बुद्धिमें जम जाते हैं। यह ठीक ऐसे ही है जैसे एक रथी—समझो। स्वयं आप अपने रथपर बैठकर यात्रा करना चाहते हैं अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए। परन्तु, आपके शत्रुने क्या किया कि आपके घोड़ोंको खिला-पिलाकर अपने वशमें कर

लिया, आपकी बागडोरको कमजोर कर दिया और आपके सारथीको रुपया-पैसा देकर अपनेमें मिला लिया, अब आप लक्ष्य तक कैसे पहुँचेंगे? **बुद्धि सारथि है, मन बागडोर है और इन्द्रियाँ घोड़े हैं।**

एक जगहकी बात बताते हैं, उनके घरमें एक बढ़िया कुत्ता था, और उससे डरके चोर-डाकू घरमें नहीं आते थे। तो चोर-डाकुओंने क्या किया कि जब दिनमें कुत्ता छूटे तो उसको कभी थोड़ा दूध पिला दें, कभी थोड़ा मांसका टुकड़ा दे दें। अब वह उनको देखकर पूँछ हिलाने लगा, उनके साझेमें हो गया और जब उनके साझेमें हो गया तो रातको जब चोर घरमें गये, तब कुत्तेने कुछ नहीं किया-भूँका ही नहीं। हे भगवान्! तो यह क्या है-महाराज, कि ये इन्द्रियाँ हमारी घोड़े हैं और मन हमारा बागडोर और बुद्धि उसका समर्थन करती है-

एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।। (3.40)

इसीसे यह मनुष्य मोहित हो गया।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।। (3.41)

यदि आप इन्द्रियोंके नियमनका मार्ग छोड़कर परमात्माकी प्राप्तिकी बात सोचते हैं तो आप उपनिषद्की परम्पराका त्याग कर रहे हैं किस लालचमें पड़कर कि हमको खूब खाने-पीनेकी छुट्टी भी मिलेगी और ईश्वर भी मिल जायेगा; हमको सत्संग-आचरणकी छुट्टी भी मिलेगी, हम व्यापारमें बेईमानी करते रहेंगे, हम क्लबमें शराब खाते-पीते रहेंगे और व्यभिचार-अनाचार करते रहेंगे और हमारे सामने ईश्वर आकर हाथ जोड़ेगा और कहेगा कि सेठजी, हम तुम्हारी सेवा करनेके लिए आये हैं। ईश्वर प्राप्तिके लिए अपने आपका शृंगार करना पड़ता है, अपनेको सजाना-सँवारना पड़ता है तब ईश्वर तुम्हारे ऊपर प्रसन्न होता है। तो 'तस्मात्वमिन्द्रियाण्यादौ'में, 'आदौ'का अर्थ क्या है कि पहले इन्द्रियोंको अपने वशमें करो। यह 'आदौ' शब्दका अर्थ है कि पहले बुद्धिको वशमें करें, पहले मनको वशमें करें। अच्छा छोड़ो ईश्वरको, यदि अपने आपको सँवारनेकी इच्छा है, यदि आप अपनेको सुन्दर बनाना चाहते हैं, एक सज्जनके समान जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, गुण्डेकी तरह नहीं, उच्छृङ्खलकी तरह नहीं, शराबी-कबाबीकी तरह नहीं-एक भले मानुषकी तरह, तो पहले इन्द्रियोंको शान्त करना पड़ेगा। हमारे एक महात्मा थे काशीमें-हम लोग जैसे काम करते हैं तो 'श्रीगणेशाय नमः' बोलते हैं ना, वे बोलते थे-

ॐ नमः कलये धर्मनाशाय विग्रहाय।

हम कलयुगको नमस्कार करते हैं जो धर्म-परम्पराका नाश करनेके लिए ही प्रकट हुआ है-कलियुग दूत कौन है? जो आपको इस जीवनमें सद्गुणी, सदाचारी, सज्जन नहीं बना सकता! भला वह आपको अगले जीवनमें कैसे स्वर्ग भेज देगा? वह आपके नामसे चिठ्ठी लिखकर दे देगा कि इसके लिए स्वर्गका दरवाजा खोल दिया जाये-यह बात बिल्कुल गलत है।

तस्मत्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।।

'प्र' प्रकर्षेण 'जहि हि', परित्यज-इस पापीका परित्याग कर दो और इसके बाद अपने-आपको जानो कि आप इन्द्रिय, मन, बुद्धि, सबसे परे हैं :

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।।
एवं बुद्धे पर बुद्धध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।।

(3.42-43)

और फिर इन्द्रिय, मन, बुद्धिके वशमें न होकर, बुद्धिके परे आत्माके स्वरूपको जानकर, जहि अर्थात् कामको मार दो। इन्द्रियोंका नियमन करके कामका परित्याग कर दो-और बुद्धिसे परे आत्माके स्वरूपको जानकर कामको मार दो-इस प्रकार क्रमशः यहाँ दो बातें कही गयी हैं।

आप गीता पढ़ते हैं इसलिए आपको सुनाते हैं कि इन्द्रियोंके संयमके बिना कोई सज्जन नहीं हो सकता, कोई साधक नहीं हो सकता, यहाँ तक कि कोई सच्चा मनुष्य ही नहीं हो सकता। आज यह जो दुराचारको, अनाचारको, व्यभिचारको, स्वछन्द उच्छृङ्खलताको प्रोत्साहन अथवा

प्रश्रय मिलता है वह केवल अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिए किया जाता है और इसका कोई कारण नहीं है। तो गीताने बात यह कही कि आप स्वयं अपने जीवनको पहले सुधारिये–

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।। (6.5)

तुम मनुष्य हो उठकर खड़े हो जाओ। 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत'–सफलता प्राप्त होगी। निराश मत होना कि इन्द्रियाँ हमारे वशमें नहीं होंगी, हम कुछ नहीं कर सकते हैं, आगे नहीं बढ़ सकते हैं। उठिये, जागिये, आगे बढ़िये आपको सफलता मिलेगी।

अब आत्म-संस्कारकी दूसरी बात आपको सुनाते हैं–यह योगकी रीति है। अपनी ओरसे अपनेको ठीक करना यह सर्वत्र अनुगत रहेगा। आप जानते हैं कि योगदर्शनकी रीतिसे द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित होता है–

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् (योगदर्शन 1.3)

जब चित्तवृत्तिका निरोध होता है तब द्रष्टा अपने स्वरूपमें अवस्थित होता है। यदि योगदर्शनकी रीतिसे साधन करके आप अपने स्वरूपमें स्थित होवोगे तब तो दुराचारकी निवृत्ति होगी–अन्यथा नहीं होगी। हम दो टूक बात कहते हैं और बच्चू भाईकी तरह हम भी पहलेसे ही कह देते हैं माफ करना भाई–

नाविरतो दुश्चरितान् नाशान्तो न समाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैवमाप्नुयात्।।

(कठ. 1.2.24)

दुश्चरित्र छोड़ना–यह प्रथम साधन है। अच्छा! योगदर्शनमें नियम यह है कि आप यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि–इन आठ अंगोंके द्वारा चित्तवृत्ति-निरोधरूप योगको प्राप्त कीजिये, उस निरोध–दशामें निरोधका जो द्रष्टा है वह अपने स्वरूपमें स्थित है। और वृत्तियाँ जब निरोध–दशाका परित्याग कर देती हैं तब क्या होता है कि वृत्तिसारूप्यमितरत्र (योग० 1.4)–अर्थात् निरोध–दशाको छोड़कर विक्षिप्त दशामें जो द्रष्टा है वह वृत्तियोंके साथ एक हो जाता है। अब आप इस बातपर ध्यान दीजिये कि क्या आप यम-नियमका पालन करके–सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह–ये पाँच यम और शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर–प्रणिधान ये पाँच नियम–इनका पालन करके अपने द्रष्टाके स्वरूपमें अवस्थित हुए हैं या कि बिना पालन किये हुए ही? यदि आप यम–नियमका अभ्यास करके अपने आपको द्रष्टामें बैठाओगे तब तो दुश्चरित्रकी निवृत्ति हो जायेगी वर्ना नहीं होगी, क्योंकि यम–नियमका जो अभ्यास है वह दुश्चरित्रको निवृत्त करेगा। वृत्तिका निरोध होनेपर वृत्तिके निरोध और विक्षेप दोनोंकी उपेक्षा हो जाती है, उस उपेक्षाका द्रष्टा अपना आत्मा है। बहुत बढ़िया! परन्तु पाँच मिनट द्रष्टा और पाँच मिनट चोर–यह नहीं चलेगा। जो चोर है सो द्रष्टा नहीं, जो द्रष्टा है सो चोर नहीं। यदि कहो कि महाराज चोरीकी वृत्ति तो आती रहती है, हम तो देखते रहते हैं। तो बोले कि नहीं भाई, पहले जो चोरीकी वृत्ति है-इसको यम–नियमके अभ्याससे दबा लो।

देखो आपको दो बात बतायी–पहली कर्मयोग–जिसका वर्णन किया कि काम, क्रोधकी निवृत्तिके लिए प्रयास करो; दूसरी अष्टांग-योगसे द्रष्टाके स्वरूपमें अवस्थिति यह आत्म संस्कारात्मक योग है। कर्मयोग भी अपनेको सजाने–सँवारनेके लिए है, भक्तियोग भी अपनेको सँवारने–सजानेके लिए है और ज्ञानयोग भी अपनेको सँवारने सजानेके लिए है। भला, ज्ञानयोग अपनेको क्या सँवारता–सजाता है? कि बुद्धिमें जो भ्रान्तिरूप दोष है उसका संस्कारक है, उसको दूर करता है ज्ञानयोग।

जब कोई भी काम आप कायदेसे करेंगे तब उसके फल पर्यन्त पहुँच सकेंगे। आप देखो, अपने जीवनमें ये पाँच दोषोंपर ध्यान दो-(स्तेय, परिग्रह, भोग, हिंसा और असत्य) जरूरतसे ज्यादा संग्रह यह धन विषयक लोभ है और जो चीज अपने हककी नहीं है उसको भी ले लेना–यह भी लोभ है। माने लोभके दो कुपुत्र हैं–एक बेटी और एक बेटा–बेटी है चोरी (स्तेय) जिसके मनमें लोभ ज्यादा होगा वह चोरी जरूर करेगा और एक बेटा है–परिग्रह जिसके मनमें लोभ ज्यादा होगा वह संग्रह ज्यादा करेगा। अब देखो–'काम' अर्थात् भोग। कामका बेटा क्या है? कामकी तीव्रतामें न्यायके विपरीत सम्भोग और कामके संयममें धर्मानुसार सम्भोग। अपने

आश्रमके अनुसार ब्रह्मचर्यका पालन कामको दबाता है। फिर देखो, हिंसा-यह क्रोधकी बेटी है। और असत्यमें जो हमारी प्रीति है उससे निकलता है असत्य-भाषण।

आप इसको (असत्य भाषणको) मामूली बात मत समझना, परन्तु आप इस बातपर ध्यान दो-झूठ बोलनेका अर्थ होता है हमारी समझ कि झूठसे हमारा स्वार्थ सिद्ध होता है, झूठसे हमारा काम बनता है। तो जब झूठके प्रति महत्त्व-बुद्धि होती है कि झूठ बोलनेसे हमारा काम चलेगा तो 'सत्यसे हमारा प्रेम हो और सत्यकी हमें प्राप्ति हो'-यह सत्यके प्रति लिप्सा नहीं रहेगी, सत्यके प्रति अभीप्साकी उत्पत्ति नहीं होगी। जो असत्यका आदर अपने जीवनमें करता है वह सत्य परमात्माको, सत्य जीवनको, सत्य ब्रह्मको सत्य-परमार्थको प्राप्त करनेकी इच्छा ही क्यों करेगा? तो जो सत्यका प्रेमी नहीं है वह परमेश्वरकी प्राप्तिका इच्छुक भी नहीं है। जो किसीसे द्वेष रखता है, क्रोध रखता है, ईर्ष्या करता है, वह अपने हृदयको शान्त रखनेके लिए प्रयाससे बिलकुल विमुख है और जो काम-भोगमें ही लगा हुआ है वह बिलकुल पराधीन है; और जो चोरी, बेईमानी और परिग्रहकी रक्षामें लगा हुआ है वह यदि कहे कि आहा-हा-क्या पूछना-हम तो चेतन हैं। हे भगवान्! क्या करेगी उसकी चेतनता और कितनी देरकी चेतनता? जब योगकी रीतिसे अहिंसा-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहरूप यमका पालन करके इन दोषोंको हटायेंगे तथा बादमें नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिका अनुष्ठान करके द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित होगा तब उसके चरित्रमें दिव्यता आयेगी।

अब दूसरा विभाग लेते हैं इसका। आप अपनेको सँवारना चाहते हैं, तो कर्ममें कैसे सँवारना-एक बात हुई योगमें कैसे सँवारना दूसरी बात हुई। अब तीसरी बात यह है कि आपके जीवनमें भगवान्की भक्ति आवे तो जीवनका संस्कार होगा। भक्ति महान् संस्कार है जीवनका!

यह आत्म-संस्कार है, अपनेको शुद्ध करो। जो तुम हो उसको शुद्ध करो-ब्रह्मको शुद्ध करनेकी कोशिश मत करो, ब्रह्म स्वयं शुद्ध है, तुम अपने आपको तो शुद्ध करो-अपने शरीरमें तो जरा साबुन लगाओ, अपनेको तो जरा चिकना करो, तेल लगाओ, स्निग्ध करो, ब्रह्मको स्निग्ध बादमें करना-

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।।

(9.32-33)

भगवान् कहते हैं-पूर्व जन्मका यदि पापी हो (पापयोनयः) तब भी वह भगवान्की भक्ति करके, अपना संस्कार करके पूर्वजन्मका पाप मिटा सकता है-जाति-प्रयुक्त जो अपवित्रता है (वैश्याः तथा शूद्राः) वह भी भगवान्की भक्तिसे मिट जाती है। लिङ्ग-प्रयुक्त-स्त्रीलिङ्ग, पुलिङ्ग आदिकी जो अपने जीवनमें मलिनता है, अपवित्रता है, सबको यह भक्ति धो देती है! बोले-नहीं, हम तो इसी जन्मकी बात करते हैं-तो भगवान्ने कहा :

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।

(9.30-31)

जो इसी जीवनमें अतिदुराचारी था; परन्तु जो भगवान्का भजन प्रारम्भ किया कि दुराचारी सदाचारी हो गया, अधर्मात्मा धर्मात्मा हो गया। यह संस्कार अपने जीवनमें कहाँसे आया कि-'भजते मामनन्यभाक्'। भगवान्का आसरा लेकर भगवान्का भजन करनेसे भगवान्की भक्ति बढ़ती है। आपको हम इसका विज्ञान समझाते हैं-आप चाहते क्या हैं? ईमानदारीसे आप अपने मनमें सोच लो, हमको बताओ मत। आप भीतर-भीतर क्या चाहते हैं-आपसे तो छिपा नहीं होगा ना! जब मनुष्यके मनमें ईश्वर-प्राप्तिकी इच्छा होती है-ईश्वर माने सर्वव्यापक, ईश्वर माने सर्वप्रेरक, ईश्वर माने सर्वज्ञ, ईश्वर माने सर्वान्तर्यामी, ईश्वर माने न्यायकारी, ईश्वर माने परमदयालु-तब जैसे आप यदि किसी वेश्यासे मिलना चाहेंगे तो आपकी इच्छाके पेटमें वेश्या होती है, आप जब किसी बदमाशसे

मिलना चाहेंगे तो आपकी इच्छाके पेटमें बदमाश होता है; वैसे ही आप ईश्वरसे मिलना चाहेंगे तब आपकी इच्छाके पेटमें परमेश्वर होगा। और जब आपकी इच्छाके पेटमें परमेश्वर आकर बसेगा, आपके मनमें ईश्वर प्रकट हो जायेगा। प्रकट होनेका क्या अर्थ है? इच्छावृत्तिके बारेमें तो आपको मालूम ही होगा! कि जैसे माँके पेटमें बच्चा होता है, इसी प्रकार इच्छा-वृत्तिके गर्भमें इच्छाका विषय होता है। इच्छा कभी निर्विषय नहीं होती, वह सदैव सगर्भा होती है। जब हम अपनी वृत्तिमें किसीके लिए प्यासे होते हैं तो जिस वस्तुकी प्यास होती है उसकी शक्ल-सूरत आकर हमारे मनमें बैठ जाती है; तो इच्छाकी शक्ल-सूरत क्या? कि वह जो आप इच्छा करते हैं, जिसकी आप इच्छा करते हैं। तो क्या ईश्वरकी प्राप्तिकी इच्छा आप करते हैं? हाँ, बोल दो छाती ठोककर कि हाँ-हाँ सचमुच हम ईश्वरको चाहते हैं। ईश्वरसे मिलनेमें देर नहीं है, ईश्वर-विषयक सच्ची इच्छाका चित्तमें उदय होना दुर्लभ है। ईश्वर दुर्लभ नहीं, ईश्वरकी प्राप्तिकी इच्छा दुर्लभ है। यहाँ तक कि वेदान्तियोंको भी इसने (इच्छाने) नहीं छोड़ा। कैसे नहीं छोड़ा कि जिज्ञासा माने ज्ञानकी इच्छा ही तो होता है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' श्रुति-वाक्यसे ज्ञान परमात्माका स्वरूप है और ज्ञानकी इच्छा माने परमात्माके साक्षात्कारकी इच्छा। जब हम ईश्वरकी प्राप्तिकी इच्छा करते हैं तब दूसरी वस्तुओंकी प्राप्तिकी जो इच्छा है वह अपने-आप ही नौ-दो-ग्यारह हो जाती है। हुआ कि नहीं संस्कार? एक आदमी चाहता था कि हम दुश्मनको मारें, एक आदमी चाहता था हम अमुक कामिनीको प्राप्त करें, एक आदमी चाहता था हम धन प्राप्त करें, तो उसकी इच्छाके पेटमें दुश्मन था, कामिनी थी, धन था-अब उसमें यह इच्छा हुई कि हम ईश्वरको प्राप्त करें। तब उसकी इच्छाके पेटमें ईश्वर आ गया और दूसरी इच्छाएँ छूट गयीं। एक समय, एक अन्तःकरणमें एक ही इच्छा रह सकती है, दो इच्छाएं एक साथ एक अन्तःकरणमें नहीं रह सकतीं। आपको ईश्वरका चिन्तन कितनी देर होगा कि जितनी देर आपके मनमें ईश्वरकी प्राप्तिकी इच्छा रहेगी। आप कहते हैं कि ध्यान नहीं लगता। ध्यान कहाँसे लगेगा जब आप ईश्वरको चाहते ही नहीं। हम जिसको चाहेंगे उसका ध्यान लगेगा, जिसको हम चाहते हैं उसका ध्यान लगता है।

निर्मल बनाती है, कैसे स्वच्छ करती है, कैसे हमारे अन्तःकरणको सज्जन बनाती है-यह देखो! शरीरको सज्जन बनाता है-धर्म और अन्तःकरणको सज्जन बनाती है-भगवत् प्राप्ति-विषयक अभिलाषा! आपके मनमें-यह भक्ति होवे तो! असलमें भगवान्के लिए मनमें प्यास और भगवान्से तृप्ति, पुनः भगवान्से तृप्ति और भगवान्के लिए प्यास-इसका नाम भक्ति है। प्यास और तृप्ति-इन दो विभागोंमें भगवान्की भक्ति है।

अपने अन्तःकरणका संस्कार आप देखो! मनुष्यके जीवनका संस्कार है-धर्म संस्कार, उसके अन्तःकरणका संस्कार है भक्ति-संस्कार और स्थितिका संस्कार है योग अर्थात् द्रष्टाके स्वरूपमें अवस्थानरूप संस्कार! अब ब्रह्मज्ञान क्या है कि-

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।। (4.38)

आपकी बुद्धिको, आपके बौद्ध-जीवनको, आपके औपचारिक जीवनको पवित्र करनेवाला ज्ञानसे बढ़कर और कोई नहीं है-यह ज्ञान मनुष्यके जीवनको कैसे पवित्र कर देता है कि बुद्धिमें जो भ्रम हैं, जो भूलें बैठी हुई हैं उनको दूर करता है ज्ञान, भूलके कारण वासनाएँ होती हैं, भूलके कारण चंचलता होती है, भूलके कारण दुश्चरित्रता होती है, पर वेदान्त भी यदि आप कायदेसे सीखोगे तब तो वह आपके जीवनको सुन्दर बनायेगा, आपके जीवनका शृंगार होगा, अन्तःकरणको शुद्ध करेगा, चरित्रको पवित्र करेगा और यदि बेकायदे उसको पढ़ोगे, सुनोगे और वेदान्ती बन बैठोगे-'असि ब्रह्म तुसी ब्रह्म'के चक्करमें पड़ जाओगे तो वेदान्त कुछ नहीं करेगा। आप जानते हैं-वेदान्तकी पहली शर्त है-अन्तःकरणकी शुद्धि। तो यदि आप सचमुच धर्म, उपासना और योगरूप परम्परा साधनके द्वारा अन्तःकरणको शुद्ध करोगे और यदि विवेक, वैराग्य, षट्-सम्पत्ति-मुमुक्षारूप बहिरंग साधनके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि करोगे, यदि श्रवण मनन, निदिध्यासनरूप अन्तरंग साधनके द्वारा बुद्धिका परिमार्जन करोगे तब साक्षात् साधन महावाक्यजन्य ब्रह्माकारवृत्ति उदय होकर आत्माकी ब्रह्मरूपताको दिखा देगा। जब कायदेसे वेदान्तको लोगे तो वह तुम्हारे

जीवनको शुद्ध कर देगा; परन्तु जो आपको लालच देते हैं कि भले तुम चोरी-बेईमानी करते रहो; आओ हम ब्रह्म उठाकर तुम्हारी जेबमें रख देते हैं- तो ऐसा वेदान्त कुछ नहीं करेगा।

इसलिए ये जितने धर्म-शास्त्र हैं-क्या धर्मशास्त्र, क्या उपासनाशास्त्र, क्या योग-शास्त्र, क्या वेदान्त-शास्त्र-ये हमारे जीवनका संस्कार करते हैं, इसको सँवारते हैं, इसको सज्जन बनाते हैं, इसको शुद्ध करते हैं। जो इनको ठीक-ठीक कायदेसे नहीं पढ़ते हैं वे वेदान्ती होकर पागल हो जाते हैं; क्योंकि कायदेसे इन्होंने अन्तःकरण शुद्धि नहीं की; वे साक्षी-चेतनसे एक होकरके, फिर दुश्चरित्र हो जाते हैं। शास्त्रोंके द्वारा होता है संस्कार और संस्कार द्वारा हमारे जीवनका दोष दूर किया जाता है, दोष दूर होनेसे हमारे जीवनका दुःख दूर होता है। अब हम आपको गीतामें किस ढंगसे हमारे जीवनका संस्कार किया गया है-यह सुनायेंगे।

प्रवचन : 7

अन्तःकरणके दोषोंकी निवृत्ति

जो साधारण मनुष्य होते हैं वे वस्तुके गुण पर दृष्टि ज्यादा देते हैं, उनसे जो अधिक सावधान होते हैं वे क्रियापर ज्यादा दृष्टि देते हैं, परन्तु, अपने ऊपर दृष्टि जाना थोड़ा मुश्किल पड़ता है। हमारे एक ब्रह्मचारी हैं उनको किसीने कह दिया कि धनिया खाना-जन्माष्टमीके दिन जिसका प्रसाद बनाते हैं-बहुत गुणकारी है। तो उन्होंने जब खाना शुरू किया तब पाव-भर, आध-पाव रोज खाने लगे, क्योंकि धनियामें बहुत गुण हैं। इसका फल यह हुआ कि उनका स्वास्थ्य खराब हो गया। तो जो केवल वस्तुके गुण पर ही दृष्टि डालता है वह संसारमें बहुत अधूरी दृष्टिसे वस्तुको देखता है। दूसरे एक सज्जन थे, उनसे किसीने कहा कि उपवास बहुत अच्छा होता है, उससे बड़ा लाभ होता है। अब ताकत तो उनके शरीरमें पहले से नहीं थी-मांस तो पहलेसे ही नहीं था और वे उपवाससे अपना भला करनेके लिए चले तो उनकी तबीयत और ज्यादा खराब हो गयी। कहनेका अभिप्राय यह है कि चाहे खाना खानेकी साधना हो और चाहे खाना छोड़नेकी साधना हो, चाहे प्रवृत्ति हो, चाहे निवृत्ति हो-साधना करनेमें साधकका अधिकार भी देखा जाता है-और मनुष्य उसपर दृष्टि नहीं डालता है। जिस प्रकार कि उपवासके बारेमें यह नियम है कि जिसके शरीरका बल क्षीण न हो, मांस कम न हो, उसके लिए उपवास हितकारी होता है, जिसके शरीरमें बल न हो, जिसके शरीरमें मांस न हो उसके लिए उपवासकी चिकित्सा हितकारी नहीं होती। उसी प्रकार साधनके क्षेत्रमें भी विचार करना होता है। जैसे किसीने तारीफ की कि सबसे बढ़िया साधना कौन-सी कि जिसमें कुछ न करना पड़े-और हम झट उसपर टूट पड़े तो उसमें सफलता आवश्यक नहीं है। एक नमूनेकी

बात आपको सुनाते हैं–आप कामनाकी पूर्तिके लिए सब कुछ कर रहे हैं। भोगकी प्राप्तिके लिए, वस्तुकी प्राप्तिके लिए, प्रतिष्ठाकी प्राप्तिके लिए, यशकी प्राप्तिके लिए–संसारकी प्राप्तिके लिए तो कुछ कर रहे हैं और ईश्वरकी प्राप्तिके लिए? कि कुछ नहीं कर रहे हैं–चुप बैठे हैं, किन्तु चुपचाप बैठेंगे तो आपके मनमें भाव ही नहीं बनेगा कि ईश्वरकी प्राप्तिकी ओर मैं बढ़ रहा हूँ। जब तक आपके मनमें यह आस्था है कि कुछ पाना है और वह करनेसे मिलता है तब तक चुप बैठनेसे आपको कोई उपलब्धि नहीं होगी।

पहली बात तो यह है कि आप जिस वस्तुको चाहते हैं उसपर ध्यान दीजिये कि आप क्या चाहते हैं, फिर आप इस बातपर ध्यान दीजिये कि आप जिस वस्तुको चाहते हैं उसको पानेकी योग्यता भी आपके अन्दर है कि नहीं है। तीसरी बात यह है कि साधक और साधनके सम्बन्धको आपने ठीक-ठीक समझ लिया है कि नहीं। चौथी बात यह है कि कहीं आप उस साधनके अनधिकारी तो नहीं हैं? तो, जो लोग पूरा विचार किये बिना साधनके क्षेत्रमें उतर जाते हैं, साधन उनका दोष-मार्जन नहीं करता है, उनके जीवनमें संस्कार उत्पन्न नहीं करता है।

आप विचार करके देखो कि आपकी वासना पूरी होती है तब आप सुखी होते हैं या कि आपकी वासना मिटती है तब आप सुखी होते हैं–यह आप रोज-मर्रेके काममें देखो। यदि आप वासना पूर्तिमें रस लेते हैं तो साधनका जो फल है वह तो वासनाकी निवृत्ति है उसमें आप रस कैसे ले सकेंगे?

आप जरा इस बातपर ध्यान दो–हमारी घड़ी हमको बहुत प्यारी है, हम चाहते हैं कि इसको कोई उठाकर न ले जाये, यह हमारे साथ बनी रहे और फिर हम आँख बन्द करते हैं समाधि लगानेके लिए, हृदयको एकाग्र करनेके लिए। तो एक बार हम आँख बन्द करके अपने हृदयमें देखते हैं एकाग्रताको और दूसरी बार आँख खोलकर देखते हैं घड़ीको कि घड़ी तो अपनी जगह पर है ना? घड़ी देखते हैं और भीतर देखते हैं, भीतर देखते हैं और घड़ी देखते हैं, फिर कहते हैं कि महात्माजी, आपने मनको शान्त करनेके लिए जो साधन बताया था उससे तो कोई फायदा नहीं हुआ–क्योंकि हमारा मन तो बार-बार भीतरसे बाहर निकल कर जाता है। जबतक आप अपने प्यारकी स्थापना बाहरकी वस्तुमें, बाहरके व्यक्तिमें करके बैठे हैं और चाहते हैं कि हमारा मन शान्तिसे एकाग्र होकर भीतर बैठ जाय तो मन तो आपका एक बार उस प्यारकी वस्तुमें आयेगा और एक बार जब आप बल लगायेंगे तो भीतर जाकर बैठेगा, एक बार सहज स्वभावसे बाहरकी वस्तुमें आयेगा और एक बार आप उसको खींचकर भीतर ले जाकर बैठायेंगे। अब इसमें न महात्माजीका दोष है, न महात्माजीके साधनका दोष है। बात तो यह है कि आप एक जगह तो अपने मनको बलपूर्वक ले जाते हैं और एक जगह आपका मन सहज प्यारसे जाता है। जबतक बाहरकी वस्तुओंमें प्यार रखकर आप मनको भीतर खींचते हैं तबतक आपका मन भीतर कैसे बैठेगा, समाधि कैसे लगेगी, ध्यान कैसे लगेगा?

एक हमारे कोई पन्द्रह-बीस वर्षके सत्संगी हैं, एक दिन कोई आया और उसने उनसे कहा कि आओ हम तुम्हारा तुरन्त ध्यान लगवा दें–तीन मिनटके भीतर। अब महाराज, पहले ही दिन जब वे तीन मिनटमें ध्यान लगवानेके लिए गये तब उसने कहा कि ध्यान लगवानेके लिए आये हो तो दो पैसेकी फूल-माला तो ले आते जिससे श्रद्धा प्रकट होती, खाली हाथ आये हो। उस दिन बात रह गयी। दूसरे दिन दो पैसेकी फूल-माला लेकर गये। जब गये तब उन्होंने एक मन्त्र बताया कि तुम इस मन्त्रका जप करो, तब ध्यान लगेगा। उन्होंने कहा–महाराज, मन्त्र तो हम पहलेसे ही जपते हैं, अब आप यह दूसरा मन्त्र और क्यों बताते हो? उन्होंने कहा कि नहीं, नहीं, हमारे इस मन्त्र पर श्रद्धा करो, इसके जपनेसे तुम्हारा ध्यान लगेगा। बोला–आपने तो तीन मिनटमें ध्यान लगवानेको कहा था। बोले–नहीं भाई, पहले हमारे इस मन्त्रका छह महीने जप करो तब फिर आना, तब ध्यान लगवायेंगे। लगवायेंगे तीन ही मिनटमें, पर पहले इसका जप तो कर लो। एक जगह तो दंगा ही हो गया–मुरादाबादमें! तीन मिनटमें ध्यान लगानेके लिए लाख आदमी इकट्ठे हो गये। फिर पुलिस आयी और ध्यानके बदले ऐसा डंडा मारे कि वहाँसे भागना पड़ा। कहनेका अभिप्राय यह है कि आप केवल वस्तुका मूल्यांकन मत करो, केवल क्रियाका

मूल्यांकन मत करो, अपनी योग्यताका भी मूल्यांकन करो कि आप कौन-सा साधन कर सकते हो।

अब मैं गीताके साधनकी प्रणालीका जो विज्ञान है उसपर आपका ध्यान खींचना चाहता हूँ। कोई भी पुस्तक अपने पन्नेसे पोंछकर आपके अन्तःकरणको शुद्ध नहीं कर सकती। किसी फकीरसे एकने एक बार कहा था कि इस पोथीमें जो ज्ञान है वह हमको तुरन्त दे दो। तो फकीरने कहा कि इसमें दियासलाई लगाओ और इसकी राख बनाकर पी जाओ। पोथीके पन्नेमें ज्ञान नहीं होता है, पोथीके पन्नोंसे पोंछ-पोंछकर अन्तःकरण शुद्ध नहीं किया जाता। अन्तःकरण शुद्ध करनेके लिए प्रत्येक प्रवचन, प्रत्येक पोथी या प्रत्येक उपदेष्टा आपको एक समझदारी देगा और उस समझदारीको यदि आप ग्रहण करते हैं और उसके अनुसार आचरण करते हैं तो आपका कल्याण होगा। कोई क्रिया किसीको उबार नहीं सकती है। क्रियाका फल क्या है? आपको मालूम है प्रत्येक कर्म करनेके बाद एक बुद्धि मिलती है, प्रत्येक कर्म करनेके बाद अपने चित्तमें एक वृत्तिका उदय होता है और उस वृत्तिमें अहं प्रतिफलित होता है, उसीका नाम फल होता है! यज्ञका फल स्वर्गकी अप्सरा नहीं है। यज्ञका फल है आपके अन्तःकरणमें सुखाकार-वृत्तिका आविर्भाव। प्रत्येक कर्म आपका फल आपके अन्तःकरणमें देता है। तो, जब विद्वान् लोग इस बातको समझ जाते हैं तब उनको सुख बनानेकी विद्या आ जाती है। वे कर्मसे सुख बनायेंगे, उपासनासे सुख बनायेंगे, योगसे सुख बनायेंगे, तीनोंको छोड़कर सुख बनायेंगे, क्योंकि वह सुख बननेका जो रहस्य है उसको जान जाते हैं। तो, आओ आपको हम गीता आपके अन्तःकरणका कैसे शोधन करती है यह बतलाते हैं। यह विद्या है। इसे सीखना पड़ता है। मात्र तारीफ करने लग जाओ कि हम बहुत बढ़िया व्याख्यान सुनकर आये तो उससे काम नहीं चलेगा। अब इसका एक लक्षण आपको बतलाते हैं-जो सबके लिए एक ही दवा बतावे वह क्या आयुर्वेदका ज्ञाता है? वह तो एक दवाकी महिमा सुनते-सुनते 'हिप्नोटाईज' हो गया है-जैसे सब रोगीके लिए एक दवा नहीं होती है, वह तो एक श्रद्धाकी विश्वासकी चमत्कारकी बात होती है। ऐसे ही सब साधकोंके लिए एक साधना नहीं होती। करते हैं व्यभिचार, करते हैं अनाचार, तो उसके बदलेमें जब वे कर्म करेंगे तब उनकी शुद्धि होगी। जहाँ कर्ममें दोष है वहाँ कर्मसे उसकी शुद्धि होगी। अब कर्ममें दोष क्या है, यह गीताकी दृष्टिसे आप देखें!

हमारे अन्तःकरणके चार भाग होते हैं-कुछ दोष हमारी बुद्धिमें रहते हैं और कुछ दोष हमारे मनमें रहते हैं! तो मनका दोष मिटानेके लिए या बुद्धिका दोष मिटानेके लिए क्या उपाय करना चाहिए; इस पर आप दृष्टि डालें। अपने अन्तःकरणमें जो कामना है वह हमारी साधनाका एक दोष है; लक्ष्यके सम्बन्धमें जो अज्ञान है वह दूसरा दोष है; भिन्न-भिन्न वस्तुओंके प्रति जो वासना है वह तीसरा है; और मनका जो एक लक्ष्यमें न टिकना है वह चौथा दोष है। अब सब दोषोंकी यदि एक दवा है आपके पास राम-बाण तो बहुत बढ़िया। ईश्वर करे आपकी चमत्कारी दवा आपके जीवनमें सुधार कर दे। परन्तु पहले यह रीति थी कि जब वैद्यके पास कोई रोगी जाता था तो वैद्य यह पहचानता था कि यह पित्त प्रकृतिका है, कफ प्रकृतिका है कि वात प्रकृतिका है, उसीके अनुसार ही चिकित्सा होती थी। यह जुलाब भी जो देते हैं वह पित्त प्रकृतिवाले व्यक्तिके लिए दूसरा होता है और कफ प्रकृति वाले व्यक्तिके लिए दूसरा होता है। लेकिन आजकल तो ऐसी वैज्ञानिक खोज हो गयी है कि सब रोगियोंके लिए एक ही गोली चलती है। पर आध्यात्मिक खोजका ढंग जो है वह बिल्कुल निराला है। कर्ममें जहाँ कामना होती है वह हमारा कर्म कलुषित हो जाता है। अध्यात्म विज्ञान सबको कर्म छोड़नेकी बात नहीं कहता, वह तो कामनाको मोड़ता है, संवारता है या फिर तोड़ता है। आप धनके लिए काम कीजिये, आप विवाहके लिए काम कीजिये, आप ऊँची कुर्सी पर पहुँचनेके लिए काम कीजिये-वह कामना कर्मके लौकिक क्षेत्रकी बात है, परन्तु जहाँ साधनाका क्षेत्र होता है वहाँ लौकिक कामनाके स्थान पर, पारलौकिक कामनाकी स्थापना, अलौकिक कामनाकी स्थापना, निष्कामताकी स्थापना की जाती है। अब देखो-एकके मनमें जुआका अड्डा चलानेकी बात है, पर यदि वह जुएका अड्डा चलाना छोड़कर जगह-जगह यज्ञशाला बनवाये और होम कराने लग जाये तो उसके कर्मका क्षेत्र कितना बढ़िया बदल गया! पर यदि आप उसको कहोगे कि थोड़ी देर एकान्तमें बैठो तो एकान्तमें वह थोड़ी देर

तो बैठेगा लेकिन उठनेके बाद फिर वह वही गड़बड़ करेगा। परन्तु यदि आप उसको एक कर्मके बदले दूसरे कर्ममें लगा देंगे तब वह बुरा कर्म करना छोड़ देगा। एक आदमी भोगके लिए कर्म करता है। अब उसके मनमें यदि आप जमा दें कि जो तुम इस लोकमें भोग चाहते हो तो थोड़ा-सा संयम करो और थोड़ा-सा कर्मकाण्ड करो और इससे परलोकमें तुमको बहुत बढ़िया भोग मिलेगा तो, उस परलोकके भोगके लालचमें वह इस लोकके भोगको थोड़ा संयमित कर सकता है-एक उसको सहारा मिल जाता है। इस तरहसे सकाम कर्म दो तरहका होता है। एक तो संसारकी प्राप्तिके लिए उच्छृङ्खल-कर्म, निषिद्ध-कर्म और एक कामनाकी पूर्तिके लिए शास्त्रोक्त कर्म जिसको कहते हैं धर्म। कामनाकी पूर्तिके लिए निषिद्ध कर्म अशुद्धिका-अधर्मका मार्ग है और धर्म कामनाकी शुद्धिका। आप शास्त्रोक्त रीतिसे ही कर्म कीजिये, शास्त्रोक्त रीतिसे ही भोग कीजिये, इसकी एक व्यवस्था होती है।

असलमें कर्ममें अशुद्धि है कामना और कामना होती है इस लोकमें सुख पानेके लिए, परलोकमें सुख पानेके लिए। यह जो कर्मयोग है-गीतामें जिस कर्मयोगका वर्णन है-वह बड़ा विलक्षण है। यह इस लोक या परलोकमें जो सुख मिलेगा इस ओर आपका ध्यान नहीं खींचता है, यह कहता है कि सुख मिलेगा तो मिलेगा, वह अपने समय पर आप ही मिल जायेगा-आप इस कर्मके मूलमें जो कामना है उस कामनाको मिटानेकी कोशिश कीजिये। अब कामना अपनी कोई मेरी तो है नहीं, कोई दासी तो है नहीं कि हुकुम दे दिया कि हे दासी तुम 'रूम'में मत जाओ और अपने हृदयके रूममें वह कामना दासी आना बन्द कर देगी-ऐसा नहीं हो सकता। उसके लिए तो युक्ति होती है। गीताका कहना है कि आप जितने कर्म करें उसमें भोगकी वासना मुख्य न रखें, अपने कर्तव्यका भाव मुख्य रखें। हमें कर्तव्य पालन करना है एक बात। दूसरी बात-यह कर्म ईश्वरकी पूजाके लिए है और तीसरी बात यह कर्म करनेके बाद मैं शान्त होकर बैठूँगा। दूसरे शब्दोंमें कर्तव्य-बुद्धिसे कर्मका अनुष्ठान, ईश्वरकी पूजाकी बुद्धिसे कर्मका अनुष्ठान, शान्त होनेके लिए कर्मका अनुष्ठान-आपके कर्मकी यह पहचान बताते हैं। आप पोथीके चक्करमें मत पड़ना, आप देखना कि आप जब दिनमें कोई काम करते हो तब काम करनेके बाद आपके मनकी क्या दशा होती है? यदि काम करनेके बाद थककर सो जानेका मन होता है, तो आपने जरूर कोई शर्मदायक, तमोगुणी कर्म किया है। यदि आपके मनमें यह आता है कि यह काम तो बड़ा मजेदार है इसमें खूब भोग मिला है, फिर करेंगे तो फिर सुख-भोग मिलेगा, तो यह रजोगुणी कर्म हुआ है। क्या आपके कोई कर्म करनेके बाद मनमें शान्ति और प्रसन्नताका उदय होता है-तो आपने सात्त्विक कर्म किया है। जो काम करनेके बाद आपके मनमें प्रसन्नता और शान्तिका उदय होता है। वह कर्म सात्त्विक है। जो कर्म करनेके बाद फिर कर्म करेंगे और फिर भोग प्राप्त होंगे-यह वासना होती है वह रजोगुणी कर्म है और जो कर्म करनेके बाद आप थक जाते हैं, या ग्लानि हो जाती है कि हमको यह नहीं करना चाहिए था, या कि यह तो हमारे मनके अनुसार नहीं हुआ अथवा यह कि चाहते थे इसका नतीजा यह निकले और इसका नतीजा निकला यह, तो वह तमोगुणी कर्म है। इसलिए कामनाको सुधारकर अपने कर्मको पवित्र करनेकी जो युक्ति है वह साधनकी वृत्ति है।

एक बात आपको सुनाते हैं-स्वर्गकी कामनासे कर्म करो वह दूसरी बात है और अपने अन्तःकरणको शुद्ध करनेके लिए कर्म करो वह दूसरी बात है। स्वर्गमें जो फल मिलता है वह उधार है और निष्कामतासे जो सुख मिलता है वह नकद है, नकद माल है। कर्म करनेकी साधनाका एक दृष्टिकोण यह है कि हमारा अन्तःकरण शुद्ध और हमारी वासनाएँ निवृत्त हों। एक दूसरा दृष्टिकोण इसका और है-कर्तव्यकी भावनासे कर्म करना, तीसरा है कि ईश्वरकी पूजाकी भावनासे कर्म करना, चौथा दृष्टिकोण है कि असंग रहते हुए कर्म करना।

अब, आप एक दूसरा शोधन देखिये-गीता आपको शोधन बतायेगी। यह कर्मकी एक परीक्षा है। जब आदमी हाथ-पाँव बाँध करके बैठता है तब सोचता है कि मैं कर्म रहित हो गया। गीताका कहना है कि ऐसे आप कर्म रहित नहीं हैं। जिस समय आप कर्म करते हैं उस समय भी यदि आप कर्म कर्तव्य-पालनकी दृष्टिसे करते हैं, निष्काम-भावसे करते हैं, ईश्वरकी पूजाके लिए करते हैं, असंग होकरके करते हैं तो कर्ममें भी अकर्म है अर्थात् कर्म करने पर भी आप कर्म-बन्धनसे युक्त नहीं होंगे और यदि आप हाथ-

पाँव बाँधकर बैठे हैं तो वह हाथ सीधा रखना भी एक कर्म है, पाँव बाँधना भी एक कर्म है, पीठकी रीढ़ सीधी करना भी एक कर्म है, आँख बन्द करना भी एक कर्म है–कर्म ही है वह!

'कर्मण्यकर्म यः पश्येद् अकर्मणि च कर्म यः।' यह गीताकी अपूर्वता है–अपूर्वता–वह कहती है कि जिस समय तुम कर्म करते रहते हो उस समय भी तुम अकर्मरूप हो और जब कर्म न करनेका ढोंग करते हो तब भी तुम कर्म ही कर रहे हो।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।। (4.18)

बुद्धिमान्–वह बुद्धिमान है माने ज्ञानी है; स युक्तः–वह युक्त है माने योगी है; और सः कृत्स्नकर्मकृत्–वह सारे कर्मोंका अनुष्ठान कर रहा है इसलिए कर्मयोगी है। अर्थात् उस एक व्यक्तिमें ही कर्मयोग भी है, ज्ञानयोग भी है, अष्टाङ्गयोग भी है–कब? कि जब वह होते हुए कर्मसे असंग रहता है और न होते हुए कर्ममें जो कर्तापनका सूक्ष्म रूप है उसे देखता है। इस प्रकार कर्म–शोधनकी प्रक्रिया बताती है गीता। आप व्याख्यान सुनिये और कर्म–प्रक्रियाके द्वारा अन्तःकरणमें जो शुद्धि हो रही है उसपर ध्यान दीजिये।

'भागोः भक्तिः'–भक्ति माने विभाजन, विश्लेषण, भाग–एक भाग एक राशि यह है और दूसरा भाग, दूसरी राशि यह है। जैसे यह घड़ी है प्रत्यक्ष; यह यदि ठीक न दीखती हो (आँखसे) तो इसको हम चश्मा लगाकर देखते हैं–चश्माकी सहायतासे हमारी आँख घड़ीको ठीक देख लेती है, इसी प्रकार जब ईश्वरको देखना होता है तब श्रद्धाका चश्मा लगाकर इस प्रत्यक्ष सृष्टिसे निराले ईश्वरको हमारी बुद्धि देख सकती है। परन्तु जब आत्माको देखना होता है तब वह श्रद्धाका चश्मा भी काम नहीं देता है जो परोक्ष ईश्वरके देखनेमें काम आता है। तब दोनों चश्मे (घड़ी देखनेवाला और श्रद्धा वाला) उतार देते हैं और हमारी दृष्टि अनुभव करती जाती है और परमात्माको देखती जाती है। परमात्माको देखना और अनुभव। परोक्ष ईश्वरके दर्शनमें श्रद्धाका चश्मा साथ होता है और बाहरकी वस्तु देखनेमें बाहरका चश्मा साथ होता है और भीतरकी वस्तुको देखनेमें अपनी अनुभूति साथ होती है। अनुभूति सहकृत अन्तर्दर्शन, श्रद्धा-सहकृत परोक्ष दर्शन और यन्त्र सहकृत बाह्य–दर्शन, दर्शनमें तीन प्रकारकी जरूरत पड़ती है। तो हमारा लक्ष्य क्या है? कि अभी लक्ष्य देखा हुआ नहीं है। अगर देखा हुआ होता तो मिल गया होता और उसके लिए लक्ष्य शब्दका प्रयोग ही नहीं होता। लक्ष्य तो तभीतक लक्ष्य है जबतक अप्राप्त है। तो उस अप्राप्त लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए मनुष्यको भाग बनाना पड़ता है, आत्माका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए अनात्मासे आत्माका विवेक करना पड़ता है और ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए प्रत्यक्षको छोड़कर परोक्ष ईश्वरकी भक्ति करनी पड़ती है। आत्माके लिए विवेक होता है और परमात्माके लिए भक्ति होती है; क्योंकि आत्मा अनुभव होता जाता है इसलिए उसका विवेक होता जाता है और परमात्मा पर श्रद्धा–विश्वास करके भक्ति की जाती है। इससे भी परे, इससे भी परे जहाँ सबसे परे मैं हूँ वहाँ दर्शन है, विवेक है और जहाँ इससे परे दूसरा कोई है वहाँ श्रद्धा है, वहाँ भक्ति है। तो यह भक्ति क्या करती है कि हमारे लक्ष्यके सम्बन्धमें बिल्कुल निश्चित रूप लाकर हमारे सामने रख देती है–वह देश–काल–वस्तुका स्रष्टा है, वह देश–काल–वस्तुका द्रष्टा है, वह देश–काल–वस्तुका भर्ता है, वह देश–काल–वस्तुका संहर्ता है, वह देश–काल–वस्तुका अन्तर्यामी है, वह सर्वज्ञ है, वह सर्वेश्वर है। इस प्रकार भक्ति जो है वह हमें क्या पाना है उस लक्ष्यका शोधन हमारे सामने उपस्थित करती है अन्तःकरणमें जो लक्ष्यके सम्बन्धमें एक अन्धकार है उस अन्धकारको दूर करना भक्तिमणिका काम है। हमारे अन्तःकरणमें लक्ष्य–विषयक अन्धकारको दूर करे वह भक्ति है और जो हमारे अन्तःकरणसे कामना मिटावे।

यह कर्मयोग है। अब कर्मका क्या काम है? योगका काम है–हमारी मनोवृत्तियोंको लक्ष्यमें स्थिर करना। साधना साधना होती है, किसीके मजाकका नाम साधना नहीं होता है। एक तान्त्रिकोंकी प्रक्रिया मैंने सुनी थी। आपको तो सब तरहके साधन नहीं मालूम हैं लेकिन हमने तो साधनोंके बारेमें 100 से अधिक सम्प्रदायोंमें किस प्रकारसे साधना की जाती है यह पहले रट रखा था–माने हमको याद था–कि किस प्रणालीके पंथमें साधना क्या है? तो देखना–हम भी अच्छी दृष्टिसे देखनेके लिए नहीं

बतला रहे हैं, उनकी प्रक्रिया बतला रहे हैं-वे कहते हैं कि जब स्त्री-पुरुष सहवास कर लेते हैं तब वासनाका वेग शान्त हो जाता है और जब वासनाका वेग शान्त हो जाता है तब उस समय यदि ध्यान किया जाये तो ध्यान बहुत बढ़िया लगता है। लो! तो फिर क्या वासना नहीं आवेगी? फिर वासना आवेगी और फिर उनको परेशान करेगी। यह मैं आपको जान-बूझकर बता रहा हूँ कि आपको जो बातें साधनाके सम्बन्धमें आजकल बतलायी जाती हैं, उनके बारेमें ठीक-ठीक जानकारी न होनेके कारण आप उनमें फँस जाते हैं। आप जूता बाहर निकाल करके जाकर भीतर बैठ जायँ, पर जब बाहर निकालेंगे तब फिर वही जूता पहनेंगे ना जो बाहर निकालकर गये थे-वह गन्दा है कि मैला है कि फटा है कि पुराना है-जैसा जूता बाहर निकालकर जायेंगे लौटकर आनेपर वैसा ही जूता आपको मिलेगा। यदि आप बाहर भोगमें संलग्न हैं, काममें संलग्न हैं, वासनामें संलग्न है, चोरी-बेईमानीमें संलग्न है तो उसके बाहर फटे-पुराने जूतेकी तरह अगर थोड़ी देर छोड़कर भीतर चले भी जायें तो बाहर निकलने पर फिर आपको वही मिलेगा और आपको उसमें पड़ना पड़ेगा। तो कर्मयोग वह है जो हमारी कामनाको शिथिल करे और भक्तियोग वह है जो हमारे सामने ईश्वरके स्वरूपके बारेमें स्पष्टता लावे और अष्टांग योग वह है जो हमारे मनको लक्ष्यमें एकाग्र कर दे।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः। (6.10)

योगी एकान्तमें बैठे और एकान्तमें बैठकर अपनी आत्माका चिन्तन करे-

एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।। (6.10)

आपने ध्यान दिया कभी-'एकाकी' पर? गुरुजी बोले कि हम कमरेमें बैठते हैं भजन करनेके लिए चलो चेला जी! तुम बाहर बैठना-पाँच बजे हमारे लिए एक गिलास पानी लाकर देना, छह बजे चाय लाकर देना और सात बजे जरा गर्मी बढ़ जायेगी तो तुम आकर पंखा झलने लगना, और स्वयं बैठ गये योग करनेके लिए! तो एकाकी कहाँ हुआ? कभी-कभी लोग पूजा-पत्री करने बैठते हैं तो घरवालोंको परेशान कर देते हैं-हम पूजा करनेके लिए बैठते हैं और तुम हमारी मदद नहीं करते। अरे भई! दूसरेको परेशान करनेका नाम पूजा-पत्री नहीं होता, वह तो तुम एकको दुःख पहुँचाकर अपनी पूजा करना चाहते हो।

'यतचित्तात्म' क्या? यहाँ मच्छर काट गया तो पट मार दिया; होठ सूखने लगा तो अपनी जीभसे ही चाटने लगे! वह जो मच्छर बैठता है वह मच्छर नहीं होता, मनका ख्याल होता है; वह जो होठ सूखता है वह होठ नहीं सूखता, मनका ख्याल होता है-तुम अपने मनको मच्छर-मक्खीसे बचाकर बैठना।

अच्छा, भजनसे उठेंगे और उठकर दुकान पर जायेंगे-आशा लगाये बैठे हैं तो 'निराशी' कहाँ हुआ! बड़ी जल्दी है महाराज, ईश्वर आज ही मिलना चाहिए-हमारे पास ऐसे लोग आते हैं जो अल्टीमेटम देते हैं कि आज ही ईश्वरका दर्शन होना चाहिए; तीन महीनेके भीतर मिलना चाहिए बस! बस क्या? कि फिर हम संसारका काम करेंगे। एक नौकर मालिकके पास गया और बोला-मालिक हमारी तनख्वाह बढ़ा दो नहीं तो...। बोले-नहीं तो माने क्या? बोला-नहीं तो माने हम काम करते रहेंगे जैसे करते आ रहे हैं। ऐसे ही तीन महीनेमें हमको ईश्वर मिलने चाहिए नहीं तो...। नहीं तो क्या? कि हम शराब पीने लगेंगे। अब ईश्वरको बड़ी गरज पड़ी है कि वह तुमसे मिलनेके लिए आवे! निराशी रहकर भजन करना है। उठकर यह काम करना है-पाँच मिनटके भीतर ईश्वर मिल जाये; क्योंकि ठीक दस बजे जाकर दुकान खोलना है-हे भगवान्! तो ईश्वरको क्या गरज पड़ी है।

अब 'एकाकी यतचित्तात्मा, निराशीके साथ अपरिग्रह भी रखना है। बोले-कि यह तो ठीक है कि हम दूसरेसे नकद-वकद तो नहीं लेते हैं, पर जब भजन करने बैठते हैं तब एक ओर थोड़ी-सी मिठाई भी रख लेते हैं, एक ओर थोड़ा दूध भी रख लेते हैं, एक ओर थोड़ा नमकीन भी रख लेते हैं कि पूजा करते-करते कभी मनमें आया तो मुँहमें जरा नमकीन डाल लिया, कभी मिश्री डाल ली मुँहमें और कभी थोड़ा दूध पी लिया-यह तो 'परिग्रह' हुआ। भजन ऐसे नहीं होता है। अपने मनको बिल्कुल अपने स्वरूपमें या परमेश्वरके स्वरूपमें स्थित करनेके लिए-

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्। (6.25)

गीताका कहना है कि अपने मनको शरीरसे बाहर मत जाने दो, और

किसी वस्तुका चिन्तन मत करो। 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा' अपने लक्ष्यमें, आत्मामें अपने मनको स्थिर करके दूसरी वस्तुका चिन्तन छोड़ दो–'न किंचिदपि चिन्तयेत्' तब देखो तुम्हारे पास क्या आता है–

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।।
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्म संस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।।
(6.27-28)

शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।। (6.15)

यह देखो यह हुआ कि अन्तःकरणकी शुद्धिमें जो वासना-अंश था उसका निवारण किया कर्मयोगने और जो लक्ष्यके बारेमें अस्पष्टता थी उसका निवारण किया भक्तियोगने और मनमें जो स्थिरता नहीं थी उस स्थिरताको निर्मित कर दिया योगने, लेकिन बुद्धिमें जो एक भ्रम नामकी वस्तु बैठी हुई है वह चतुर्थ दोष है यही सत्य है, यही परमार्थ है, यही सर्वोपरि वस्तु है कि नहीं है। इस भ्रमकी निवृत्तिके लिए ज्ञानका सहारा लेना पड़ेगा–

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। (4.38)
निष्ठा ज्ञानस्य यापरा। (18.50)

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादिन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।।
विविक्तसेवी लध्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।।
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।
(18.51-55)

चार स्थिति हुई। कर्मयोगके द्वारा वासनाका क्षय, भक्ति-योगके द्वारा परमात्माके स्वरूपका–भजनीयके स्वरूपका ज्ञान, अष्टांग-योगके द्वारा मनकी स्थिरता और अद्वैत-तत्त्वका बोध! तो, गीता जो है वह हमारे अन्तःकरणके चार भागका शोधन करनेके लिए है, बुद्धि-शोधनके लिए असलमें ये चारों बात–एक बुद्धिके ही चार रूप हैं, कर्मयोग भी बुद्धियोगका ही एक रूप है–भक्तियोग भी बुद्धि-योगका ही रूप है, अष्टांग योग भी बुद्धियोगका ही एक रूप है और तत्त्वज्ञान भी बुद्धियोगका ही एक रूप है–

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते। (10.10)

किसीने कहा–गीता अनासक्ति योग है, किसीने कहा गीता कर्मयोग है, किसीने कहा गीता भक्तियोग है, किसीने कहा गीता ज्ञानयोग है। मगर गीतामें सिर्फ बुद्धियोग है। बुद्धिसे भला क्या नहीं मिल सकता? गीतामें सर्वत्र बुद्धिकी प्रशंसा है।

लेकिन गीतामें न बुद्धि जीविका है और न बुद्धिवाद है, गीतामें बुद्धियोग है–'बुद्धियोगमुपाश्रित्य; ददामिबुद्धि योगं तं येन मामुपयान्ति ते' और आजके युगमें हम समझते हैं कि बुद्धियोगसे बढ़कर और कोई योग हो ही नहीं सकता। एक आँख-बन्द योग है (अष्टांग योग); एक हाथ-बन्द योग है (हाथ जोड़कर देवताकी प्रार्थना) एक पाँव-बन्द योग है भगवान्के चरणोंमें (प्रपत्तिया) शरणागति, एक मुँह बन्द योग है (मौन)–ये सब योग जो हैं वे अलग-अलग युगोंमें होते हैं; लेकिन यह युग बुद्धियोगका है और इसमें गीता हमें बुद्धियोगका उपदेश देती है!

प्रवचन : 8

धर्म-भक्ति-योग-ज्ञानके संस्कारोंसे जीवनकी निर्मलता

गीता उपनिषदोंका सार है। उपनिषदोंका सार किसने निकाला? कि श्रीकृष्णने निकाला। किसके लिए निकाला? अर्जुनके लिए निकाला। गीताके द्वारा उपनिषदोंकी प्रामाणिकता स्थापित होती है, इससे उपनिषदोंकी-वेदोंकी प्रतिष्ठा बढ़ती है। वेदोंका सार है, उपनिषदोंका सार है-गीता! गीता हमारे जीवनका संस्कार करती है। संस्कार शब्दका अर्थ आपको पहले सुना चुका हूँ-जो मैल हो शरीरमें उसको धोना और उसको स्निग्ध बनाना और जिस अंगकी न्यूनता हो उसको परिपूर्ण करना! जैसे दोष-दुर्गुण दूर करना एक, सद्‌गुणोंको-शम-दमादिको जीवनमें ले आना-दो और तत्त्वज्ञान जीवनमें नहीं है तो उसको पूर्ण करना! कल एक सज्जन कह रहे थे कि हम बहुत वर्षोंसे प्रयत्न कर रहे हैं कि हमारे जीवनमें अमुक-अमुक दोष दूर हो जायँ, पर कह रहे थे कि वे दूर होते नहीं हैं, घूम-फिर कर फिर आ जाते हैं। फिर उन्होंने यह भी कहा कि कभी-कभी ऐसा लगता है कि बाल्यावस्थामें जैसा स्वभाव बन जाता है वह छूटता नहीं है। तो देखो, मनुष्य अपने साथ एक स्वभाव लेकर आता है। यह बात तो सच्ची है कि बड़ (वटवृक्ष) का एक स्वभाव होता है, पीपलका एक स्वभाव होता है, अंगूरका एक स्वभाव होता है, करेलेका एक स्वभाव होता है; परन्तु सिंचाईके द्वारा, खादके द्वारा, छँटाईके द्वारा, मिश्रणके द्वारा उनमें अनेक प्रकारके परिवर्तन किये जा सकते हैं। हमारे एक मित्रने एक आमका पेड़ लगाया-धनी आदमी हैं, उसको वे दूधसे सींचते रहे-यह अबकी बात नहीं है, अबसे कोई तीस-चालीस वर्ष पहलेकी बात है-तो दस वर्ष तक लगातार आमका वह पेड़ दूधसे ही सींचा गया। इससे उसमें जो फल आये उनसे दूधका स्वाद आता था! वह पेड़ आमके बीजसे लगाया गया था, परन्तु उसके फलमें स्वाद आता था आम और दूधका-दोनोंका मिश्रित कभी-कभी आमकी फसल जब होती थी तब वे मेरे लिए भेजा भी करते थे-मैंने वह आम खाया है! इसका अर्थ है कि यदि हम कायदेसे अपने जीवनमें छँटाई करें, खाद दें, सिंचाई करें, सद्‌गुणोंका मिश्रण करें तो हमारे गन्धमें, हमारे स्वादमें, हमारे सौन्दर्यमें, हमारी सुकुमारतामें हमारे शब्दमें परिवर्तन हो सकता है! यह जो मनमें निराशा आ जाती है कि हमारे स्वभावका परिवर्तन नहीं हो सकता वह एक साधकके लिए उचित नहीं है। हमेशा साधकके मनमें यह होना चाहिए कि **कार्यं वा साधयामि शरीरं वा पातयामि** अर्थात् या तो हम अपने लक्ष्य, अपने आदर्शके अनुसार अपने जीवनका निर्माण करेंगे अथवा इसी काममें लगे-लगे मर मिटेंगे। यह जो साधनमें निराशा आती है-यह जो साधनमें उदासीनता आती है, यह मनकी निर्बलता है। यही तो हमें गीता सिखाती है।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयं दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप।। (2.3)

आप हृदयकी दुर्बलताको अपना स्वभाव, अपना स्वरूप न मान बैठें। योगवासिष्ठका कहना है कि हाथ-से-हाथ-दबाकर, दाँत-से-दाँत पीसकर-आप अपने साधनमें लगिये, आपको सफलता मिलेगी। आपका कोई भी कर्म, कोई भी संकल्प विफल नहीं जायेगा-'उठिये, जागिये, कल्याणकारी कर्मोंमें जुट जाइये, निश्चय रखिये आपको सफलता मिलेगी, और मिलेगी।'

अब एक दूसरी बात-एक सज्जनका कहना है कि मंत्र, यंत्र, साधन ऐसा बताना चाहिए जिसमें विधि-विधानका बन्धन न हो। पर इसमें आप प्रश्नकर्ताका एक मनोविज्ञान देखो-उसको विधि-विधान पसन्द नहीं है, उसे स्वेच्छाचार पसन्द है। जब हम उनको जैसे आप सुनते हैं-

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।।

यह कलिसंतरणोपनिषद्‌में मन्त्र है, इसमें प्रश्न उठाया गया-कोऽस्य विधिनिषेधः? तो उत्तर दिया गया नास्य विधिनिषेधः-इसमें कोई विधि-निषेध नहीं है। जब आदमी यह सुनता है कि इसमें कोई विधि-विधान नहीं है तो हम इसको करेंगे, तब उसका अर्थ होता है कि विधि-विधानमें उसकी रुचि नहीं है-मनोवैज्ञानिक रूपसे ही उसके मनमें जो विधि-विधानके प्रति

अरुचि है वह प्रगट हो जाती है। इसी तरह जब हम सुनते हैं कि एक मन्त्र है–'स्वेच्छाचारो विधिस्मृत:'–जिसमें स्वेच्छाचार ही विधान है तो मनमें बड़ी खुशी होती है और वह खुशी भीतरसे यह लेकरके निकलती है कि हमारी स्वेच्छाचारमें रुचि है। जब वह सुनता है कि इस मन्त्रका जप करो और स्वेच्छाचार करो–चाहे जो खाओ, चाहे जो पिओ, चाहे जैसे रहो, तुम्हारा यह मन्त्र सिद्ध हो जायेगा और इस मन्त्रकी तारीफ सुनकर मन्त्रमें रुचि होती है, तो इसका अर्थ होता है कि कहीं–न–कहीं भीतर अन्जानमें स्वेच्छाचारके प्रति उसकी रुचि छिपी हुई है। अच्छा! फिर शास्त्रोंमें, सद्‌गुरुओंने ऐसा कहा क्यों? इसका भी एक अभिप्राय है–कहा इसलिए कि मनुष्यसे कहीं–न–कहीं, कभी–न–कभी कोई त्रुटि होती है। तो त्रुटि होनेपर, गलती होनेपर, अनुष्ठानमें न्यूनता आनेपर, उसको इतनी ग्लानि न हो जाय कि वह इस मन्त्रको, तन्त्रको ही छोड़ बैठे। तो जान–बूझकर दोष किये जानेकी बात नहीं है, बल्कि उसका अर्थ यह होता है कि यदि कदाचित् दोष आ गये तो उस मन्त्रसे, उस साधनसे ही स्वयं उस दोषकी निवृत्ति हो जायेगी, उसके लिए अलगसे कोई प्रायश्चित नहीं करना पड़ेगा। इस प्रकार मन्त्र–माहात्म्य–सूचक जो वचन होते हैं वे विधायक नहीं होते हैं, बल्कि मन्त्रमें निष्ठा दृढ़ करनेके लिए और मन्त्रके प्रति मनुष्यको लगानेके लिए होते हैं। अत: केवल माहात्म्यको देखकर मनुष्यके जीवनमें स्वेच्छाचार नहीं आना चाहिए।

अब हम आपको गीताका संदेश सुनाते हैं–जितनी निष्ठासे धन कमानेके लिए एक व्यापारीको लगना पड़ता है, भोग चाहने वालेको जितनी निष्ठाके साथ भोगकी वस्तु प्राप्त करनेमें लगना पड़ता है, एक धार्मिकके यज्ञ–याज्ञादि करनेमें जितनी वस्तु, जितने सहायक और जितने परिश्रमकी आवश्यकता पड़ती है, वही अर्थोपार्जनवाला परिश्रम और वही भोग–वासनावाली इच्छा और वही धर्मानुष्ठानवाली मर्यादा जब तीनोंको मिलाकर हम परमेश्वरकी प्राप्तिके लिए साधन करते हैं तब यही साधन लगन बन जाता है। कहते हैं–इनको लगन लग गयी है; उसमें वह वासना जो काम–भोगकी पूर्तिके लिए है वह प्रेम–भक्ति बन जाती है और जो धर्ममें मर्यादा, नियम, कायदे, कानून होते हैं वे चित्तके दोषोंके निवारणके लिए सावधानी बन जाते हैं। अर्थके लिए जैसा प्रयत्न होता है वैसी लगन चाहिए; काम–भोगके लिए जैसी वासना होती है वैसी ईश्वरके लिए प्यास चाहिए और धर्मानुष्ठानके लिए जैसी मर्यादा होती है योगाभ्यासमें बैसी निवृत्ति चाहिए, तब जाकर मनुष्यका यह मन परमेश्वरमें लगता है।

एक बात और आपको सुनाते हैं। शास्त्रमें परमेश्वरकी प्राप्तिको कहीं–कहीं बहुत सुगम बताया है और कहीं बहुत कठिन बताया है। गीतामें ही यदि आप देखेंगे तो दोनों तरहकी बात आपको मिल जायेगी।

अव्यक्ता हि गतिर्दु:खं देहवद्भिरवाप्यते। (12.5)

देहाभिमानी पुरुषके लिए यह अव्यक्त चाल, अव्यक्त गति बड़े कष्टसे मिलती है। दूसरी जगह आप देखेंगे–

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते। (6.28)

सुखेन–बड़ी आसानीसे अनायास मिलता है।

प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् (9.2)

करनेमें बड़ा सुख है, सुसुख है–इसका अर्थ यह है कि दुनियामें दो तरहके आदमी मिलते हैं–एक तरहके आदमी जब सुनते हैं कि यह काम बड़ा मुश्किल है तब उनका उत्साह भंग हो जाता है और वे कहते हैं कि इतनी मुश्किल साधना कौन करे और वह भी एक अन्जाने, अनदेखे, अनसिले ईश्वरकी प्राप्तिके लिए। तो ऐसे लोगोंके लिए यह कहना पड़ता है कि ईश्वरकी प्राप्ति बहुत सुगम है, ताकि उनका उत्साह कम न हो। पर कोई–कोई सज्जन ऐसे होते हैं कि यदि उन्हें कोई वस्तु कम कीमत अथवा कम प्रयत्नमें मिलती है तो वे उसको पसन्द नहीं करते हैं। मैंने सुना है कि लन्दनकी किसी दुकानमें कोई श्रीमतीजी कपड़ा खरीदनेके लिए गयीं। एक ही कपड़ा दो तरहकी पैंकिगमें रखा हुआ था। एकको कीमत ज्यादा थी, एककी कम, तो उन्होंने ज्यादा कीमतवाला कपड़ा लेना पसन्द किया, कम कीमतवाला लेना अपनी शानके खिलाफ समझा। तो किसी–किसीकी रुचि ऐसी होती है कि खूब परिश्रमसे जो वस्तु मिलेगी उसे हम प्राप्त करेंगे। तो दोनों तरहके लोगोंको ईश्वरके रास्तेमें आकृष्ट करनेके लिए कहीं ईश्वरकी प्राप्तिको मुश्किल बताया गया है और कहीं ईश्वरकी प्राप्तिको सुगम बताया गया है।

अपि पुष्पावदलनाद् अपि लोचनमीलनात्

फूलको मसलना जितना सुगम है, आँखको मींचना जितना सुगम है

उससे भी ज्यादा सुगम है-ईश्वरको प्राप्त कर लेना, क्योंकि ईश्वर कोई दूसरी जगह तो है नहीं; वह यहीं है, अभी है और अपना-आपा ही है-तो ऐसे ईश्वरकी प्राप्तिमें क्या कठिनाई है? तो यह दोनों तरहकी बात जो है वह असलमें मनुष्यको ईश्वरकी ओर उत्साहित करनेके लिए कही जाती है और स्वेच्छाचार (विधि-निषेध राहित्य) की बात इसलिए कही जाती है कि अपनी कमजोरियोंमें जो आदमी उलझा है वह भी निराश न हो!

एक बात यह भी कही जाती है कि पहले ध्यान कर लें, ज्ञान हो जाय, उसके बाद जीवनमें जो सुधार होगा अपने आप हो जायेगा। माने पहले हम अपना चरित्र सुधारने लग जायँ, खान-पान सुधारने लग जायँ, दोष-दुर्गण दूर करने लग जायँ तो वह होता तो है नहीं; इसलिए आओ पहले ध्यान-ज्ञान कर लें। जैसे कि ध्यान-ज्ञान बड़ा सुगम हो, सरल हो! बाहरकी क्रिया तो सुधारती नही हैं और पहले मन सुधर करके ध्यानमें, ज्ञानमें लग जाये। तो यह भी ठीक है इस दृष्टिसे कि चलो किसी प्रकार विवेक तो जाग्रत हुआ मनुष्यके जीवनमें; उसने यह तो सोचा कि हाँ, भीतर ध्यान करना अच्छा है, भीतर ज्ञान प्राप्त करना अच्छा है। यह जो लोग बोलते हैं कि आत्माके भीतरसे ही सब सद्‌गुण निकल आवेंगे वे दरअसल सगुणवादी हैं—आत्मा कर्ता है, आत्मा सगुण है। उनके मतसे जब ध्यान करने लगेगा, जब अपने स्वरूपका ज्ञान इसको होगा तक सब सद्‌गुण इसमें-से निकलेंगे। परन्तु वे निर्गुण सिद्धान्तको नहीं जानते हैं। असलमें जैन-पन्थमें आत्मा—यह जो एक उज्ज्वल, निर्मल इकाईके रूपमें बैठा है, दरअसल साधनके पहले कर्ता है। आपको यह भी ध्यानमें होगा शायद कि जब आप घंटे भर साक्षी-भाव में अवस्थित होते हैं तो वह जो आपका साक्षीभाव है वह भी कर्तापनका एक विलास है, इसको तो निर्गुणिया लोग जानते हैं; क्योंकि जब भाव किया गया और आप घण्टे भर इस भावको धारण करके बैठे, भाव उत्पन्न हुआ, भाव रहा, भाव छोड़ दिया गया तो वह तो कर्तापनमें-से एक भाव आया और एक भाव गया। तो असलमें साधनाके अनेक पथ हैं, इनमें कोई खण्डन करने योग्य नहीं है। परन्तु, उसके बारेमें जो गलतफहमी है वह मालूम होनी चाहिए। हमें तो आपसे यह कहना है कि गीता आपको कभी दोष-दुर्गणसे युक्त नहीं रहने देना चाहती। गीता आपको निर्मल, उज्ज्वल बनाना चाहती है, आपके जीवनको ऐसा चमका देना चाहती है कि जिन्होंने आपको कल देखा है वह आज देखें और कहें कि अरे, यह तो महात्मा हो गया। जिन्होंने कल आपको दुरात्मा माना था वे आज आपके निर्मल जीवनको, उज्ज्वल जीवनको, धुले हुए जीवनको देखकर ऐसा मानें कि यह तो महात्मा हो गया। और यदि कोई ज्ञानी भी बने, ध्यानी भी बने, भगत भी बने और अपने जीवनकी मलिनताओं परित्याग न करे तो—

बुद्धवाद्वैतस्वतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे।।

(पंचदशी 4.55)

यदि ज्ञान होनेपर भी, ध्यान होनेपर भी, यदि यथेष्टाचरण होता है तो एक कुत्तेके जीवनमें और ऐसे तत्त्व-ज्ञानीके जीवनमें क्या भेद रहेगा? जब दोनों गन्दी चीज खा सकते हैं—कुत्ता भी गन्दी चीज खा सकता है और ज्ञानी भी गन्दी चीज खा सकता है तो दोनोंमें फर्क कहाँ है? इसलिए, यह जो आध्यात्मिक मार्ग है, इसका अर्थ यह है कि जैसे आप अपना घर साफ देखना चाहते हैं, जैसे आप अपने कपड़ेको साफ देखना चाहते हैं, जैसे आप अपने शरीरको साफ देखना चाहते हैं वैसे आप अपने मनको भी निर्मल और उज्ज्वल देखना चाहें। यह आध्यात्मिक जीवन निर्मलताका प्रतीक है, उज्ज्वलताका प्रतीक है। आध्यात्मिक जीवन माने सातवें आसमानका जीवन नहीं। आध्यात्मिक जीवन माने भोगकी निर्मलता, कर्मकी निर्मलता, वाणीकी निर्मलता, मनोभावकी निर्मलता, आपकी बुद्धिकी-ज्ञानकी निर्मलता आपके जीवनसे सम्पूर्ण वासनाओंको धो-बहानेके लिए आपका यह हितकारी आध्यात्मिक जीवन आया है; आपको ज्यों-का-त्यों दुनियामें रख देनेके लिए या गन्दगीमें फेंक देनेके लिए या यथेच्छ आचार करनेके लिए, उच्छृङ्खल बनानेके लिए यह आध्यात्मिक जीवन नहीं आया है। इसलिए, सब लोग इसमें न आवें तो इसकी फिक्र नहीं करनी चाहिए। आप जब कभी जंगली लोगोंमें जाते होंगे और या पहाड़ी लोगोंमें जाते होंगे तो झोपड़-पट्टीमें जाते होंगे और जाकर वहाँका कपड़ा, वहाँका रहन-सहन देखते होंगे तो आपके मनमें आता होगा कि इनकी भी उन्नति होनी चाहिए, ये भी साफ कपड़ा पहने, इनके पास भी घर हो। तो, आप बाहरकी वस्तुओंके बारेमें तो

ऐसा चाहते हैं और खास अपने ही जीवनके बारेमें यह ध्यान नहीं देते हैं कि आपका जो अन्दरूनी जीवन है, आपके जो भीतर है, वह कितना गन्दा है!

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।। (16.21)

यह आध्यात्मिक जीवन आपको स्वच्छताकी शिक्षा देता है। काम, क्रोध और लोभ नरकके द्वार हैं और आत्माको मलिन करने वाले हैं 'तस्मात् एतत्त्रयं त्यजेत्'-इसलिए काम, क्रोध और लोभ-इनका परित्याग करना चाहिए।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यामनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।। (16.22)

'एतैर्विमुक्तः कौन्तेय'-इनसे मुक्त हो करके इस मार्गपर चलिये और अपने कल्याणका साधन कीजिये। हमारे स्वामीजी श्रीयोगानन्दजी महाराज ऐसे कहते थे कि देखो भाई, पहले तुम अकेले थे, तुम्हारी जो मर्जी होती थी सो तुम करते थे, अब तुम हमारे साथ जुड़ गये हो, अब तुम यदि कोई बुरा काम करोगे तो अकेले तुम्हारी बुराई नहीं होगी, हमारी भी बुराई होगी, इसलिए तुम सिर्फ अपनेको बुराईसे बचानेके लिए नहीं, हमको भी बुराईसे बचानेके लिए अपने आचरण और अपने चरित्रको पवित्र रखो। जब हम सत्संगमें जाते हैं, सन्तोंका संग करते हैं, व्याख्यान सुनते हैं, कुछ धारणा-ध्यान करने लगते हैं तो उस समय यदि हमारे जीवनमें कोई बुराई रहती है तो अकेले हमारी नहीं रहती है; लोग कहेंगे कि देखो यह सत्संगी! तुम्हारा नाम नहीं लेगें, बोलेंगे-ये तो बड़े सत्संगी हैं! तो, अपने जीवनको स्वच्छ, निर्मल बनानेका जो प्रयास है वह कभी मत छोड़ो-यह सत्संगका संन्देश है, यह आध्यात्मिक सन्देश है, यह गीताका, उपनिषद्का सन्देश है। यदि कोई आपको जीवनमें मलिनता लानेके लिए उत्तेजित करता है, प्रेरणा देता है कि आप अपने जीवनको मैला बना लो तो, मलिनता तो संसारमें सब कहीं होती है, सत्संगमें भी जाकर यदि आपने वही प्राप्त की तो क्या प्राप्त किया? जीवनकी निर्मलता सत्संगमें ही निखरती है। असलमें भक्ति और ज्ञान-ये दोनों निर्मल-चित्तमें ही पूरी तरहसे प्रकट होते हैं? जहाँ चित्तमें पूरी निर्मलता नहीं होती वहाँ ये प्रकट नहीं होते। इसलिए, गीतामें-से जब आप यह ग्रहण करें-

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।। (2.21)

जिसने अपने अविनाशी आत्माको जान लिया कि यह नित्य, अविनाशी, अजन्मा और अव्यय है, फिर उसके जीवनमें किसीको मारने, मरवानेका सवाल ही कहाँ होना चाहिए? अर्थात् उसका कर्तृत्व छूटकर मोह भी छूट जाता है, शोक-मोह निवृत्त हो जाता है। आप जब यह देखो-तब आप यह भी ग्रहण करें कि आत्माका यह ज्ञान निर्मल जीवनमें ही हो सकता है।

एक परिवारमें किसीने देवताकी आराधना की। देवता खुश हुआ। उसने कहा कि वर माँगो। उस व्यक्तिने यह वर माँगा कि परिवारमें सबसे बड़ी उम्र हमारी हो। एक दृष्टिसे तो यह बहुत अच्छा लगता है कि परिवारमें उसकी उम्र सबसे बड़ी हो गयी। परन्तु, अब हुआ क्या कि उसके सामने ही उसके बेटे, पोते, नाती सब मरने लगे। अब जितने मरें उतना ही दुःख हो। वे बोले-बाबा, यह उम्र बढ़वा करके तो मैंने बड़ा भारी दुःख मोल ले लिया। अब उसने देवतासे कहा कि महाराज, आपने कृपा करके हमारी उम्र तो बढ़ा दी, चार सौ वर्षकी, छह सौ वर्षकी हमारी उम्र हो गयी, लेकिन, हमारा दुःख भी तो बढ़ा दिया। हमारे सामने हमारे बेटे, पोते, नाती-हमसे छोटे-छोटे सब-के-सब मरते जा रहे हैं, परिवारमें सबसे बड़ी उम्र हमारी। तब देवताने उससे कहा कि देखो, अब इस दुःखसे छूटनेका उपाय यह है कि तुम किसीसे मोह-ममता मत करो। मोह-ममता नहीं करोगे तो तुमको दुःख नहीं होगा, नहीं तो शोक-मोह जो हैं वे तुमको घेरे रहेंगे-

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्-

यह जो तुम्हारा आत्मा है यह अविनाशी है, कभी इसका विनाश नहीं होता है, हमेशा रहता है यह, कभी इसका जन्म नहीं होता है-यह अजन्मा है। इसका अर्थ इतना होता है कि यदि तुम अविनाशी-अजन्मा होकर दूसरे मरनेवालोंके साथ मोह-ममता करोगे तो तुमको रोज-रोज दुःखी होना पड़ेगा। जिन्दगीमें कितनी चीजें आयीं और गयीं-कपड़े-लत्ते कितने आये और गये-ऐसे-ऐसे कपड़े आये जो कभी बहुत अच्छे लगे, लेकिन, वे छूट तो गये ना; ऐसा-ऐसा मकान मिला जो रहनेमें बड़ा सुविधाजनक था, लेकिन वह छूट तो गया ना; ऐसे-ऐसे मित्र मिले जो बड़े ही प्रेमी, लेकिन वे छूट तो

गये ना? तो तुम्हारा जीवन है अविनाशी और संसारमें जो चींजे आकर तुमसे मिलती हैं वे हैं विनाशी–यदि तुम गीताके इस अविनाशीपनेको–'वेदाविनांशिनं नित्यं'–यदि तुम अपने अविनाशीपनेको जानते हो, तुम पहचान गये कि आत्मा अविनाशी है तो कम–से–कम विनाशी वस्तुओंके लिए शोक–मोह तो नहीं होना चाहिए ना? तो यह शोक–मोह जो अन्तः-करणमें हैं, इनका प्रक्षालन ही इष्ट है। हम प्रारम्भके दिनसे आपको यह बात सुना रहे हैं कि हमारे अन्तःकरणमें जो दोष हैं उनको झाड़–फूँक करके बिल्कुल अलग कर देना संस्कारका उद्देश्य होता है। भले वह बुद्धिका भ्रम है तो भ्रमको दूर करे, शोक–मोह है तो शोक–मोहको दूर करे और राग–द्वेष है तो राग–द्वेषको दूर करे और दुश्चरित्रके प्रति रुचि है तो उस दुश्चरित्रताके प्रति रुचिको भी दूर करे–यह गीताका उद्देश्य है। यदि गीता हमारे जीवनको निर्मल न बनाती हो–एक सुअर सरीखा जीवन बनाती हो, एक पशु सरीखा हमारा जीवन बनाती हो तो, गीता–ज्ञानकी जरूरत ही क्या रही?

तो हमारे अन्तःकरणके दोषोंके निवारणमें ही, हमारे दोषोंकी निवृत्तिमें ही शास्त्रका तात्पर्य है और इसके लिए आप देखो गीतामें! एक–एक बात आपको इसकी क्या सुनावें–आप भक्ति पर ध्यान दो। हमारे एक सेठ हैं वे माला बहुत फेरते हैं। धनी आदमीको तो वे बिना ब्याजके पैसा दे सकते हैं या साधारण ब्याजपर दे सकते हैं–आठ आना ब्याज पर, बारह आना ब्याजपर पैसा देते हैं। और जब गरीबको देना हो वे दो रुपये, पाँच रुपये ब्याजपर पैसा देते हैं। जब तुमको धर्ममें खर्च करना है–जब तुमको अस्पताल बनाना है, जब तुमको प्याऊ लगवाना है, जब तुमको विद्यालय बनवाना है तो तुम गरीबसे इतना ब्याज क्यों लेते हो? पहले बेईमानी करके, दूसरोंकी गाँठ काट करके, दूसरेको सता करके पैसा अपने पास खींचते हो, और फिर कहते हो कि हम धर्मके काममें खर्च करते हैं। जब धर्मके काममें खर्च करना है तो उसको गरीबके घरमें ही रहने दो न वहाँसे खींचनेके लिए अधर्म क्यों करते हो? तुम अधर्मसे पैसा खींचोगे तो उससे क्या धर्मकी उत्पत्ति होगी? हाथमें जपमाला होनेसे धर्मकी उत्पत्ति नहीं होती है; ज्यादा पूजा–पाठ, भण्डारा करनेसे धर्मकी उत्पत्ति नहीं होती है। धर्मकी उत्पत्ति तब होती है जब हमारे हृदयमें सद्भावना हो। आप देखो हमारी गीतामें आप एक भक्तका दर्शन करो–

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।। (12.16)

भक्तकी यह रूप–रेखा है! क्या रूप–रेखा है? अनपेक्षः–किसीसे कोई अपेक्षा नहीं; शुचिः–मन निर्मल है उसका पवित्र है। पवित्र माने धोया हुआ कपड़ा नहीं, पवित्र माने हाथमें माटी लगाना नहीं, पवित्र माने रेशमी कपड़ा या अपरसके कपड़े पहनना नहीं।

शौचानामपि सर्वेषां अर्थशौचम्।
यस्यार्थैः शुचिर्हि शुचिः न मृद्वारि शुचिः शुचिः।।

मनुजीने कहा कि 'शुचि' कौन है? बोले–संसारमें पवित्रताके जितने नियम हैं उनमें सबसे बड़ा यह नियम है कि मनुष्यका धन पवित्र हो, मिट्टी और पानीसे कोई पवित्र नहीं होता जिसका धन पवित्र है वही पवित्र होता है। धन पवित्र कैसे होगा कि जब वह पवित्र कर्मसे उत्पन्न होगा; जब वह पवित्र व्यवहारसे हमारे पास आवेगा।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।

यह भक्तका एक चित्र है, यह भक्तकी एक तस्वीर है जो भगवान्ने खींची है। आप बताओ–सारी गीतामें है कहीं कि किस रंगका कपड़ा पहनेगा तो भगत होगा–लाल, कि पीला कि सफेद कि नीला? बता दे कोई कि है गीतामें एक श्लोक, आधा श्लोक अथवा चौथाई श्लोक इस बारेमें? अच्छा, कौन–सा चन्दन लगावें–मलयागिरि लगावें कि गोपीचन्दन लगावें कि कुंकुम लगावें कि देवी-चन्दन लगावें–कौन–सा चन्दन लगावें तो भगत होंगे–है गीतामें? अच्छा आड़ा चन्दन लगावें कि खड़ा चन्दन लगावें–कौन–सा लगावें तो भक्त होगें–है गीतामें? भगवान् अपने भक्तकी कोई ऐसी पहचान नहीं बताते हैं। वे बताते हैं–*'निर्मल मन जन सो मोहि पावा।'*

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुख क्षमी।। (12-13)

अपने भक्तकी कैसी तस्वीर भगवान् खींचते हैं–किसीसे उसका द्वेष नहीं है, वह सबकी भलाई चाहता है, सबके ऊपर करुणा करता है। उसमें पक्षपात नहीं होता।

'निर्ममो निरहंकारः'–ये हमारे पंथके हैं–यह ममता भी भक्तमें नहीं

होगी। ये हमारी जातिके हैं, ये हमारे परिवारके हैं, ये हमारे सम्प्रदायके हैं, ये हमारी उम्रके हैं, ये हमारे वर्गके हैं–किसी भी प्रकारसे ममता न होना, अहंकार न होना, द्वेष न होना–यह भक्तका लक्षण है। यही तो हमारे हृदयकी निर्मलता है। यह भक्ति जब आपके जीवनमें आवेगी तब आपको निर्मल बनावेगी।

देखो, आपको योग कैसा निर्मल बनाता है। योग तो कहता है कि हम तुम्हें दुःखको छूने नहीं देंगे। सबसे बड़ी जो मलिनता है–मलिनताका जो नतीजा है, वह दुःख है। योग जब आपके जीवनमें आवेगा तब आप जिस दुःखसे परहेज करते हैं जिससे बचना चाहते हैं वह दुःख हमेशाके लिए चला जायेगा। योग नाम किसका है? कि–

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्। (6.23)

जैसे कि हमारी यह जो घड़ी है यह कई तरहसे सुरक्षित है–गिर जाये तब भी न टूटे, पानीमें डूब जाये तब भी न खराब हो–'वाटर प्रूफ', शॉक प्रूफ'–यह घड़ी ऐसी बनायी गयी है। उसी प्रकार यदि आप साधन करेंगे तो वह आपको 'दुःख प्रूफ' बना देगा। कैसे बनावेगा–तं विद्याद् दुःख-संयोग-वियोगं–आप शब्दके प्रयोगपर ध्यान दें जरा। दुःख वियोग नहीं है, दुःख-संयोग-वियोग है–माने जैसे चोट लगे और उसका असर न पड़े; जैसे घड़ी पानीमें गिर जाये तो पानीका असर उसपर न पड़े। वैसे 'दुःख-संयोग-वियोग'का अर्थ है–दुःखके समुद्रमें, दुःखकी आगमें, दुःखके तूफानमें आप पड़ जायें और दुःखका संयोग आपको न हो–'दुःख-प्रूफ'का अर्थ यह होता है। यह नहीं होता कि 'दुःख-वियोगं'–दुःख हो ही नहीं। एक भक्तके सामने मृत्यु आयी। अब वह तो हाथमें लेकर करताल–वैसे तो पड़ा था खाटपर, लेकिन नाचने लगा। बोले–भगतजी, आज बड़े खुश दीख रहे हो, क्या बात हो गयी! बोले–बहुत दिनोंसे अपने प्यारेसे, प्रभुसे अलग था, आज वह दिन आ गया है जब मैं अपने प्यारेके पास जा रहा हूँ, आजसे बढ़कर खुशीका दिन हमारे जीवनमें और क्या होगा? तो दुःख-संयोग-वियोग यह क्या हुआ, कि यह संस्कार हुआ, यह प्रक्षालन हुआ। आपके अन्तःकरणको ऐसा बना दिया गया कि जिसमें दुनियाके बाहरी दुःखोंका संयोग न हो, सरक जाय।

एक आदमीके घरमें चोर आया। उसने बताया कि महाराज, हमने पकड़ लिया था, लेकिन वह तो छुड़ाकर भाग गया। मैंने कहा कि तुम तो बड़े तगड़े हो, एक बार पकड़ लिया तुमने तो फिर तुमसे छूट कैसे गया? उसने कहा कि महाराज लँगोट पहने हुए था और सारे शरीरमें उसने ऐसा तेल लगाया हुआ था–ऐसा चिकना उसका शरीर हो गया था कि जहाँसे मैं पकड़ता वह सरक जाता। तो उस समय उसका शरीर 'पकड़-प्रूफ' हो गया था तो बोले कि यह नहीं कि उसको पकड़ा नहीं, पकड़ा, पर इतना चिकना था कि पकड़का कुछ असर नहीं पड़ा। गाँवमें धानकी जो खेती होती है, उसमें कीचड़ होता है–वह तो जुता हुआ खेत होता है मजदूर जब काम करने जाते हैं–जब पानीमें-से घास काटने जाते हैं तब ऐसा तेल लगाकर जाते हैं अपने शरीरमें कि पानीका कुछ असर ही न पड़े। आपको इस दुःखमयी सृष्टिमें काम करना है तो आपको अपने हृदयमें कोई ऐसा मसाला लगाना पड़ेगा, ऐसा संस्कार करना पड़ेगा कि उसपर दुःखका कुछ असर न पड़े, नहीं तो दिन भरमें सत्रह बार हँसेंगे और सत्रह बार रोयेंगे, तो आपका दिल कैसे काम करेगा? 'मूडी' आदमी संसारमें कोई सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। एक दृढ़ निश्चयसे काम करना पड़ता है! मनुष्यके मनका पता तो उस समय लगता है जब उसके मनके विपरीत कोई काम होता है! ऐसे मनुष्यके मनका कोई पता नहीं लगता। प्रेमसे देखता रहता है, हँसता रहता है, मुस्कुराता रहता है; उसके भीतर क्या भरा हुआ है यह बात तो तब निकलकर आती है जब उसके मन के खिलाफ कोई काम होता है। तो योग माने क्या होता है कि बाहर जितनी भी दुःखकी आँधी चल रही हो, दुःखकी आग बरस रही हो, दुःखके ओले पड़ रहे हों, दुःखका सुमद्र उमड़ रहा हो, परन्तु हमारा अन्तःकरण ऐसा बन जाये कि उसपर इनका कुछ असर न पड़े–इसका नाम योग होता है–

'तं विद्याद् दुःख-संयोग-वियोगं योग-संज्ञितम्'।

कैसे?

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः। (6.21)

आपको आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति होगी–आत्यन्तिक माने अन्तका

जो अतिक्रमण कर गया हो–जिस सुखका कभी अन्त न हो, ऐसा सुख आत्यन्तिक सुख है। माने आपका सुख जो है वह कालसे कट न सके और बुद्धिग्राह्यम्–कहीं जाकर उसे न प्राप्त करना पड़े और अतीन्द्रियम्–अर्थात् इन्द्रिय और विषयका संयोग करके प्राप्त न करना पड़ता हो। आपको सुख वह चाहिए जिसमें भोगके लिए इन्द्रियोंको विषय नहीं चाहिए और जिसमें बुद्धिको स्थानान्तरित न करना पड़ता हो और जिस सुखका अन्त कालसे न हो–माने हर समय रहे, हर जगह रहे और संसारके विषय हों, चाहे न हों वह बना रहे–ऐसी स्थिति जब आपके चित्तकी बनती है–माने दुःखका नितान्त बहिष्कार, माने दुःख आपको बिल्कुल छू न सके–इसीका नाम होता है आत्मसंस्कार! यह हमारा साधन, यह हमारा अभ्यास, यह हमारा योग, यह हमारे आध्यात्मिक ग्रन्थ–ये क्या करते हैं कि ये दुःखकी नितान्त निवृत्ति कर देते हैं और दुःखकी नितान्त निवृत्ति कब होगी जब दोषकी नितान्त निवृत्ति होगी। तो यह दोषोंका संस्कार करनेके लिए, दोषोंको मिटानेके लिए उनकी जगहपर सद्गुण भरनेके लिए और आपकी बुद्धिमें जो विपर्यय है–माने जो बुद्धि कभी-कभी सुखको दुःख मान बैठती है और दुःखको सुख मान बैठती है, इस उल्टी बुद्धिको मिटानेके लिए गीता है।

विपर्ययको थोड़ा और समझिये। आपका आत्मा है सुखस्वरूप और हमेशा रहनेवाला मगर आप जरा बुद्धिका विपर्यय तो देखो–कि जो चीज आपके पास हमेशा रहती है उसके रहनेको तो सुख नहीं मानती है, जो चीज कभी आती है और कभी चली जाती है–उनके आनेको सुख मानती है–इसीका नाम बुद्धिका विपर्यय है। इसको यों समझो–एक स्त्री है। उसका पति उसके साथ रहता है। घरमें उसके रहनेको तो वह सुख नहीं मानती है–उल्टे उसमें खोट निकालती रहती है कि आज इतनी देरसे क्यों आये, आज यह चीज क्यों नहीं ले आये, आज यह काम क्यों नहीं किया, आज ऐसे क्यों नहीं बोले, आज ऐसे क्यों नहीं देखा–और जो कोई सम्बन्धी, रिश्तेदार; पहलेके परिचित घरमें चार दिनके लिए आते हैं तो कहती है यह बड़ा सुख लेकर आये हैं–यह विपर्यय मति है उस स्त्रीकी। पतिमें सुख नहीं है देवरमें सुख है–प्राप्तमें सुख नहीं है, अप्राप्तमें सुख है; सुलभमें सुख नहीं है दुर्लभमें सुख है–इसीका नाम विपर्यय हो गया! तो देखो हमारा वेदान्त क्या कहता है कि आपकी बुद्धिमें जिससे रोशनी आती है, आपकी बुद्धिमें जिससे सुख आता है, आपकी बुद्धिमें जिससे जीवन आता है वह आत्म-वस्तु, वह आत्म-तत्त्व, वह अविनाशी परमात्मा आपके पास जो हमेशा बैठा है उससे जो सुख है उसपर तो नजर नहीं–वह तो मानो कुछ है ही नहीं, उसका तो होना–न होना बराबर, उसपर तो कभी नजर ही नहीं जाती और जो चीजें आने-जानेवाली हैं उनपर नजर रखती है बुद्धि, उनको सुख मानती है बुद्धि! वह तो रोशनीकी एक झलक है, रोशनीकी एक चमक है! कितनोंको मैंने पैदा होते भी देखा है, जवान होते भी देखा है और बाल पकते भी देखा है पर जिसने यह सब देखा है उसपर नजर ही नहीं गयी। हम देखते हैं कि जवानी कितनी जल्दी आती है और चली जाती है। हाथ मलते हैं कि जवानीमें तो चूक गये! आये हुए मेहमानमें तो सुख है, रास्तेपर चलते हुए आदमीमें तो सुख लगता है, दूसरेके घरमें रखे हुए धनमें तो सुख है–अरे बाबा, तुम भी तो कुछ हो। उधर ध्यान ही नहीं जाता। बोले–यही तो विपर्यय है! विपर्यय क्या हुआ? कि उल्टी बुद्धि। यह उल्टी बुद्धि बहुत बड़ा दुःख दे रही है। इस उल्टी बुद्धिको मिटानेके लिए अध्यात्म-शास्त्र आते हैं। अपने आपका मूल्यांकन करो, अपने आपको देखो! हमारे कर्मका, हमारे भोगका, हमारे भाषणका और हमारे संग्रहका–चार बातका संस्कार करता है। हमारी वासनाएँ शुद्ध हों–यह संस्कार लेकरके आती है–भक्ति; और हमारे मनकी चंचलता शान्त हो यह संस्कार लेकरके आता है–योग; और हमारे अपने आपका जो मूल्यांकन है; क्योंकि संसारमें जितने दुःखी हैं वे दूसरेका मूल्यांकन कर-करके दुःखी हैं और अपने आपको भूलकरके दुःखी हैं, आत्माके इस मूल्यांकनको जागृत करता है–वेदान्त, तत्त्वज्ञान :

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।। (2.16)

जो नहीं है वह हो नहीं सकता, जो है वह मिट नहीं सकता; और आत्मा मिट नहीं सकता और जो नहीं है आता-जाता हुआ दीखता है वह कभी सच्चा हो नहीं सकता! इसलिए, दोनोंका रहस्य समझकर महात्मा लोग अपने स्वरूपमें स्थित रहते हैं!

प्रवचन : 9

अस्मिता-दोषकी निवृत्तिके उपाय-1

गीता श्रद्धा और बुद्धि दोनोंमें समन्वय स्थापित करती है। कई लोग श्रद्धा-श्रद्धा-श्रद्धा करके बुद्धिको निर्बल बना देते हैं और कई लोग बुद्धि-बुद्धि-बुद्धि करके श्रद्धाको निर्बल बना देते हैं। आप जानते हैं गीतामें बुद्धिकी सर्वोपरि महिमा है-कर्मयोगके लिए भी बुद्धि चाहिए-

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु। (2.39)

माने बिना बुद्धिके कर्मयोग भी नहीं होता और बिना बुद्धिके सांख्ययोग भी नहीं होता। दोनोंके लिए एक विवेक-बुद्धिकी आवश्यकता होती है, क्योंकि कोई भी कर्म, कोई भी उपासना, कोई भी योग, कोई भी साधना औचित्यकी सीमाका उल्लघंन नहीं करती है। अनौचित्यमें रस नहीं है, बल्कि पाँव रखना हो, हाथसे काम करना हो, बोलना हो, खाना हो, पीना हो, देखना हो-सबमें, औचित्यकी आवश्यकता होती है। जिस चीजको, जिस व्यक्तिको हम देख रहे हैं उसकी ओर देखना उचित है कि नहीं-इस बुद्धिकी, इस विवेककी आवश्यकता वहाँ भी होती है। हमारे साहित्यिक लोग तो कहते हैं कि औचित्य अतिरिक्त रसकी और कोई स्थिति ही नहीं है-जहाँ औचित्यका भंग होगा वहाँ रसका भङ्ग हो जायेगा।

अब श्रद्धाकी बात देखो-

श्रद्धत्स्व सौम्य! अननुभूतो न मनः प्रष्टुमर्हति।

श्रद्धा करो बेटा! जो वस्तु कभी अनुभवमें नहीं आयी है वह मनका स्पर्श नहीं कर सकती। तो मनमें कोई बात आती है तो उसका कहीं-न-कहीं इस जन्ममें, पूर्वजन्ममें, ज्ञानमें, अज्ञानमें कहीं-न-कहीं उसका अनुभव है। 'श्रद्धत्स्व सौम्य' श्रुतिका कहना है-सौम्य! श्रद्धा करो। 'श्रद्धया सत्यम् आप्यते'-श्रद्धासे सत्यकी प्राप्ति होती है।

'श्रद्धां प्रातर्हवामहे'-हम प्रातःकाल श्रद्धाका आवाहन करते हैं। ज्ञानकी प्राप्तिके लिए भी श्रद्धाकी आवश्यकता है-'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं'-श्रद्धावान्को ज्ञानकी प्राप्ति होती है। आप देखते हैं बालक प्रारम्भमें अनुकरण-प्रिय होता है, वह अपने माँ-बापको जैसा करते देखता है, अपने भाई-बहनको, अपने बड़े-बूढ़ोंको जैसा करते देखता है, अपने परिवारमें, अपने सम्प्रदायमें, अपनी जातिमें जैसे जो काम होता है उसका वह अनुकरण करता है। हमारे पास आते हैं लोग और अपने बच्चेसे कहते हैं कि प्रसाद लो, तो वह डरता है और लिपट जाता है, अपने माँ-बाप-भाई-बहनसे, लेकिन, जब वे स्वयं प्रसाद लेने लग जाते हैं अथवा जब दो-चार जने और प्रसाद ले लेते हैं तब बच्चा स्वयं आकर प्रसाद ले लेता है। तो कोई भी काम बच्चेसे पहले लेना हो तो आप वैसा कीजिये, उसको देखकर बच्चेको स्वयं श्रद्धा हो जायेगी और वह वैसा करने लगेगा और जब बच्चा बड़ा हो जायेगा तब उसके अन्दर विवेकका उदय होगा और तब वह उचित-अनुचित सब सोच-विचार कर सकेगा।

आपको पहले सुनाया कि जो हमारे जीवनको सँवारता नहीं सुधारता नहीं, हमारे जीवनके दोषोंको दूर नहीं करता वह शास्त्र नहीं है। शास्त्र कहते ही उसको हैं जो मनुष्यके जीवनका संस्कार करे। जानमें-अन्जानमें, देखकर-सुनकर, नकलमें-असलमें जो हमारे जीवनमें बुराइयाँ आ गयी हैं, वे दूर होनी चाहिए। इसके लिए गीता हमें श्रद्धा भी देती है और बुद्धि भी देती हैं। आप देखें-'श्रद्धात्रय विभाग योग' नामका एक अध्याय ही है गीता में-सत्रहवाँ अध्याय। आप भले उसपर कम ध्यान देते हों, पर एक अध्याय ही गीतामें ऐसा है जो श्रद्धाका विभाजन बताता है-यह सात्विकी श्रद्धा है, यह राजसी श्रद्धा है, यह तामसी श्रद्धा है; और भागवत्में तो एक चौथी श्रद्धा भी है-उसका नाम रक्खा हुआ है-निर्गुण श्रद्धा। आप भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें देख लेना-निर्गुण श्रद्धा। सात्विक श्रद्धासे भी बन्धन पूरा छूटता नहीं है, राजस श्रद्धासे तो बन्धन होता ही है और तामस श्रद्धा बन्धनको गाढ़ करती है निर्गुण श्रद्धा वह होती है जो हमारे बन्धनको शिथिल कर देती है। जहाँ हम एक ओर गीतामें देखते हैं कि बुद्धियोगकी सर्वोपरि-निरतिशय महिमा है, (वहीं

श्रद्धाकी भी महिमा बतायी हुई है)। किसी भी एक योगकी इतनी महिमा गीतामें नहीं है जितनी बुद्धियोगकी है, यदि आप परमात्मामें मन लगाना चाहते हैं तो–

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव। (18.57)

परमात्मामें मन लगाना बुद्धियोगसे होगा! जब आप परमात्माको समझने लगेंगे कि परमात्मा ऐसा, परमात्मा ऐसा, परमात्मा ऐसा तो आप सूर्यकी ओर देखेंगे तो परमात्मा दीखेगा, चन्द्रमाकी ओर देखेंगे तो परमात्मा दीखेगा, अपने जीवनकी ओर देखेंगे तो परमात्मा दीखेगा, धरतीमें परमात्मा, पानीमें परमात्मा, अग्निमें परमात्मा, वायुमें परमात्मा–जब आप बुद्धियोगका आश्रय लेंगे तो देखेंगे कि ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है जहाँ परमात्माका दर्शन नहीं होता। आप ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो–

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते। (10.10)

लीजिये बुद्धियोगसे आपको ज्ञान मिलेगा, परमात्माकी प्राप्ति होगी। परमात्मामें मन लगानेके लिए भी बुद्धियोग–और परमात्माकी प्राप्तिके लिए भी बुद्धियोग। क्या आश्चर्य है? कर्मजनित-बन्धनकी निवृत्तिके लिए भी बुद्धियोग है: 'कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः' (2.51) और फल-कामनाका परित्याग करनेके लिए भी बुद्धियोग है। आपके जीवनमें आप कामनावश, पक्षपात-वश, मोह-वश होकर पक्षपात न करें, किसीसे द्वेष न करें–इसके लिए भी बुद्धियोगकी आवश्यकता है।

आप देखो–आपके ध्यानमें बुद्धियोगकी छह बात रहनी चाहिए–

(1) बुद्धियोगीके मनमें संसारकी किसी भी वस्तुके लिए ऐसी कामना नहीं होती कि उस वस्तुकी प्राप्तिके लिए वह अन्याय-अत्याचार करे–यह बुद्धियोग आपका संस्कार करता है!

(2) बुद्धियोगी दूसरेसे तृप्त नहीं होता, अपने आपमें ही तृप्त होता है।

(3) बुद्धियोगी दुःखमें घबड़ाता नहीं और सुखको बनाये रखनेके लिए अपनी दृष्टिको सीमित नहीं करता।

(4) जीवनमें कभी अच्छा आता है, कभी बुरा आता है। बुद्धियोगी शुभके अभिनन्दनमें और अशुभके द्वेषमें इतना नहीं लग जाता है कि अपने आपको ही भूल जाये।

(5) बुद्धियोगीके अन्दर चाहे जब अपनी इन्द्रियोंको समेटकर बैठ जानेका सामर्थ्य होता है वह दुनियाकी किसी भी वस्तुके त्यागमें समर्थ होता है, यह बुद्धियोगीकी महिमा है।

(6) बुद्धियोगी वह होता है जिसको आत्म-रसकी अनुभूति हो जाती है और उसको संसारकी किसी भी वस्तुमें राग नहीं होता है।

तो, बुद्धियोगकी ऐसी निरतिशय महिमाका, वर्णन गीतामें प्राप्त होता है! आप देखना बुद्धिसे ही वैराग्य होता है और योगकी, समाधिकी प्राप्ति भी बुद्धिसे ही होती है।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।।
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।

(2.52-53)

बुद्धिसे कामनाकी निवृत्ति, बुद्धिसे समाधि, बुद्धिसे वैराग्य, बुद्धिसे कर्म-बन्धनकी निवृत्ति, बुद्धिसे शोक-मोहकी निवृत्ति-एक बहुत बड़ी बुद्धि लेकर गीता हमारे जीवनमें प्रकाश करती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह जो दुःखका मूल है वह असलमें चार भागोंमें बँट गया। दुःख क्या? कि धनका हरण हो गया–यह दुःख है–ऐसा संसारमें लोग मानते हैं; जनका, स्वजनका, परिजनका मरण हो गया–इसको दुःख मानते हैं; अपमान हो गया–इसको दुःख मानते हैं पर ये सारे दुःख इसलिए आते हैं कि हम हड्डी-मांस, चामके इस शरीरमें 'मैं' करके बैठे हैं। देखो, हम ईश्वरके बारेमें भी चाहते हैं तो क्या चाहते हैं–बुरा मत मानना चाहनेवालों–हम यह चाहते हैं कि इस चामकी आँखके सामने भगवान् आकर खड़े हो जायँ–यही चाहते हैं ना? माने भगवान्‌के दर्शनका केन्द्र भी ये चामकी ही आँखें! भगवान्‌का दर्शन इन चामकी आँखोंसे होता है यह बात सच्ची है, पर सच्ची होनेपर भी हमारा 'मैं' कहाँ है इस पर भी तो विचार करो! भगवान् कूड़ेपर आकर क्या दर्शन नहीं दे सकते? एक भक्त अघासुरके मुँहमें घुसा हुआ हो तो भगवान् वहाँ भी दर्शन देते हैं। यह ठीक है; गाँवका कूड़ा-कचरा डाल दिया गया हो कहीं और एक भक्त यदि जाकर

उसके ऊपर बैठ जाये तो भगवान् करुणा-वरुणालय, परमकृपालु वहाँ भी दर्शन देनेके लिए आ सकते हैं, भगवान्के लिए कुछ असम्भव नहीं है, पर अपनी ओर भी तो देखना चाहिए कि हम भगवान्को अपनेसे मिलनेके लिए कूड़ेकी जगह पर बुला रहे हैं कि मुसाफिर-खानेमें बुला रहे हैं, कि बसके अड्डेपर बुला रहे हैं, कि चौपाटीपर बुला रहे हैं-कहाँ हम भगवान्से मिलना चाहते हैं? उनके लिए कोई एकान्त कमरा है, उनके लिए कोई स्वच्छ स्थान है? और फिर दर्शनकी इच्छा क्यों है? हमारा मन भगवान्में लग जाये ऐसी इच्छा क्यों नहीं है?

इसलिए ना कि एक बार भगवान् दर्शन देकर चले जायँ और फिर हम काममें, क्रोधमें, लोभमें, मोहमें फँस जायँ-भगवान्को भी बदनाम करावें कि भगवान्के भक्त ऐसे होते हैं। हम ऐसा क्यों नहीं चाहते कि हमेशाके लिए हमारा मन भगवान्में लग जाय? तो नारायण, आप ध्यान दो कि दुःख आपके जीवनमें क्या है-यह जो हड्डी-मांस-चाम और इसके सम्बन्धियोंके मैं-पनेमें और मेरेपनेमें डूबा हुआ मैं है-यहीं दुःख है, यही है। जो दुनियामें दोस्त और दुश्मन बनाकर अपने दोस्तको आगे बढ़ानेमें और अपने दुश्मनको पीछे छोड़नेमें लगा हुआ मैं है वही दुःखी है! जहाँ-कहीं सूक्ष्म अस्मिता है, माने मैं-पना है वहीं दुःख है।

हमको याद है कि बचपनमें जब हमको कोई कहता था कि तुम तो दुश्मनी करते हो तो बहुत दुःख होता था। एक बार हम बलियामें गये थे, तो वहाँ एक उत्सव हो रहा था और उत्सववालोंने हमको आमन्त्रित तो किया नहीं था कि हम उत्सवमें जायँ। हम जिनके घरमें गये थे वहीं बैठकर सत्संगकी चर्चा शुरू हो गयी और जब सत्संगकी चर्चा शुरू हो गयी तो 1000-500 आदमी ऐसे इकट्ठे हो गये। तो उस आदमीने हमारे लिए कहा कि ये हमसे दुश्मनी रखते हैं और हमारा उत्सव बिगाड़नेके लिए आये हैं-जबकि हमारी उससे कोई जान-पहचान भी नहीं थी। जब हमको यह बात मालूम पड़ी तब हम अपना सत्संग छोड़कर उसके उत्सवमें बिना बुलाये ही जाकर बैठ गये कि बाबा! तुम्हारा उत्सव नहीं बिगड़े, बन जाये। तो, हमको दुःख कब होता था कि जब हमसे कोई कहता कि तुम द्वेष करते हो, तुम राग करते हो-इन बातोंको सुनकर हमको दुःख होता था। अच्छा, देखो दुःख क्यों होता था, उसमें हमारा क्या दोष था सो आपको बताते हैं-उसका कहना दोष नहीं था, उसको जैसा मालूम पड़ा, बेचारेने कहा, दोष हमारा था। क्या दोष था हमारा कि हम यह सोचते थे कि यह हमको महात्मा क्यों नहीं कहता; यह हमको महात्मा नहीं मानता है द्वेषी मानता है। वह जो महात्मापनकी अस्मिता हमारे भीतर घुसी हुई थी वह हमको दुःख देती थी। ऐसे एक नहीं अनेक प्रसंग हमारे जीवनमें आये जब हम केवल अस्मिताके कारण दुःखी हुए। अस्मिता माने अहंकी सूक्ष्म वासना, 'अस्मेर भावः अस्मिता'-परिच्छिन्न अहंमें स्थिति।

तो, हमारे दुःखका हेतु क्या है कि देह और देहके सम्बन्धियोंमें इतना डूब जाना कि मानवताकी, मनुष्यताकी, परमात्माकी दृष्टि ही छूट जाना। हमारे दुःखका हेतु क्या? किसीका मरना हमारे दुःखका हेतु नहीं है-वह तो बाहर होता है और दुःख भीतर होता है। दुःखका हेतु वहीं होता है जहाँ दुःख होता है-जहाँ चिन्गारी होती है वहाँ आग जलती है-जहाँ राग-द्वेषीपना होता है वहाँ दुःख होता है; जहाँ अस्मिता होती है वहाँ दुःख होता है; जहाँ बेवकूफी होती है वहाँ दुःख होता है। कई बार आदमी बड़े प्रेमसे कोई बात कहता है, और हम उसको समझ नहीं पाते हैं तो दुःखी हो जाते हैं।

अच्छा, तो अब आप इस बातको देखो-आप देहमें-से मैं-को निकालो-धर्माध्यासके द्वारा देहाध्यासको दूर करो। एक सज्जन हमारे पास आये। बोले-आप तो कहते हैं पहले यह करो, पहले वह करो, हम कहते हैं कि पहले ज्ञान हो जायेगा, पहले ईश्वरका अनुभव हो जायेगा तो जो करनेको आप कहते हैं वह स्वयं ही हो जायेगा। माने उनका कहना यह था कि करना तो मुश्किल है और ईश्वरका अनुभव सुगम है। वे यह कहते थे कि ईश्वरका अनुभव पहले होता है-वह साधन है और ये दुनियाकी जो चीजें हैं ये बादमें मिलती हैं ये फलरूप हैं। असलमें जहाँ हम होते हैं, वहाँसे चलना होता है, साधन होता है, जहाँ हमें पहुँचना है वहाँ साधन नहीं होता है; जहाँसे हमको निकलना है वहाँसे साधन प्रारम्भ होता है। तो हम कहाँ बैठे हैं? देहमें ना! वहाँसे निकालनेके लिए साधन होना चाहिए। इस देहसे पहले हम थे, बादमें हम रहेंगे, यह देह जहाँ है वहाँ भी हम हैं। धर्म हमसे कहता है

कि देह इसी कालमें है, जिस कालमें नहीं रहेगा तब भी तुम रहोगे, और इस कालमें है उस कालमें नहीं था, तब भी तुम थे। धर्म कहता है और इस देशमें है, इस देशमें नहीं रहेगा तब भी तुम रहोगे; और धर्म कहता है कि मनुष्यके रूपमें इस समय तुम हो, जब यह मनुष्य शरीर नहीं रहेगा तब भी तुम रहोगे। यह धर्म देहमें-से हमारे मैं को निकालता है! अन्जानमें निकालता है, बिना विवेकके निकालता है!

अच्छा, राग-द्वेष तो प्रत्यक्ष ही दुःख है। यदि आपको राग-द्वेष दुःख नहीं मालूम पड़ता है तो संसारमें आपको कोई काट भी डालेगा तब भी आपको दुःख नहीं मालूम पड़ेगा। कितना गन्दा है वह मन जो किसीकी मुहब्बतमें फँसा हुआ है, उसके लिए प्राण तड़प रहे हैं, उसके बिना हम मर जायेंगे ऐसा ख्याल हो रहा है और यह नहीं सोचता है कि इससे फँस जानेके कारण हमको दुःख हो रहा है। जैसे बन्दरने छोटे मुँहवाले बर्तनमें चना निकालनेके लिए हाथ डाला और फँस गया। बर्त्तन था गड़ा हुआ टस-से-मस होता नहीं, और वह चनेको तो छोड़ता नहीं है और कहता है कि हमारे ऊपर डंडे पड़ रहे हैं, हम मारे जा रहे हैं, हम बाँधे जा रहे हैं! द्वेषकी आग जल रही है हृदयमें, पर आदमी अपनेको दुःखी नहीं समझता है!

हमें आज आपसे मुख्य बात करनी है असलमें अस्मिताके बारेमें-हमें दुःख क्यों हुआ? हमें दुःख यों हुआ कि हम परिच्छिन्नतामें 'मैं' करके कहीं बैठे हैं। जब हमको कोई बड़ा विद्वान् नहीं समझता है तब हमको दुःख होता है; जब हमको कोई त्यागी नहीं समझता है तब हमको दुःख होता है; जब हमको कोई शान्त समाधिस्थ नहीं समझता है तब हमको दुःख होता है! तो शान्त-समाधिस्थ भी एक परिच्छिन्न स्थिति है, ज्ञानीपना भी एक परिच्छिन्न स्थिति है। अपनी बात आपको सुनाते हैं-बचपनमें सब तरहकी बात होती है-तो हम तो समझते थे अपनेको ज्ञानी बल्कि सोलहों आने अपनेको ब्रह्मज्ञानी समझते थे तबकी बात है यह-तो एक महात्माके पास गये। अब हम चाहते थे कि वे हमको ब्रह्मज्ञानी मानकर बात करें-देखो, यह मूर्खताकी बात है कि नहीं? अब उनके पास हम गये थे, जाकर उनको प्रणाम किया था, उनके सामने नीचे बैठे थे उनसे कुछ पूछनेके लिए गये थे तो वे हमको ब्रह्मज्ञानी मानकर, ब्रह्मनिष्ठ मानकर बात करें-इसकी क्या जरूरत ? उन्होंने बड़े प्रेमसे हमको कहा कि तुम निदिध्यासन किया करो। देखो, उन्होंने श्रवण करनेको नहीं कहा, माने हमारे निश्चयमें कोई संशय प्रकट नहीं किया, हमको मनन करनेको नहीं कहा, हमको कहा कि निदिध्यासन किया करो। अब मैं अपने मनमें सोचने लगा कि ये हमको साधक समझते हैं क्योंकि ये हमको निदिध्यासन करनेके लिए कहते हैं? लो! अब आपके मनमें ये सब बातें नहीं आती होंगी हम जानते हैं, आप सब लोग बहुत समझदार हैं, लेकिन मैं अपनी नासमझीकी बात आपको सुनाता हूँ कि उस महात्माके बारेमें मेरा यह ख्याल हुआ कि ये हमको निदिध्यासन करनेके लिए कहते हैं जिससे विपर्ययकी निवृत्ति होती है! अपने मनमें तुरन्त श्लोक याद किया पंचदशीका जिन्हें ज्ञान न हो वे श्रवण करें, मैं जानता हूँ मुझे श्रवणकी क्या जरूरत है?

शृण्वन्तु अज्ञाततत्त्वास्ते जानन् कस्माच्छृणोम्यहम्।
मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येहम् असंशयः।।

(पंचदशी 14.47)

जिनको संशय हो वे मनन करें हम निःसंशय हैं हमको मनन करनेकी क्या जरूरत है।

विपर्यस्तो निदिध्यासेत् किं ध्यानं अविपर्यये।
देहात्मत्व-विपर्यासं न कदाचिद् भजाम्यहम्।।

(पंचदशी 14.48)

जिसको विपर्यय हो सो निदिध्यासन करे हमारे तो विपर्यय है ही नहीं तो हमको ध्यानकी क्या जरूरत है, क्योंकि मैं देहात्मा हूँ यह विपर्यय तो हमारे कभी आता ही नहीं है।

अब जब याद आती है कभी उस बातकी कि उन्होंने जब मुझे निदिध्यासन करनेको कहा तो हमारा मन कैसा बना-तब अपनी मूर्खता पर हँसी आती है। यह कोई ब्रह्मज्ञानीका लक्षण नहीं है। यदि अपनेको कोई जीवात्मा समझ करके, जिज्ञासु समझ करके, साधक समझ करके अच्छी बात कह दे तो हम तुरन्त अपनेको मन-ही-मन ब्रह्मज्ञानी घोषित कर दें-यह ब्रह्मज्ञानीका नहीं अस्मिताका लक्षण है। यह बात ज्यादा सत्सङ्ग

करनेवालोंके मनमें भी रहती है और जिन लोगोंने सत्सङ्ग नहीं किया है उन बेचारोंके सिर पर तो अभिनिवेश ही बैठा हुआ है–वे तो हड्डी-मांस-चाममें डूबे हुए हैं, परिच्छिन्न जीव-भावकी समाधिका अभिमान तो उनको होगा ही कहाँसे? अब यह अभिमान चाहे किसी भी प्रकारका हो वह आसुरी-सम्पत्तिके अन्तर्गत आता है–

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्।। (16.4)

आसुरी सम्पदा अभिमान बनाती है। इस अस्मिताको दूर करनेके लिए बड़े सूक्ष्म बुद्धियोगकी आवश्यकता होती है। इस सम्बन्धमें एक तो आप अपने बारेमें सोचिये कि आप क्या हैं? जब आप अपने बारेमें विचार करेंगे तब आप देखेंगे कि अस्मिता क्षीण होती है। एक दूसरी बात ईश्वरके ऐश्वर्यके बारेमें सोचिये। एक व्यावहारिक बात आपको सुनाते हैं कि जहाँ आपके मनमें अभिमान आता हो वहाँ आप अपनेसे बड़ेकी ओर देखिये। यदि लखपतिको अपने लाख रुपयोंका अभिमान हो तो वह देखे कि करोड़पतिके सामने उसके लाख रुपयोंका क्या मूल्य हैं? ये हमारे देशके जो करोड़पति लोग हैं वे यहाँ हम लोगोंको कुछ समझते ही नहीं हैं परन्तु, ये ही लोग जब अमेरिका जाते हैं और वहाँकी सम्पदाको, वहाँके वैभवको देखते हैं तो क्या इनका अभिमान बना रहता है? टूट जाता है! तो, यदि किसी बातका अपनेमें अभिमान आवे तो अपनेसे बड़ेकी ओर देखना। अभिमान चाहे विद्याका हो, चाहे तपका हो, चाहे धनका हो, चाहे समाधिका हो, तब आपकी अस्मिता मिटेगी। और सबसे बड़ा ईश्वर है, ईश्वरसे बड़ा सृष्टिमें और कोई नहीं है। दस बीघे जमीनका मालिक अपनेको बड़ा मानता है; एक राजा अपनेको बड़ा मानता है; और एक राष्ट्राधिपति अपनेको बड़ा मानता है–परन्तु यह जो ब्रह्माण्ड है और कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड जिस प्रकृति-महामाया-प्रकृतिके राज्यमें क्षण-क्षण एक चिन्गारीकी तरह चमकते हैं और बुझ जाते हैं–वह महाप्रकृति भी जिस ईश्वरकी नजरके साथ नाचती है उस ईश्वरसे बड़ा और कौन है?

श्रीउड़िया बाबाजी महाराज कभी-कभी बोलते थे–मेरे स्वरूपमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड चिन्गारीकी तरह चमककर बुझ जाते हैं, एक-एक ब्रह्माण्डमें अलग-अलग ब्रह्मा, अलग-अलग विष्णु, अलग-अलग महेश–उन सबका जो ईश्वर है उस ईश्वरका जब हम ध्यान करते हैं तब मनके एक कोनेमें रहनेवाली जरा-सी समाधि क्या होती है? इसके कारण क्या अभिमान? विद्याके कारण, तपस्याके कारण, समाधिके कारण, शान्तिके कारण किस प्रकारकी अस्मिता? तो यह ऐश्वर्य योग जो है, भगवान्‌की ईश्वरताका जो ध्यान है, वह परिच्छिन्नपनेमें जो अभिमान है उसको शिथिल करता है–यह बुद्धियोगका एक अंग है।

बोले–विचारका अभिमान कि हम बड़े विचारवान हैं, यह क्या है? कि बुद्धिजीवी लोग आजकल बहुत अभिमान करते हैं–कोई एकान्तमें बैठ जाते हैं, कोई किताब लिखते हैं, कोई कविता लिखते हैं–परन्तु आखिर यह विचार क्या है? एक शरीरके भीतर अन्तःकरण और अन्तःकरणकी विक्षेप दशाका नाम ही तो विचार है। जिसको सत्यका निर्णय हो गया, परमार्थका निर्णय हो गया उसको बारम्बार विचार करने की क्या जरूरत है? *'हीरा पायो गाँठ गठियायो, बार-बार बाकूँ क्यों खोले?'* विचारका क्या अभिमान होता है? अच्छा, शान्ति, समाधिका अभिमान? बोले–अरे, उस समाधिका क्या अभिमान जो टूट जाती है? अपना आत्मा जो साक्षी है, जो न कभी सोता है न जागता है–विचारके पंख हिलाकरके जिसको कहीं उड़ना नहीं है और जिसको पाँख काटकर कहीं बैठनेकी जरूरत नहीं है, उसमें परिच्छिन्नता भला किसकी? न जड़-द्रव्यकी परिच्छिन्नता, न भोगकी परिच्छिन्नता, न कर्मकी परिच्छिन्नता, न विचारकी परिच्छिन्नता, न स्थितिकी परिच्छिन्नता! तो जब अपने साक्षी स्वरूपका विवेक करते हैं तो अस्मिता कटती है। अपनेको कर्तापनमें, भोक्तापनमें लगाये रखनेकी अपेक्षा थोड़ी देर साक्षीभावमें बैठ जाना बहुत बढ़िया है। पर आपको उसमें भी मालूम होना चाहिए कि वह जो भान है वह किया गया है, वह पकड़नेसे हो रहा है, वह घंटे भर रहा है और जब वह उतर जाता है तब फिर वृत्तियोंके साथ एकता हो जाती है। इसलिए यह साक्षी-भाव कर्ताके द्वारा किया हुआ एक साधन है–यह परमार्थ सत्य नहीं है, उसमें भी सूक्ष्म अस्मिता बैठी हुई है कि मैं ऐसा हूँ, ऐसा हूँ, ऐसा हूँ–उसको भी काट देना है। आपको मालूम होना चाहिए कि जब परमार्थका साक्षात्कार हो जाता है तब 'अहं ब्रह्मास्मि'में-से

यह जो 'अस्मि' हें ना वह भी गल जाता है, 'अहं' भी गल जाता है, ब्रह्मपना भी गल जाता है; एक अखण्ड परमार्थ सत्यमें शब्द नहीं है और शब्द-जन्य-वृत्ति भी नहीं है, वह तो जबतक अज्ञान है तबतक उसके निवारणके लिए जरूरत पड़ती है। ऐसी स्थितिमें बुद्धियोग साक्षीके स्वरूपमें अवस्थान-अस्मिताको निवृत्त करता है और ईश्वरके ऐश्वर्यका चिन्तन अस्मिताको निवृत्त करता है।

एक बात और-करते रहो काम और अस्मिताको धत्ता बता दो, काम करते रहो और अस्मिता बट्टे-खातेमें डाल दो।

देखो एक साक्षीमें-त्वम् पदार्थमें स्थिति, एक है ऐश्वर्य योग-तत् पदार्थमें स्थिति और एक है व्यवहार। यह अस्मिताको, अस्मितापनेको, परिच्छिन्न में जो मैंपना है, उसको काट देता है। कैसे काटता है? कि-

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।। (6.32)

आप देख लेना गीतामें योगी तो बहुत हैं-जहाँ देखो वहाँ योगी, परन्तु, 'स योगी परमो मतः' वह परमयोगी है, यह बात आपको क्वचित् मिलेगी; योगी नहीं परमयोगी। आँख बन्द कर लिया तो योगी, साँस बन्दकर लिया तो योगी, पीठकी रीढ़ सीधी कर ली तो योगी और एक संस्था है, किसीको शौक हो तो नाम बता देते हैं-उसको 2-3 हजार रुपया देना पड़ता है, उसके बाद आपको योगीकी पदवी, योगीकी डिग्री मिल जायेगी। *'लेय खसमको नाम खसम सों परिचय नाहीं!'*

अस्मिताका नाश करनेके लिए हम साधन सुना रहे हैं-एक तो अस्मि-अस्मि जो है वह परिच्छिन्न है, वह दृश्य होता है, और आप उसके साक्षी हैं; और एक परिच्छिन्नतामें कोई भी खूबी (गुण) है-आपके परिच्छिन्न 'मैं' में किसी तरहकी खूबी है और उसका आपको अभिमान है तो ईश्वरके सामने वह तुच्छ है, वह खूबी तुच्छ है-और आप उस खूबीके साक्षी हैं इसलिए उसके साथ आपका कोई सम्बन्ध नहीं है; और अगर कोई खूबी आपमें है तो वह खूबी सबमें है-ऐसा देखो। अब देखो, अस्मिता कटी कि नहीं कटी?

एक कथा आती है कि एक बार एक महात्मा भजन कर रहे थे तो इन्द्रने अपना रथ भेजा। मातलि सारथि और इन्द्रका रथ उस महात्माके पास आया और मातलिने महात्मासे प्रार्थना की कि इन्द्रने स्वर्गमें आपको बुलाया है। महात्माने पूछा कि क्यों मातलि, हमें स्वर्गमें जानेकी क्या जरूरत है, हम अपनी झोपड़ीमें मजेसे रहते हैं, गंगा-स्नान करते हें, फल-फूल और जो भिक्षा मिलती है सो खाते हैं, दिन-रात परमात्माके ध्यानमें मगन रहते हैं-हमको स्वर्ग जानेकी क्या जरूरत है? जाकर मातलिने इन्द्रसे यह सब कहा। तो इन्द्र स्वयं स्वर्गसे महात्माको लेनेके लिए आये। ऐसा राजा-महाराज, सेठ-साहूकारके यहाँ कभी-कभी होता है-पहले नौकर भेज देते हैं, पर यदि कोई बड़ा हुआ और ऐसे नौकर भेजनेसे नहीं आया तो स्वयं लेनेके लिए चले जाते हैं; तो इन्द्र स्वयं लेनेके लिए आये। हमने ऐसा दो-एक जगह देखा है। एक बार करपात्रीजी महाराज उदयपुर गये! उदयपुरके महाराजाने बड़े प्रेमसे उनको बुलाया था। तो बड़े प्रेमसे यात्रा करते हुए वहाँ पहुँच गये और जाकर बगीचेमें ठहर गये और महाराजाके पास खबर भेज दी कि हम आये हैं। अब महाराजाने क्या किया कि किसी दीवान-वीवानको उनके पास भेज दिया और कहला दिया कि महाराजाकी तबियत कुछ खराब है इसलिए आप वहीं चलें और वहीं चलकर भिक्षा प्राप्त करे, उनसे भी मिलना हो जायेगा। करपात्रीजीने क्या किया कि उन्होंने अपना नित्यकर्म, आदि किया और फिर दीवानेसे कहा कि देखो अभी राजा साहबकी तबियत खराब है तो कुछ काम-वाम तो होगा नहीं, कथा-सत्सङ्ग भी क्या होगा, इसलिए अब हम यहाँ नहीं रुक करके आगे चले जाते हैं। जैसे ही वे चले कि तुरन्त महाराजा साहबकी तबियत अच्छी हो गयी। बड़े लोगोंकी तबियत भी मौजसे अच्छी होती है और मौजसे खराब होती है। देखो, इसमें सबसे बढ़िया बात क्या है कि इन्द्रने आकर प्रार्थना की कि महात्माजी, आप स्वर्गमें पधारो! महात्माने कहा-इन्द्र बताओ तो सही कि तुम्हारे स्वर्गमें ऐसा क्या सुख है जिसके लिए हम वहाँ चलें? इन्द्र बोले वहाँ बड़ा सुख है-विमान पर चढ़कर तो घूमते हैं और क्या ही बढ़िया वहाँ 'पार्क' है-नन्दन-वन और उसमें अप्सराएँ इठलाती हुई फुदकती रहती हैं-इधर-से-उधर, उधर-से-इधर बड़ा सुख है; पीनेके लिए वहाँ अमृत मिलता है। महात्मा बोले कि इन्द्र तेरा यह अभिमान झूठा है, एक कुत्तेको कुतियासे सहवास करनेमें जैसा मजा आता है, वैसा ही तेरे स्वर्गमें

देवताओंको अप्सराओंके साथ आता है। यहाँके शराबी लोग जैसे शराब पीकर कूड़ेदानमें गिरते हैं और ऊल-जलूल बकते हैं, जीभ खराब हो जाती है, दिल खराब हो जाता है, वैसे ही वहाँ भी होता है-वहाँ भी सुरापान करके मतवाले हो जाते हैं! हमको नहीं चाहिए तेरा पार्क, नहीं चाहिए अप्सरा, नहीं चाहिए विमान और नहीं चाहिए तुम्हारा अमृत। हम तो अपने आपमें मस्त हैं। असलमें यह जो हमको मालूम पड़ता है कि दुनियामें यह खूबी इसके अन्दर है मेरे अन्दर नहीं है-अपनेमें अभाव देखकर और दूसरे में किसी वस्तुका सद्भाव देखते हैं और उसके लिए व्याकुल हो जाते हैं। तो, देखो अस्मिता मिटानेका एक यही उपाय है कि तुम जो अपनेमें खूबी मानकर बैठे हो सो यदि तुम साक्षी हो तब तो वह खूबी तुम्हारे अन्दर है नहीं, दृश्य होनेसे बिल्कुल अलग है-अभिमान तुम्हारा झूठा है और ईश्वरकी ओर दृष्टि डालो तो ईश्वरमें उस खूबीकी कोई कीमत ही नहीं है और लोगोंको देखो तो वह खूबी सबके भीतर है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।। (6.32)

परमयोगी कौन है? यह महाराज घंटे भर पीठकी रीढ़ सीधी करके बैठ जाय तो समझते हैं कि हमारे बराबर कोई नहीं! एक ही ऐसा सत्य है जो सबके भीतर एक सरीखा है। यदि आप केवल अपने ही सुखमें उलझे हुए हैं तो बड़ी परिच्छिन्न दृष्टि है आपकी! यदि आपके मनमें अभिमान आता है तो अपनेसे बड़ेकी ओर देखिये आपका अभिमान मिट जायेगा; और यदि आपके भीतर हीनताका भाव आता हो तो अपनेसे छोटेकी ओर देखिये-आपमें उत्तम भाव आ जायेगा। आप बाजरेकी रोटी खाकर निकले तो बोले हाय-हाय हमको गेहूँकी रोटी नहीं मिली, आप उसकी ओर तो देखिये जिसको एक समय बाजरेकी रोटी भी नहीं मिलती है, कोदोकी रोटी खाता है, सँवेंका चावल खाता है, माँड पकाकर खाता है! बोले कि हाय, हमारे तो एक ही कमरा है हम उसमें कैसे रहें? कि अरे, उसकी ओर तो देखो जिसके पास कमरा ही नहीं है, जानता ही नहीं है बिचारा कि कमरा होता कैसा है, तो आप देखोगे कि आपकी हीनता मिट जायेगी। तो यह जो खूबी है अपने अन्दर वह देती है अभिमान-ईश्वरकी ओर देखनेसे अपनी खूबीका मूल्य घट जाता है-साक्षी हो जानेसे वह खूबी अपनी नहीं रहती और वह खूबी सबमें है-सबके घरमें है-वैसा ही सुख सबके घरमें है-ऐसा यदि आप देखेंगे तो आपकी अस्मिता मिट जायेगी।

यह जो अस्मिता है उसको मिटानेके लिए केवल ईश्वरकी ओर देखने भरसे काम नहीं चलता, ईश्वरकी शरणागति भी होनी चाहिए-तभी वह मिटती है। भक्ति दूसरी चीज है और शरणागति दूसरी चीज है-अपनी ओरसे जो प्रेमका दान है भगवान्के लिए वह है भक्ति और भगवान्की ओरसे जो अपने ऊपर बरसता हुआ प्रेम है-महाविश्वास-भगवान्पर महान विश्वास-वह शरणागति है। भक्ति अस्मिताको पूरी तरहसे नहीं तोड़ती है, शरणागति तोड़ देती है। श्रीरामानुज सम्प्रदायमें तो प्रपत्ति और शरणागतिमें भी भेद मानते हैं और मर्यादा भक्ति और शुद्धभक्तिमें भेद मानते हैं। बल्लभ सम्प्रदायमें-शरणागतिका अर्थ है-जहाँ हम कुछ करते हैं उससे भगवान् प्रसन्न होते हैं-यह भाव और विश्वास। भगवान् प्रसन्न हो रहे हैं यह तो विश्वास है और हम कर रहे हैं-यह जीवका साधन है। हम कुछ कर रहे हैं और भगवान् प्रसन्न हो रहे हैं-साधन हमारा और प्रसन्नता भगवान्की; और शरणागति तब होती है जब साधन और साध्य दोनों भगवान् हो जाते हैं-

यमैवेष वृणुते तेन लक्ष्यः (मुण्डक० 3.2.3)

जिसको भगवान् वरण करते हैं उसको भगवान्की प्राप्ति होती है। तो रामानुज सम्प्रदायमें, श्रीवल्लभाचार्यके सम्प्रदायमें शरणका स्वरूप है-'श्रीकृष्णः शरणं मम, श्रीकृष्ण तवास्मि'-जीवकी ओरसे किया हुआ जो साधन है वह और एक ईश्वरकी ओरसे उतरती हुई जो महाकृपा है सो, दोनों मिलकर शरणागति होती है। इसमें ईश्वरकी ओरसे उतरती हुई जो महाकरुणा है-महाकृपा है वह जीवकी अस्मिताको दूर कर देती है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत (18.62)

× × ×

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।
(18.66)

तो यह जो ऐश्वर्ययोग है, बुद्धियोगका ही एक भेद है। धर्म- योग और कर्मयोगमें–गीता धर्मयोगपर बहुत जोर नहीं देती है कर्मयोगपर बहुत जोर देती है। धर्मका भी प्रेम है गीतामें, परन्तु धर्ममें जो सकामता होती है उस सकामताको मिटा देनेके बाद गीता कर्मयोगका निरूपण करती है। बुद्धियोगका एक अंग है कर्मयोग, दूसरा अंग है वैराग्ययोग अथवा भक्तियोग, तीसरा अंग है अस्मिताका निवारण करनेवाला, शरणागति योग-ईश्वरकी दृष्टिसे साक्षीभावमें अवस्थान-योगकी दृष्टिसे और साम्ययोग व्यवहारकी दृष्टिसे सबके भीतर वही–की–वही खूबी–जिस खूबीको लेकर तुम उछलते–कूदते हो वही खूबी, वही विशेषता, वही विशिष्टता, वही विशेषण–सबके भीतर है–इस दृष्टिका नाम है साम्ययोग–'स योगी परमो मतः'–

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।

अस्मिताके विषयमें आपको कल और सुनावेंगे। दुःख क्या है? कि बस, दुःख यही है कि मैं देह हूँ–एक दुःख है; मैं किसीकी मुहब्बत, किसीकी नफरतमें मुब्तला हूँ–यह दूसरा दुःख है; मैं भी कुछ हूँ–यह तीसरा दुःख है और जो असली चीज है परमात्मा–वह मुझसे अलग है-यह चौथा दुःख है। ये चारों दुःख बुद्धियोगके द्वारा दूर होते हैं–यह बात गीता बताती है।

प्रवचन : 10

अस्मिता-दोषकी निवृत्ति-2

मनुष्यका जो 'अहं' है-'अहं' अर्थात् 'मैं', उसके अस्तित्वके बारेमें विचार करें। 'अस्ति' शब्दका जब हम प्रयोग करते हैं तो उसका अर्थ होता है 'है'–जैसे पुस्तक है। जब 'असि' शब्दका प्रयोग करते हैं तो उसका अर्थ होता है 'हो'–जैसे–तुम हो; और 'अस्मि' शब्दका प्रयोग करते हैं तो उसका अर्थ होता है 'हूँ' जैसे मैं हूँ। अनुभवके क्षेत्रमें 'मैं हूँ' एक ऐसा अनुभव है जिसको कोई काट नहीं सकता, क्योंकि जो काटेगा वह भी यही अनुभव करेगा कि 'मैं हूँ'। अपने अस्तित्वका अभाव किसीके अनुभवमें नहीं आ सकता, यह सर्वमान्य मर्यादा है। भले ही कोई कह दे कि यह गुलाब नहीं है–यह चल सकता है; रोशनीमें दिखता है, आँखसे दिखता है, पंचभूतमें दिखता है। रोशनीसे न्यारा नहीं है, दृष्टिसे दिखता है, दृष्टिसे न्यारा नहीं है–सब बातें चल सकती हैं, मगर देखनेवाला नहीं है–यह बात कभी कोई माईका लाल अपने अनुभवमें नहीं ला सकता। इसलिए अस्मि-अस्मि-अस्मि, हूँ–हूँ–हूँ–मैं हूँ–यह अनुभव होता है। इसकी तीन दशा होती है–एक तो यह अपने सामनेवाली चीजसे मिल जाये और बोले कि यह मैं हूँ–तो इसमें देह मैं हूँ, प्राण मैं हूँ, मन मैं हूँ, कर्ता मैं हूँ, भोक्ता मैं हूँ-किसी भी मालूम पड़नेवाली चीजसे एक होकर यह अनुभव करे कि मैं हूँ;–चूँकि कई वस्तुओंके साथ मिलकर यह अपनेको मैं अनुभव कर रहा है कि मैं हूँ इसलिए वह स्थिति इसकी शुद्ध नहीं है, अशुद्ध है; इसलिए व्यवहारमें जब यह बोलता है कि मैं ब्राह्मण हूँ, मैं संन्यासी हूँ, मैं जड़-शरीर हूँ, मनुष्य हूँ, प्राणी हूँ मैं कर्म करनेवाला हूँ, मैं भोग करनेवाला हूँ, मैं शान्त रहनेवाला हूँ, तो व्यवहारमें जितना यह हूँ–हूँ–हूँ बोलता है वह सारा हूँ एक सामनेवाली दूसरी चीजके साथ मिल जाती है वहाँ हम बोलते हैं 'हूँ'।

योगियोंने कहा कि आओ, इस वृत्तिको ही निरुद्ध करें। तो, 'मैं' को तो नहीं मिटा सकते परन्तु 'मैं हूँ' इस वृत्तिको रोक देते हैं। उसमें भी मैं को तो मिटा ही नहीं सकते, 'मैं हूँ' इस वृत्तिको भी नहीं मिटा सकते, परन्तु थोड़ी देरके लिए इसका निरोध कर देते हैं, रोक देते हैं। मैं हूँ-मैं हूँ-मैं हूँ-इस वृत्तिके प्रवाहको अभ्यासके द्वारा थोड़ी देरके लिए रोक देते हैं। उस समय वृत्ति-प्रवाहसे विरहित जो अस्मिता रहती है। उसमें अन्यके साथ अध्यासका स्पष्ट विवेक नहीं होता। परन्तु वहाँ निरुद्ध अन्तःकरणाश्रय-भूत अस्मिता रहती है निरुद्ध अन्तःकरणका आश्रय अस्मिताके रूपमें रहता है।

वेदान्ती कहते हैं कि चाहे जितना भी इस अस्मिका विवेक-कर लो और चाहे वृत्ति प्रवाहित रहे चाहे निरुद्ध रहे, लेकिन इस अस्मिके स्वरूपका जब तक अज्ञान है तबतक तुम्हारी परिच्छिन्नता नहीं मिट सकती, इसके असली स्वरूपका ज्ञान होना चाहिए और इसका असली स्वरूप जो है वह है ब्रह्म अद्वितीय। अद्वितीयता ही इसका स्वरूप है। और जो यह पृथक्-पृथक् अन्तःकरणोंमें, पृथक्-पृथक् शरीरोंमें, जो पृथक्-पृथक् भासता है वह बिलकुल झूठी है। तो अज्ञानकी निवृत्ति हुए बिना, अविद्याकी निवृत्ति हुए बिना अस्मिकी परिच्छिन्न अस्मिताकी पूर्ण निवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए 'अहं ब्रह्मास्मि'-उस अस्मिके भीतर जब ब्रह्म घुस जाता है तब अस्मिकी जो अस्मिता है वह वस्तुतः फट जाती है और अविद्या-निवृत्तिके समकाल ही अस्मिताकी निवृत्ति हो जाती है-ऐसा वेदान्तियोंका सिद्धान्त है। अब इसमें परिच्छिन्न अस्मिताकी निवृत्ति होनेसे अन्यके अस्तित्त्वकी जो बुद्धि है वह भी कट जाती है और परोक्षता भी कट जाती है, अपनी पूर्णता प्रतिष्ठित हो जाती है। तो अभी वेदान्तकी चर्चा न कर इस अस्मिताकी निवृत्तिके जो और उपाय हैं, वे आपको पहले सुनाते हैं। यह मैंने पहले आपको ऐसी भूमिका इसलिए सुनायी कि अस्मिता-निवृत्तिके जो दूसरे उपाय मैं बताऊँगा वही परमार्थ है और वही सच्ची अस्मिताकी निवृत्ति है, ऐसा कोई न मान बैठे। अन्यके साथ मिलकर अस्मि-'मैं हूँ' ऐसा जो अनुभव है वह अध्यास है; और अन्यके साथ मिले बिना, परन्तु परिच्छिन्नताकी भ्रान्तिकी निवृत्ति हुए बिना जो अस्मिता अनुभव है वह द्रष्टा और साक्षीका अनुभव है; और द्रष्टा-साक्षीमें जो एक शरीर सम्बन्धसे परिच्छन्नता भासती है उस परिच्छिन्नताके बाधित हो जानेपर अखण्ड ब्रह्मके रूपमें जो अस्मिका रहना है वह अहं ब्रह्मास्मि है। बादमें वहाँ अहं पदका अर्थ भी बाधित है, ब्रह्म पदका अर्थ भी बाधित हो और अस्मि पदका अर्थ भी बाधित है-एक अखण्ड सत्ता परिपूर्ण है।

अब अस्मिताकी निवृत्तिके लिए जो उपाय होते हैं उनकी तीन कक्षा होती है-आधिभौतिक कक्षा, आधिदैविक कक्षा और आध्यात्मिक कक्षा! श्रीहरिवंश पुराणकी एक कथा है। कथा तो बहुत लम्बी है। उसका सार-सार आपको सुनाता हूँ। एक बार नारदजी गंगाजीमें तपस्या कर रहे थे। उन्होंने एक दिन देखा कि गंगाजीमें एक बड़ा भारी कछुआ है-कच्छप-बिल्कुल पहाड़-सरीखा जो कभी अपने हाथ-पाँव निकाल ले, कभी समेट ले, कभी मुँह निकाल ले, कभी मुँह समेट ले, स्थिर बैठे, कभी चले। उस कच्छपको देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और वे कच्छपसे बोले कि कच्छपराज, तुम आश्चर्य हो और धन्य हो। तो कच्छप हँसा और उनसे बोला कि मैं आश्चर्य और धन्य नहीं हूँ, गंगाजी आश्चर्य और धन्य हैं जिनके पेटमें मैं रहता हूँ गंगाजीसे नारदजीने कहा देवी, तुम धन्य हो और आश्चर्य हो। गंगाजीने कहा कि मैं क्या धन्य और आश्चर्य हूँ समुद्र धन्य और आश्चर्य है जिसमें मेरी जैसी हजारो नदियाँ आकर मिलती हैं। नारदजी समुद्रके पास गये। समुद्रने भी कहा-मैं क्या धन्य और आश्चर्य हूँ, यह पृथिवी धन्य और आश्चर्य है जो मुझे धारण करती है। वे पृथिवीके पास गये। वह बोली-मैं क्या धन्य और आश्चर्य हूँ, ये पर्वत धन्य और आश्चर्य हैं, जिनमें कितने रत्न और कितने मणि-माणिक्य भरे हुए हैं-बड़े महत्त्वपूर्ण हैं, ये पर्वत। तो नारदजीने पर्वतोंसे कहा कि तुम धन्य और आश्चर्य हो। पर्वतोंने कहा कि हम क्या धन्य और आश्चर्य हैं, धन्य और आश्चर्य तो वह ब्रह्मा है जिनमें सम्पूर्ण विश्वकी खान है। यहाँ तक तो-कछुएसे लेकर पर्वत पर्यन्त-आधिभौतिक पदार्थ हैं और इसके बाद आधिदैविक पदार्थ ब्रह्माजी हैं। ब्रह्माजीसे नारदजीने कहा कि ब्रह्माजी आप आश्चर्य और धन्य हैं। तो ब्रह्माजीने कहा-मैं क्या आश्चर्य और धन्य हूँ, आश्चर्य और धन्य तो वेद हैं, जिनकी वजहसे मैं ब्रह्मा बना हूँ और सारे खजाने मेरे अन्दर आये हैं। तब

नारदजीने वेदोंकी उपासना की, वेदोंने दर्शन दिया। बोले–हे वेद! आप आश्चर्य-धन्य हो। वेदोंने कहा धन्य तो यज्ञ हैं, जिनका हम विधान करते हैं। जब नारदजीने यज्ञोंकी आराधना की तो यज्ञ प्रकट हुए और बोले कि देखो, प्रजापति तो यजमान है और वेद ज्ञान है और यज्ञ (हम) क्रिया हैं–हमारे आराध्य तो विष्णु हैं इसलिए विष्णु ही धन्य और आश्चर्य हैं–यज्ञ धन्य और आश्चर्य नहीं हैं। विष्णु माने 'व्यापकः वेवेष्टि इति विष्णुः'=जो सम्पूर्ण विश्वको वेष्ठित किये हुए हैं, जो सम्पूर्ण विश्वका वेष्ठन बना हुआ है उसको 'विष्णु' कहते हैं। वेष्टन माने होता है, जैसे पुस्तकको जब हम किसी वस्त्रसे आवेष्ठित कर देते हैं वैसे ही सम्पूर्ण विश्वको जो घेरकर बैठा हुआ है–उसका नाम हैं 'विष्णु'। नारदजीने कहा कि अच्छा, तब विष्णुसे मिलेंगे। अब विष्णु कहाँ मिलेंगे? यह प्रश्न हुआ। जब विष्णुका अनुसन्धान नारदजी करने लगे तो उन्हें पता लगा कि आजकल विष्णु भगवान् धरतीपर हैं और वे टपक पड़े धरतीपर, और राजाओंकी सभामें देखा, श्रीकृष्णको और बोले–आप आश्चर्य और धन्य हो! श्रीकृष्णने कहा कि हाँ, मैं धन्य और आश्चर्य तो हूँ लेकिन दक्षिणाके साथ। क्योंकि बिना दक्षिणाके कोई यज्ञ पूरा नहीं होता है उससे भगवान् प्रसन्न नहीं होते, ऐसा कर्मकाण्डमें विधान है।

अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर। (8.4)

गीतामें आप पढ़ते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण क्या हैं–सारे यज्ञ भगवान् श्रीकृष्णमें प्रतिष्ठित हैं। विष्णु ही श्रीकृष्ण हैं–यह कहनेका अभिप्राय क्या है कि श्रीकृष्णने छाती ठोककर कह दिया कि सचमुच मैं ही धन्य और मैं ही आश्चर्य हूँ। अब यह दक्षिणा क्या है? कि दक्षिणा है–विद्या। यदि इस परमात्माको जान लिया गया, यदि इस वृत्तिके अविषयको विषय कर लिया गया तो इस विद्यासे उपलक्षित जो आत्मतत्त्व है वही आश्चर्य और धन्य है। वही श्रीकृष्णका आध्यात्मिक स्वरूप है। मैंने एक बार श्रीउड़िया बाबाजी महाराजसे कहा कि महाराज, आत्मा तो वृत्तिका अविषय है, इसका ज्ञान कैसे होगा? तो बोले कि यह तुम कहाँ सुनकर आये हो? आत्मा वृत्तिका अविषय है–यह बात जानी गयी कि नहीं जानी गयी? यदि यह बात नहीं जानी गयी तो फिर वृत्तिका अविषय कैसे कहते हो और यदि यह बात जान ली गयी तो तुमने कैसे जाना, वह बताओ! तो, असलमें आत्माको वृत्तिका अविषय बताना–यह ज्ञानकी एक प्रक्रिया है, जो सद्गुरुकी शरणमें जाकर वेदान्त-सम्प्रदायकी रीतिसे प्राप्त करनी पड़ती है। इसीसे अविषय विषय होता है, नहीं तो राह चलते लोग इसको अपनी वृत्तियोंका विषय कर लेते।

तो, आप देखो, पहले अस्मिता मिटानेके लिए हमें गीताके श्रीकृष्णके बारेमें थोड़ी बात समझनी पड़ेगी। श्रीकृष्णका आधिभौतिक रूप व्रजवासियोंमें रहता है, ग्वाल-बालोंके साथ खेलता है, गौएँ चराता है, गोपियोंके साथ छेड़छाड़ करता है–इसमें डरता नहीं–वह श्रीकृष्ण है। यह श्रीकृष्णका ऐतिहासिक, आधिभौतिक रूप है। श्रीकृष्णका आधिदैविक रूप है–वैकुण्ठनाथ, गोलोकबिहारी रूप है और श्रीकृष्णका आध्यात्मिक जो रूप है यह विलक्षण है। यदि आप भौतिक जगत्में उन्नति प्राप्त करना चाहते हों तो आधिभौतिक श्रीकृष्णके, ऐतिहासिक श्रीकृष्णके जो लक्षण हैं, जो आदर्श हैं, जो सद्गुण हैं, जो सद्भाव हैं उनका आदर कीजिये, उनकी उपासना कीजिये और लौकिक उन्नति प्राप्त कीजिये–महाभारतके श्रीकृष्ण आधिभौतिक कृष्ण हैं–युद्धमें विजय प्राप्त कीजिये। यह द्वारकानाथ श्रीकृष्ण भी आधिभौतिक श्रीकृष्ण हैं–इनसे भौतिक सम्पदा प्राप्त कीजिये। परन्तु, जो वैकुण्ठनाथ, गोलोकनाथ हैं वे आधिदैविक श्रीकृष्ण हैं और उनकी आराधना करनेपर आप आधिदैविक सम्पदा प्राप्त कर सकते हैं, आप गोलोकमें जा सकते हैं, वैकुण्ठमें जा सकते हैं और वहाँकी सम्पदा प्राप्त कर सकते हैं! परन्तु, जो हमारे जीवनमें 'अस्मिता' नामका दोष है वह आध्यात्मिक है–उसके निवारणके लिए आध्यात्मिक श्रीकृष्णकी आवश्यकता पड़ती है। यह तो कृष्णसे जहाँ काम लेना होगा वहाँके कृष्ण काम देंगे–बाहर काम लेना हो तो बाहरके कृष्ण और भीतर काम लेना हो तो भीतरके कृष्ण। 'अस्मिता'को काटनेके लिए श्रीकृष्णका आसरा कैसे लेंगे, इस सम्बन्धमें आप गीतामें श्रीकृष्णके स्वरूप पर विचार कीजिये–

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।।
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।।

(9.18-19)

आप श्रीकृष्णके अस्मिको देखिये, आपका जो अस्मि है–वह कट जायेगा–

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।। (7.8)

भगवान्‌के, ईश्वरके 'अस्मि'को देखिये, उसमें आपके अस्मिका क्या स्थान है! आप श्रीकृष्णको द्वादश लक्षणी अस्मिताका (9.18) अनुसंधान कीजिये। आपकी अस्मिता कट जायेगी।

श्रीबल्लभाचार्यजी महाराजने जगत् और संसारको दो माना है। जगत् क्या है कि यह मिट्टी, पानी, आग, हवा, स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, मनुष्य इसका नाम जगत् हैं और मैं-मेरा इसका नाम संसार है। आप जगत् और संसारके भेदपर दृष्टि पहले दें–एक स्त्रीका शरीर है–स्त्री जगत् है; लेकिन, वह पत्नी है कि बहन है कि माँ है कि बुआ है कि मौसी है, कि नानी है–यह जो उसके साथ रिश्ते हैं इसका नाम संसार है। एक पुरुष है–वह जगत् है परन्तु वह पिता है, पुत्र, भाई है, दादा है, नाना है–यह जो सम्बन्ध है यह संसार है। श्रीबल्लभाचार्यजी कहते हैं कि जब भगवान्‌के साथ सम्बन्ध होता है तब संसार मिट जाता है और जगत् रहता है–स्त्री रहेगी, पुरुष रहेगा पर वह जो सम्बन्ध है–दुःख देनेवाला–वह मिट जायेगा। दुःखदायी संसार होता है जगत् नहीं। किसी वस्तुका होना दुःखदायी नहीं होता है, उसके साथ दोस्त-दुश्मनका सम्बन्ध दुःखदायी होता है। यदि हम ईश्वरके साथ एक सम्बन्ध जोड़ लेते हैं तो संसारके साथ, जगत्‌के साथ, जो सम्बन्ध हैं वे अपने-आप टूट जाते हैं और संसारकी निवृत्ति हो जाती है। संसार माने सम्बन्ध और सम्बन्ध माने दुःख। सम्बन्ध ही दुःख है। अब कोई अद्वैती बैठे होंगे तो वे कहेंगे कि यह तुमने जगत् और संसार दो कहाँसे कर दिया–शंकराचार्यजी महाराज; तो दोनोंको एक ही मानते हैं–तो हम आपको याद दिला देते हैं कि पञ्चदशीमें ईश्वर-सृष्टि और जीव-सृष्टि–दो प्रकारकी सृष्टियोंका वर्णन है–यह स्त्री-पुरुष ईश्वर सृष्टि है; यह मिट्टी-पानी-आग-हवा ईश्वर-सृष्टि हैं, यह पशु-पक्षी जो हैं यह ईश्वरके बनाये हुए हैं और उसमें यह मेरा पति यह मेरी पत्नी है यह मेरा नाना और यह मेरी नानी और यह दादा और यह दादी यह सब जो सम्बन्धकी सृष्टि है यह जीव-सृष्टि है। तो शंकराचार्यजीके मनमें भी जीव-सृष्टि ही दुःखदायी होती है। ईश्वर-सृष्टि दुःखदायी नहीं होती। माने हम जो सृष्टि बनाते हैं उसमें दुःख पैदा हो जाता है और ईश्वर जो सृष्टि बनाता है उसमें दुःख पैदा नहीं होता। शांकर-मतमें तो ऐसा मानते ही हैं, सांख्य-मतमें भी ऐसा ही मानते हैं कि जितना दुःख है वह प्रकृतिने नहीं बनाया है–दुःख न प्रकृति बनाती है और न पुरुष बनाता है–तब कौन बनाता है? कि अविवेक बनाता है! दोनोंका जो अविवेक है। वह दुःखकी सृष्टि कर देता है।

अब आप देखो एक है जगत् और जगत्‌में है चाल। जैसे मोटरमें चाल होती है–जगत् मोटरका रूप है। जैसे मोटरमें चाल होती है वैसे जगतमें भी एक चाल होती है। भगवान्‌ने कहा–'गतिः'–यह जगत्‌रूप मोटरकी चाल मैं हूँ–यह जो कभी छिपकर और कभी प्रकट होकर और कभी तेजीसे और कभी धीरे-धीरे दुनिया चलती है इसकी चाल मैं हूँ–गतिः; 'भर्ता'–पेट्रोल डालना हो इसमें तो? बोले–भगवान् ही पेट्रोल डालते हैं–भर्ता। इस मोटरका मालिक कौन है कि प्रभुः–मालिक भी वे ही हैं, जब यह मोटर चलती है तब इसको देखता कौन है, कि साक्षी भी वही हैं–'साक्षी' यह मोटर रहती कहाँ है? कि धरतीपर–धरती भी वही है–'निवासः शरणं'–जब इसको बन्द करके रखना होता है तब गैरेज भी वे ही हैं–उन्हींमें यह दुनिया रखी जाती है–शरणं। और जब यह मैली हो जाती है तब इसको साफ कौन करता है, जब टूटती है तब मरम्मत कौन करता है। कि सुहृत्–वे ही सुहृत् हैं। बनायी किसने? कि उन्होंने ही बनायी–'प्रभवः'। 'प्रलयः'–तोड़ता कौन है कि वही। 'स्थानं'–इसका 'मैटर' क्या है कि वही हैं, जिन धातुओंसे इसके पुर्जे बने हैं वे भी वही हैं, 'निधानं'–यह तोड़-फोड़कर किसमें मिलती है? कि उसीमें मिलती है। फिर पैदा होती है कि नहीं? बोले–'अव्ययम् बीजः'–अव्यय बीज वही है। यह सम्पूर्ण जगत् वही है।

अब आप देखो कि इस शरीरको लेकर जो हमारा मैं-मैं-मैं चुरता है–वह क्या है?

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।।

'तपाम्यहम्'–गरमी पड़ती है। कौन डालता है? कि भगवान्। 'वर्षा'

पड़ती है, यह कौन है कि भगवान् कभी मोटरको जब्त कर लेते हैं- 'निगृह्णामि' और 'उत्सृजामि च'-कभी मुक्ति दे देते हैं-'अमृत' भी वही है 'मृत्यु' भी वही है, 'सत्' भी वही है, 'असत्' भी वही है। अब देखो, जब सब वही हैं तब तुम्हारा 'मैं' कहाँ है और तुम्हारे अलग सम्बन्ध कहाँ हैं? जैसे धरतीमें इतनी जमीन हमारी है यह हमारी मान्यता है-आपकी समझमें जल्दी आवे-न-आवे; बोले-हमने इसकी कीमत चुकाई है, कि अच्छा, तब तो जरूर आपकी है क्योंकि आपने इसकी कीमत चुकाई है। बोले-नहीं, हमको हमारे बापसे मिली है। कि तब जरूर आपकी है। बोले नहीं, हमको तो दानमें मिली है! कि तब जरूर आपकी है। कि नहीं, हमने लाठीके जोरसे इसपर कब्जा किया है कि तब जरूर आपकी है! पर जब आप नहीं रहेंगे, तब भी यह धरती रहेगी। इस धरतीमें आपने 'मैं-मेरा' जोड़ा है, आपका 'मैं-मेरा' इसमें है नहीं; आपकी मृत्यु भी इसी धरतीमें और आपका जीवन भी, इसी धरतीमें है ऐसे हैं आप! जितना 'मेरा' होता है वह 'मैं' पूर्वक ही होता है, यदि पहले 'मैं' न हो तो 'मेरा' पैदा ही नहीं हो सकता-'मैं'के बेटेका नाम मेरा होता है, 'मेरा'के मालिकका नाम 'मैं' नहीं होता, पहले 'मैं' होता है और पीछे 'मेरा' होता है। अब देखो; ईश्वरकी सृष्टिमें आपका 'मैं' क्या है? तो ईश्वरके ऐश्वर्यपर जब दृष्टि जाती है तब-मैं धरतीका मालिक हूँ, मैं सोनेका मालिक हूँ, चाँदीका मालिक हूँ, हीरे-मोतीका मालिक हूँ-इन अभिमानोंपर महात्मा लोग भीतर-ही-भीतर हँसते हैं-धरती हँसती है, पानी हँसता है। क्या है तुम्हारा 'मैं-पना' जिसके बलपर दुनियाको 'मेरी' बोलते हो? ईश्वरके ऐश्वर्यमें उसकी ईश्वरताके विचारमें कहाँ टिकता है तुम्हारा मैं-पना? 'गतिः भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्'- सारे जगत्का स्वामी वही है। 'प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्'-तुम्हारा अस्मि भाव, तुम्हारा 'मैं-पना' कहाँसे पैदा हुआ है और कहाँ रह रहा है और कहाँ विलीन हो जायेगा? यह सारा मैं-पना जो तुम्हारा है-वस्तुओंके सम्बन्धसे वह सुषुप्तिमें कहाँ चला जाता है? और जो मैं-पना वस्तुओंके सम्बन्धसे नहीं है वह भी ईश्वरमें क्या है? और जो ईश्वरमें मालूम पड़ता है वह भी दर असल सद्-धातुमें क्या है?

एक बार मैं एक महात्माके पास गया-सुनाया होगा आपको कई बार कोई 16-17 वर्षकी उम्र थी, हमको मालूम पड़ गया था कि हमारे पितामहके मनमें यह बात बैठ गयी है कि मेरी उम्र बहुत ज्यादा नहीं है- बचपनसे ही यह सुननेको मिलता था। घरमें ज्योतिषकी चर्चा होती थी, पण्डितोंसे चर्चा होती थी। हम पढ़ते थे काशीमें-बारह वर्षकी अवस्थामें ही हम वहाँ आ गये थे। कभी-कभी हमारे बाबा हमको साथ लेकर और हमारी कुण्डली लेकर किसी ज्योतिषीके पास पहुँच जाते और वहाँ चर्चा करते कि इस बच्चेकी उम्र कितनी है, वह सब मैं सुनता। तो मेरे दिमागमें बैठ गया था कि उन्नीस वर्ष तक ही मेरी उम्र है। पर वह उन्नीस वर्षकी ही होती तो अब मैं कैसे होता! एक बात दूसरी जो हुई वह यह कि मैं महात्माओंके पास जाने लगा। उसमें एक लोभ यह भी था कि शायद कोई ऐसा महात्मा मिल जाये जो हमारी उम्र बढ़ा दें, हमारी मौत टाल दे! पर ईश्वरकी ऐसी कृपा हुई कि मैं किसी ठग महात्माके पास नहीं गया कि जो कह दे कि हम कोई ऐसी दवा दे देते हैं कि जिससे तुम्हारी मृत्यु टल जायेगी-ऐसे महात्माके पास ईश्वरने हमको एक बार भी नहीं भेजा भूलसे भी नहीं भेजा, इसीसे हम कहते हैं कि हमारे ऊपर ईश्वरकी बड़ी कृपा रही- 'यमैवेष वृणुते तेन लभ्यः' भगवान् जिसको वरण करता है, उसीको मिलता है! कल मैं सुना रहा था कि प्रेम तो हम ईश्वरसे अपनी ओरसे करते हैं लेकिन ब्याह होनेमें उसकी भी स्वीकृति चाहिए-जब तक वह स्वीकार नहीं करेगा तब तक ब्याह तो हो नहीं सकता। प्रेम भी जब तक वह नहीं चाहे तब तक नहीं हो सकता। क्योंकि वह अनमिला साजन है, कभी देखा तो है नहीं, बिना जान-पहचानका है, बिना देखा हुआ है तो, यदि वह कोशिश न करे, कृपा न करे तो उसके साथ प्रेम भी न हो! इसीसे वरण दो प्रकारका होता है-एक साधन जनकत्व है-वर्णनमें ईश्वर जिसको पसन्द करता है उसके जीवनमें साधनका उदय होता है और एक जिसको पसन्द करता है उसका अहं बिल्कुल मिटाकर अपने साथ मिला लेता है कुल ईश्वरके वरणके दो ही लक्षण हैं-या तो ईश्वरके प्रति प्रीतिका उदय हो और या तो मनुष्य ईश्वरका अपना हो जाये।

हाँ तो, हमारे ऊपर ईश्वरकी क्या कृपा हुई? यही कृपा हुई कि मैं किसी चमत्कारी, शराबी तांत्रिकके पास नहीं गया-मैं सच्चे महात्माओंके

पास ही गया और महात्माओंने मुझसे कहा कि हम तुम्हारी मौत नहीं टाल सकते, यदि मौत होनी है तो मौत हो जायेगी, लेकिन हम तुमको मृत्युसे निर्भय कर सकते हैं–मृत्युका जो डर तुम्हारे दिलमें समाया हुआ है उसको मिटानेका सामर्थ्य हमारे अन्दर है, मृत्युका डर हम मिटा देंगे! यह मैं आपको अस्मितावाली बात ही सुना रहा हूँ कि यह गीता हमारी अस्मिताको कैसे तोड़ती है। असलमें यज्ञ करना ही सब कुछ नहीं है। यज्ञ करनेसे जो हमारी वृत्तिका उदय होता है, हमारे अन्दर जो बुद्धि आती है वह यज्ञका फल है–यज्ञका फल वह वृत्ति है जिसमें आत्म-सुखका प्रतिबिम्बन होता है–माला फेरनेका फल वह वृत्ति है जिसमें आत्म-सुखका प्रतिबिम्बन होता है। मन्दिरमें दर्शन हो नहीं, भगवान्‌का दर्शन करके जो मन निर्मल हो जाता है कि धन्य हो गया मैं–ऐसी जो वृत्ति होती है वही दर्शनका फल है। साधन होता है बाहर और उसका फल होता है अन्तःकरणकी वृत्तिमें–इस बातको दुनियादार लोग नहीं जानते हैं, वे समझते हैं कि भगवान् हमारे पास एक पैकेटमें हीरे-मोती भरकर भेज देगा और वह हमारी भक्तिका फल होगा! नहीं, तुम्हारी भक्तिका फल यह होगा कि तुम्हारे हृदयमें ऐसी वृत्ति बनेगी कि उसमें सुखस्वरूप जो आत्मा है उसका प्रतिबिम्बन होगा। असलमें प्रत्येक साधनका फल हमारे हृदयमें एक प्रकारकी वृत्तिका उदय है और उसमें जो आत्माका प्रतिफलन है, आभास है उसीको फल बोलते हैं। फल जो है वह अन्तःकरणमें ही होता है, आत्मामें अथवा परमात्मामें नहीं होता और न ही फल वस्तुमें होता है और न ही क्रियामें। वृत्तिकी तदाकारता ही फल होती है। जो इस बातको नहीं समझते हैं वे समझते हैं कि सातवें आसमानमें-से हमारे सामने फल टपक पड़ेगा। एक आदमी बड़ा दुःखी था, अभी हालकी ही बात है। उसने गणेशजीका अनुष्ठान किया। मद्रासकी बात है। उसके ऊपर कर्ज बहुत हो गया था और वह चाहता था कि उसके पास बहुत धन हो जाये, लाखों रुपये मिनटोंमें आ जायें और वह लखपति बन जाये। तो उसने अनुष्ठान किया, पर अनुष्ठानसे उसके पास एक पैसा भी नहीं आया। बहुत दुःखी हुआ। लोगोंसे कहे अनुष्ठानसे हमारे कुछ लाभ नहीं हुआ! यद्यपि जिसका कर्ज था, उसकी चिट्ठी आ गयी कि तुम इस समय बहुत तकलीफमें हो इसलिए हम तुमको अपना कर्ज माफ करते हैं। अब पचास हजारका कर्ज था, वह तो हो गया माफ और वह कहे कि हमको अनुष्ठान करनेका कोई फल ही नहीं मिला, एक पैसा भी नहीं मिला, हम लाख रुपया चाहते थे और हमको कुछ भी नहीं मिला। तो देखो, यह विपरीत बुद्धि है! उसने अनुष्ठान किया, उससे फल भी मिला लेकिन उसके भीतर अनुष्ठानके फलका जो दर्शन है वह नहीं हुआ–प्रत्येक अनुष्ठानका फल अन्तःकरणमें उदय होनेवाली वृत्ति होती है, बाहरकी वस्तु नहीं। यदि सब कुछ होनेपर भी तुम्हारे चित्तकी धारा बहती रहती है, तुम्हारे चित्तमें हर बातमें कमीका ही अनुभव होता है, कभी किसी अनुष्ठानका उदय नहीं होता तो तुमने अनुष्ठान क्या किया?

एक महात्मासे मैंने कहा–महाराज, हमको भगवान्‌की शरणमें कर दो। उन्होंने कहा कि देखो बाबाजी, पण्डितजी–17-18 वर्षका मैं था, तुम तो समझते हो सब बात, यह बताओ कि संसारमें भगवान्‌की शरणमें क्या नहीं है? मिट्टी भगवान्‌की शरणमें है कि नहीं? जल भगवान्‌की शरणमें है कि नहीं? अग्नि-सूर्य-चन्द्रमा भगवान्‌की शरणमें है कि नहीं? वायु-आकाश भगवान्‌की शरणमें है कि नहीं? और इन्हींसे बना हुआ, इन्हींके भीतर रहनेवाला, इन्हींके भीतर फलने-फूलनेवाला तुम्हारा यह शरीर, जिसको तुम अपना 'मैं' कहते हो–यह भगवान्‌की शरणमें क्यों नहीं है? जाओ कल आकर हमको बताना और जो चीज भगवान्‌की शरणमें नहीं है उसको हम भगवान्‌की शरणमें कर देंगे! यह जो 'अहं' भाव हमारा है, यह जो 'अस्मिता' है हमारे जीवनमें–यह बिल्कुल झूठी है। भगवान्‌की शरणमें आइये। शरणमें हुआ नहीं जाता, अशरणपनेका जो भ्रम है वह निवृत्त होता है। यह हमारी आँख–क्या यह हमारी आँख सूर्यकी रोशनीकी शरणमें नहीं है; यह हमारा कान अवकाशकी शरणमें नहीं है; यह हमारी जीभ रसकी शरणमें नहीं है, यह हमारा शरीर पञ्चभूतकी शरणमें नहीं है–जिसकी शरणमें सब है उसीकी शरणमें–मिट्टी, पानी, आग, हवा है, उसीकी शरणमें हमारा यह शरीर है। हमारा यह 'अहं-भाव' यह 'अस्मिता' बिल्कुल झूठी है। महात्माने कहा जाओ, कल आकर बताना सचमुच क्या तुम शरणमें नहीं हो? अगर नहीं हो तो मैं तुमको शरणमें कर दूँगा–

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।।
(18.61-63)

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'-एक दिन मैं सोचने लगा कि ईश्वर हृदय-देशमें रहता है, तो पेड़के हृदय-देशमें है कि नहीं है, एक मिट्टीके डलेके हृदय-देशमें है कि नहीं है? एक बार मैं सोचने लगा कि हमारे अँगूठेके एक बूँद खूनमें ईश्वर है कि नहीं है? उस एक बूँद खूनमें जो करोड़ों कीड़े हैं-उन एक-एक कीटाणुओंके हृदयमें ईश्वर है कि नहीं है-'सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'-भ्रामयन्-दाहिने-बाएँ, ऊपर-नीचे हमारे खूनको नचाता है, साँसको नचाता है, हमारी वृत्तियोंको नचाता है-भ्रामयन् सर्वभूतानि-भ्रामयन्का यह अर्थ नहीं है कि ऊपर-ही-ऊपर ले जाता है, नीचे भी ले जाता है। ऊपर भी ले जाता है, दाएँ भी ले जाता है, बाएँ भी ले जाता है-'यन्त्रारूढानि मायया'-मशीनपर चढ़े हुए। 'तमेव शरणं गच्छ'-इसका अर्थ यह है कि हमारा कुछ है-यह बुद्धि जब बदल जायेगी तब अस्मिता भी बदल जायेगी। बुद्धिके परिवर्तनमें अस्मिताका परिवर्तन है और बुद्धिके सत्यग्राहिणी हो जानेमें-परमार्थ-विषयक जब बुद्धि हो जाती है तब अस्मिताकी सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। अब यह बात आपको कल और परसों दो दिन और सुनावेंगे।

प्रवचन : 11

अस्मिता-दोषकी निवृत्ति-3

थोड़ी विवेककी बात सुनाते हैं। संस्कृतके ग्रन्थोंमें ऐसे बोलते हैं-'अत्रायं विवेकः'-इसके सम्बन्धमें यह विवेक है। विवेकका अर्थ होता है-पृथक्करण। वस्तुको अलग-अलग समझनेकी चेष्टा विवेक, विवेचन एकमें मिली हुई वस्तुओंको अलग-अलग करके समझना।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।। (9.18)

यह ईश्वरका रूप है। ईश्वर सबीज चित्त है; प्रकृति सबीज सत् है और गोलोक-बैकुण्ठ आदि हैं वे सबीज आनन्द हैं। सबीज सत् आधिभौतिक जगत् हो जाता है, सबीज-आनन्द आधिदैविक हो जाता है और सबीज चित् आध्यात्मिक हो जाता है। चेतन माने अपना आत्मा ही होता है। वही जब समष्टि बीजसे युक्त है तब उसका नाम ईश्वर है; और वही जब व्यष्टि बीजसे युक्त है तब उसका नाम जीव है; और बीजकी उपाधिको हटाकर देखें तो शुद्ध चित्तमें जीव और ईश्वरका भेद नहीं है। जगत्में एक कार्य है, एक कारण है। प्रकृति कारण है और जगत् कार्य है। आधिदैवमें श्रीकृष्ण हैं और राधा हैं, लक्ष्मी हैं और नारायण हैं, गौरी हैं और शंकर हैं-ये आधिदैव हैं और अध्यात्ममें जीवात्मा है और वृत्तिरूप दृश्य है।

प्रकृति अपने कार्यमें अनुगत होती है और द्रष्टा अपने दृश्यसे व्यावृत्त होता है, माने उससे अलग रहकर उसका साक्षी होता है। इस समय पंचभूतके रूपमें प्रकृति रह रही है और ईश्वर एक साथ ही व्यावृत्त और अनुवृत्त दोनों रहता है-वह परस्पर-विरुद्ध धर्माश्रय है जो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा है वह न अनुवृत्त है और न व्यावृत्त है। शंकराचार्यजीका ब्रह्म अनुवृत्त भी है और व्यावृत्त भी है। शंकराचार्यजीका ब्रह्म न व्यापक है, न अलग है-न वह कार्यमें अनुस्यूत है और न इससे पृथक् है, क्योंकि उसमें कार्य ही नहीं है। द्रष्टा अपने दृश्यसे व्यावृत होता है और ईश्वर व्यावृत और अनुगत दोनों होता है और पंचभूत आदि जो कार्य होते हैं वे हमेशा अपने कार्यमें अनुगत ही होते हैं-यह विवेककी बात आपको सुनायी। तो गीतामें आप देखो-

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन। (9.19)

यह परमेश्वरका स्वरूप बतलाया–अमृत भी वही है और मृत्यु भी वही है। एक भक्तके सामने साँप आया, फन फैलाये हुए। भक्त बोला–आपसे बिछुड़े हुए बहुत दिन हो गये, मैं आपसे अलग होकर दुःखी हो रहा हूँ, आपने मुझे अपने पास बुलानेके लिए यह प्यारा–प्यारा दूत भेजा है। वह तो उस साँपको देखकर खुश हो गया, नाचने लगा!

इस महाराष्ट्रके ही एक संत थे। उनके सामने एक भूत प्रकट हुआ। नाम तो आप लोगोंको मालूम ही होगा–'भले बने ही लम्बकनाथ'–बहुत लम्बे, योजन भर-भरके हाथ थे। संत बोले–इतने बड़े बनकर आये हो, मैं पहचान गया। अरे, यह भूत नहीं है, यह हमारा परमेश्वर है!–'अमृतंश्चैव मृत्युश्च'–जो परमेश्वरको पहचान लेते हैं उनके लिए अमृत भी परमेश्वर है और मृत्यु भी परमेश्वर है-'सदसच्चाहमर्जुन'–उनके लिए सत् भी परमेश्वर है और असत् भी परमेश्वर है। आप देखना गीतामें क्या विलक्षण आपको मिलेगा–आप गीताका पाठ करते हैं, जरा–सा इस बातपर ध्यान दें कि यहाँ कहा जा रहा है कि सत् भी ईश्वर है और असत् भी ईश्वर है; एक जगह मिलेगा कि सत्-असत् तो ईश्वर है ही इनसे परे भी वही है–'सदसत्तत्परम् यत् (11.37)'–सत् भी ईश्वर असत् भी ईश्वर और दोनोंसे परे भी ईश्वर। यह देखो गीताका ईश्वर–सदसच्चाहमर्जुन!–देखो, उस भक्तका हृदय कितना कोमल होगा, कितना अमृतमय, कितना मधुमय, कितना लास्यमय, कितना संगीतमय होगा जिसको अमृत और मृत्यु दोनोंमें परमानन्दकन्द परमात्माका, प्रभुका ही दर्शन हो रहा होगा। कितना विलक्षण होगा वह भक्त! 'अमृश्चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन'।

'सदसत् तत्परं यत्'–सत् भी वही, असत् भी वही, उनसे परे भी वही। विवेक करके गीताकी एक विलक्षणता और देखो–'न सत्तन्नासदुच्यते'। (13.12)–न परमात्माका नाम सत् है और न परमात्माका नाम असत् है क्योंकि वह सत् नामसे उच्यमान नहीं है और असत्नामसे भी उच्यमान नहीं है। माने सत्-असत्के रूपमें उसका प्रवचन नहीं किया जा सकता, वह सत् और असत् दोंनोंसे विलक्षण है। अब परमात्माके स्वरूपको गीतामें देखो–

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। (2.16)

कहाँ तो एक ओर कह रहे हैं कि सत्–असत् वही हैं और सत्–असत् दोनोंसे परे वही हैं। सत्–असत् तो कारण–कार्य हैं, वह दोनोंसे विलक्षण भी हैं, दूसरी ओर यह भी कह रहे हैं कि उसको सत् और असत् कुछ नहीं कह सकते और उसके साथ–ही–साथ कह रहे हैं कि असत्का जन्म–मरण नहीं है और सत्का भी जन्म–मरण नहीं है–यह व्याख्या एक संतसे सुनी हुई है।

हम एक संस्थामें रहते थे तो उन्होंने विदेशमें गीताकी जितनी पुस्तकें छपी हैं उनका संग्रह किया है–भिन्न–भिन्न भाषाओंमें। कोई 150 पुस्तकें गीताकी ऐसी हैं जिनमें अलग-अलग संस्कृत-टीकाएँ छपी हुई हैं जैसे शांकरभाष्य, रामानुजभाष्य, विज्ञान - भिक्षु - भाष्य, भास्कर - भाष्य–मधुसूदन–शंकरानन्द–ये सब तो एक ही सम्प्रदायके हैं–150 टीकाओंमें-से किसी भी टीकामें इस ढंगसे नहीं समझाया हुआ है, इसलिए इस अर्थके महत्त्वको मैं जानता हूँ, क्योंकि जो लोग पहलेसे किसी विषयपर अनुसन्धान कर चुके होते हैं उनको उस विषयमें जो नवीनता होती है, महत्त्व होता है वह ज्ञात होता है और जिन्होंने कभी अनुसन्धान नहीं किया है वे उसको नहीं समझ सकते। हाँ–तो एक संतने सुनाया था यह अर्थ जो मैं आपको सुना रहा हूँ। मैंने तो बहुत सारी टीकाओंमें पढ़ा है, भिन्न–भिन्न टीकाओंमें पढ़ा है–यही अर्थ है इसका! पर, 150 संस्कृत टीकाओंमें नहीं है। संतने यह अर्थ बताया इस श्लोक का–

'असतः भावो न विद्यते'–असत्का भाव नहीं है, असत्की सत्ता नहीं हैं। सत्ता नहीं है का अर्थ है–जन्म नहीं है और जिसका जन्म ही नहीं हुआ–अब यह लक्षणा हो गयी–उसकी मृत्यु भी नहीं होती–बन्ध्या–पुत्रका जन्म नहीं है तो उसकी मृत्यु भी नहीं है! तो 'असतः भावो न विद्यते, जन्म न विद्यते, तदुपलक्षितं मरणं च न विद्यते।' जो चींज है ही नहीं उसका न जन्म है न मरण है और 'नाभावो विद्यते सतः'–जो सत् वस्तु है उसका अभाव माने मृत्यु नहीं है और जिसकी मृत्यु नहीं है उसका जन्भ भी नहीं है–जो जन्मता है वही मरता है। तो सत् -वस्तुका भी जन्म–मरण नहीं है और असत् वस्तुका भी जन्म–मरण नहीं है। इसका अर्थ क्या हुआ कि जन्म–मरण ही लापता है–अनिवर्चनीय है। जन्म और मरण दोनों अनिवर्चनीय हैं–मालूम तो पड़ते हैं, परन्तु हैं नहीं! सत्की जो सबीज शान्त अवस्था है उसका नाम समाधि है और जो सत्की विक्षिप्त और मूढ़ सबीज अवस्था है उसका नाम संसार है। दृश्यसे

(अलग) व्यावृत जो चित् है वह द्रष्टा है। ईश्वर व्यावृत भी है और अनुवृत्त भी है। वह परस्पर-विरुद्ध-धर्माश्रय हैं-दृश्यमें रहकर, दृश्यका अभिन्न-निमित्तोपादान कारण रहकर दृश्यसे न्यारा भी है और ब्रह्म जो होता है, वह द्रष्टाके समान दृश्यसे व्यावृत्त नहीं है, प्रकृतिके समान दृश्यमें अनुगत नहीं है और ईश्वरके समान परस्पर-विरुद्ध-धर्माश्रय-व्यावृत्तानुवृत्त नहीं है। कि तब? 'अव्यावृततननुगतां'-यह घड़ी है, घड़ीमें प्रकृति भरी हुई है और इसको देखनेवाला द्रष्टा घड़ीसे निराला है; शरीरमें प्रकृति भरपूर है और द्रष्टा शरीरसे निराला है और ईश्वर शरीररूप भी है, शरीरसे निराला भी है, क्योंकि उसके सिवाय दूसरी कोई चीज नहीं है; और परब्रह्म परमात्मा-न किसीमें अनुवृत्त है और न किसीमें व्यावृत्त है, न किसीसे अलग है और न किसीमें भरा है, क्योंकि वही-वही है दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।। (2.16)

आज शुरू-शुरूमें ही मैंने विवेककी चर्चा कर दी! अब इस दृष्टिमें आप साधनका विचार करो कि एक हड्डी-माँस-चामको मैं मानना किसी दृष्टिसे उचित है! सबीज शान्त सत्का नाम समाधि है और सबीज विक्षिप्त सत्का नाम संसार है; सबीज विक्षिप्त चित्का नाम जीव है और सबीज-शान्त-चित्का नाम ईश्वर है; सबीज-शान्त-आनन्दका नाम वैकुण्ठ-गोलोक है और आओ देखो, आप कहाँ बैठे हैं, कहाँ बैठना चाहते हैं-

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।

ईश्वरका लक्षण बारह और जीवका लक्षण छह और ब्रह्मका न बारह, न छह-यह कहाँसे आपको सुनावेंगे, कि गीतासे। ईश्वरके लक्षण बारह-

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।। (9.18)

गिन लो, बारह हो गया। अच्छा, अब जीवात्माके छह लक्षण देखो-

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।। (13.22)

इसी देहमें परम पुरुष रहता है, पर उसके ऐसे-ऐसे नाम रख दिये हैं-लेकिन सब नामोंवाला वह परम पुरुष ही है। परं पुरुषका अर्थ होता है सम्बन्धहीन-पुरुष दुनियामें होता है कि नहीं? पति-पत्नी होते हैं ना-स्व-पति, स्व-पत्नी-तो वे पति-पत्नी क्या हैं कि सम्बद्ध पुरुष है-उनका सम्बन्ध है; और पर-पुरुषका अर्थ है सम्बन्ध-रहित-पुरुष। एक पुरुष है इस शरीरके भीतर, लेकिन वह अहं-अहं-अहंके रूपमें परिच्छिन्न-सा भास रहा है।

देखो, अहंमें तीन दोष हैं। एक तो वह बारम्बार अहं-अहं-अहं बदलता हुआ है यदि कहो कि हमारा अहं तो नहीं बदलता है तो तुम अहंको देखते भी हो कभी? अहंको देखो, तब उसका बदलना मालूम पड़ेगा, दिन-भरमें सत्रह दफा बदलता है-अहं दुःखी, अहं सुखी-मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ, मैंने बड़ा बढ़िया काम किया, मैंने बड़ा बढ़िया काम किया, मैंने बड़ा खोटा काम किया-इस तरह 'अहं' जो है वह आने-जानेवाली वृत्तियोंको पकड़कर कभी सुखी बनता है और कभी दुःखी बनता है। देखो, एक अहं, दो अहं, तीन अहं, चार अहं-कालमें 'अहं' बदलता गया; 'अहं' बाहर नहीं रहता है भीतर रहता है। तो सुख-दुःख, पाप-पुण्य आदि पदार्थोंको लेकर 'अहं' बदलता है; कालमें एकके बाद दूसरा, दूसरेके बाद तीसरा, तीसरेके बाद चौथा होता है और भीतर रहता है बाहर नहीं रहता-यह हुआ आपका 'अहं'। 'पुरुषः परः'-का अर्थ यह है कि यह जो 'अहं-अहं' की धारा बह रही है, यह जो 'अहं-अहं' भीतर हो रहा है, यह जो 'अहं दुःखी', 'अहं सुखी' हो रहा है, इसमें जो एक चेतन है वह है परम पुरुष। अहंसे परे रहकर, अहंसे परे एक अहं है। उसीको इस शरीरमें नाम देते हैं-'उपद्रष्टा अनुमन्ता'-वह आँखमें बैठकर देख रहा है, वह आपकी मतिको अनुमति दे रहा है, अनुमति दे रहा है का अर्थ है-विरोधी नहीं है, यह मति चाहे पापिनी हो, चाहे पुण्यात्मा यह विरोध ही नहीं करता है, यहाँ तक कि एक आदमीको क्रोध आया-एक आदमीको इसलिए कहता हूँ कि आप लोगोंमें शायद ऐसे हों जिनको न आता हो, तो, जब क्रोध आया तब किसीने कहा कि यह क्या करते हो? बोला-मैं ठीक करता हूँ-

जौं सठ दण्ड करौं नहीं तोरा।
भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा।।

गाली भी दी, दो चपत भी मार दिये और दो घण्टेके बाद वह शैतान उतर गया। जब आदमी सोता है तब जो तान दे उसका नाम शैतान होता है-माने अज्ञानी आदमीके सिरपर जो सवार हो, मूर्खके सिरपर जो सवार हो,

उसका नाम शैतान है, समझदारके पास वह कभी नहीं जाता। उतर गया, तब उसने कहा–अरे क्रोध करके, गाली देकर, मारकर तो मैंने बड़ी गलती की। तो बोले भई, उस समय तुम क्यों नहीं अपनी गलती कबूल करते थे? कि उस समय तो मैं क्रोधसे एक हो गया था और अब मैं क्रोधसे अलग हो गया हूँ। आप देखना–काममें भी यही होता है–बोलेंगे–इसीमें सारा रस, इसीमें सारा जीवन है, लोभमें भी यही होता है। 'अनुमन्ता'का अर्थ यह होता है कि जो वृत्ति चित्तमें आती है उसके साथ हमारा सारूप्य हो जाता है और उस समय सारूप्य होनेपर भी फिर हम उससे अलग हो जाते हैं। तो अनुमति देकर अलग हो गये। असलमें अनुमति देनेके समयमें भी आप अलग ही रहते हैं–उपद्रष्टा। एक द्रष्टा होते हैं और एक उपद्रष्टा होते हैं, जैसे एक प्रेसीडेन्ट होते हैं और एक वाइस-प्रेसीडेन्ट होते हैं–ऐसे ही और सभापति और उप-सभापति होते हैं, ऐसे ही द्रष्टा-उपद्रष्टा-होते हैं–'उप' माने पास रहकर, द्रष्टा माने देखते-रहते हैं। शरीरमें रहकर शरीरको देखना–यह उपद्रष्टापना है। यह द्रष्टाके साथ महाराज वह पंख लगी है कि आपको क्या सुनाएँ! पहले सुनाया था कि अहंके साथ एक धारा बहती है–अहं-अहं-अहं पहले पीछे दूसरा है एक कि भीतर देशका बन्धन है–कैद है और तीसरे जो आता है उसीके ऊपर चढ़ बैठता है– उसका वाहन ही निश्चित नहीं है। बोले–विष्णु भगवान् गरुड़पर चढ़ते हैं, ब्रह्मा हंसपर चढ़ते हैं, शिवजी बैलपर चढ़ते हैं, तुम्हारे द्रष्टाका क्या वाहन है? बोले कभी गधेपर चढ़ता है, कभी घोड़ेपर चढ़ता है, कभी मगर पर चढ़ता है–तुम्हारे 'अहं' का तो कोई वाहन ही नहीं है! कभी काम पर चढ़ा तो कामी हो गया। क्रोधपर चढ़ा तो क्रोधी हो गया, लोभ पर चढ़ा तो लोभी हो गया–तुम्हारे 'अहं'के पास कोई वाहन नहीं है। वाहन नहीं है। हे भगवान्! जब गधेपर चढ़ें, जब घोड़ेपर चढ़ें, जब सुअरपर चढ़े तब जरा सावधान रहना चाहिए।

उपद्रष्टा अनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।

यह आत्मदेवका स्वरूप बड़ा विलक्षण है–ये ही स्वामी हैं, भरण-पोषण कर रहे हैं, ये ही सबमें-से सुख ले रहे हैं, ये ही सबको अपने काबूमें रख रहे हैं। ये अवस्थाएँ हैं–वृत्तिमें बैठकर उपद्रष्टा, मतिमें बैठकर अनुमन्ता और सबको सत्ता-स्फूर्ति देकर भर्ता और सबका सुख लेकर भोक्ता–शान्त रहकर भोक्ता, सबको काबूमें रखकर महेश्वर और परिच्छिन्न आत्माके साथ तादात्म्य छोड़ दो तो? तो वही परमात्मा! परमात्मा किसका नाम है? कि यह आत्माका नाम है। यह परम पुरुषका नाम है, पुरुषके पर स्वरूप का यह नाम है। परमात्मा कहाँ रहता है कि यहीं रहता है–'अस्मिन् देहे'–इसी देहमें।

अब देखो एक चौथी चीज–वृत्तियोंके साथ तादात्म्यापन्न हो जाना, केवल देहके भीतरके देशमें रहना और बहते रहना–यहाँ-से-वहाँ, वहाँ-से-वहाँ, वहाँ-से-वहाँ–ये तीनों बातें जो हैं वे द्रष्टामें कभी शान्त होती हैं और कभी उठती हैं। परन्तु यह कब? कि जब एक देहके साथ सम्बन्ध है। जब आप इस द्रष्टाको परमात्माके रूपमें जान लो तो–'ब्रह्म सम्पद्यते तदा' (13.30) गीतामें है– तब यह द्रष्टा ब्रह्म है।

साधनकी चर्चा है–तो यह देहमें जो 'मैं'-पना है–हड्डी-मांस-चामके घेरेमें–उसपर भी चढ़ बैठे–वाहन कैसा बनाया कि इतना गंदा! तब इसका नाम हो गया–अभिनिवेश। पराये घरमें घुस जाना–घुस नहीं जाना जाकर पराये घरमें सो जाना। यह देहमें जाकर सो जाना माने अपने स्वरूपको ही नहीं जानना कि मैं कौन हूँ। तो जब आप विवेक प्रारम्भ करेंगे तो यह देहमें जो अभिनिवेश है–यह निकल जायेगा। एक ज्ञानी कभी-कभी हमारे पास चिल्लाते हैं–हम ज्ञानी हैं, क्या समझते हो? हम चोरी करेंगे, तब भी हमको पाप नहीं लगेगा–हम हिंसा करेंगे, तब भी हमको पाप नहीं लगेगा–हम ज्ञानी हैं, हमको क्या समझते हो? तो वह ज्ञानी कहाँ बैठकर बोल रहा है आप बतलाइये। चोरी करता है शरीर-शरीरके साथ यदि वह एक नहीं होगा तो ऐसे ललकारकर कैसे बोलेगा? ललकारकर जब बोलता है तो सचमुच वह देहके साथ एक होता है! अरे महाराज, आप ज्ञानी हैं तो सदाचारसे रहो, शिष्टाचारका पालन करो। यह जब हम लोग प्रवचन प्रारम्भ करते हैं तो सारे शास्त्रोंमें बताया गया है कि जब कोई काम प्रारम्भ करें तो माङ्गलिक शब्द पहले बोल लिया करें, यह शिष्टाचार है। तो बोले नहीं, हम किसीके सामने सिर झुकाते हैं? तो यदि सिर तुम नहीं होते तो सिरके झुकानेको अपना झुकना नहीं मानते। बोले कि हम ज्ञानी होकर अपना सिर झुकावें: कि बेवकूफ-शरीरके झुकनेको तो अपना झुकना मानता है और बनता है ज्ञानी–इसका नाम अभिनिवेश है!

तत्त्वज्ञानीका देहके साथ सम्बन्ध ही नहीं है! तो, स्थूल देहके साथ सम्बन्ध तोड़ना यह तत्त्वज्ञानकी पहली तलवार है।

तत्त्वज्ञानीका शरीर काशीमें है कि चाण्डालके घरमें? जब देहमें अभिनिवेश ही नहीं रहा–तो देह कहाँ है–इसका क्या ख्याल है!

दूसरी तलवार देखो–महात्माका सबसे बड़ा तिरस्कार सबसे बड़ा अपमान संसारी लोग क्या करते हैं? कि जब वे कहते हैं कि तुमको तो राग-द्वेष है। संसारी लोगोंका आक्रमण यही है। तो देहमें 'मैं' न होना यह तत्त्व-ज्ञानकी पहली चोट और देहके बाहर जो लोग हैं उनके रंग–में–रंग न जाना, उनसे राग न करना, उनसे द्वेष न करना, यह तत्त्व ज्ञानकी दूसरी तलवार है।

यह राग मीठा जहर है–खाते समय आदमीको जैसे मीठा जहर मालूम नहीं पड़ता–वैसे यह जहर है। इसीसे द्वेषसे भी बुरा रागको बताते हैं, क्योंकि द्वेष तो जलन है, आग है–वह जिस दिलमें पैदा होता है उस दिलको पहले जलाता है और यह पहचानमें भी आ जाता है कि हमारे हृदयमें इसके प्रति द्वेष है। यहाँ तक हम आपको कह सकते हैं कि यदि किसीके शरीरको हानि पहुँचानेका विचार आपके मनमें आता है, किसीकी बुद्धिको बिगाड़नेका विचार आता है, किसीके सुखमें बाधा डालनेका विचार आता है अथवा एक व्यक्तिको आप समष्टि कि जिस व्यक्तिको हम बिल्कुल तुच्छ समझते हैं, समझते हैं कि यह हमसे छोटा है, हम इसका चाहे जितना तिरस्कार कर सकते हैं, इसको चाहे जितनी गाली दे सकते हैं, यह तो एक है, वह व्यक्ति ऐसा है नहीं। वह व्यक्ति एक नहीं है, उस व्यक्तिके भीतर सारी समष्टि छिपी हुई है! आपके हृदयमें यदि द्वेष नहीं होता तो आप ऐसा नहीं करते। और राग? रागका मतलब है–पक्षपात। महात्मागाँधीसे किसीने पूछा कि आप तो सत्याग्रही हैं, सत्याग्रही बननेके लिए, समाज सेवाका काम करनेके लिए ब्रह्मचर्यकी क्या जरूरत है–इसमें आप सत्य, अहिंसा ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अभय अस्तेय, सर्वधर्मसमत्व–यह सब बीचमें क्यों रखते हैं? उन्होंने कहा कि देखो–यदि हम दो होंगे सबसे पहले–रागी हम और हमारा रागास्पद, तो हम दोनोंको अच्छा कपड़ा मिले, हम दोनोंको अच्छा भोजन मिले, हम दोनों सबसे ऊपर होकर रहें–यह भाव बनेगा। तो जिससे हम राग करते हैं हम उसीकी सेवा करेंगे–सारे समाजकी सेवा नहीं करेंगे। यह राग जो है वह सारी दुनियासे सम्बन्ध छुड़ाकर, गुरु–ईश्वर–वेद–धर्म–सबका तिरस्कार करके कहता है कि हे ईश्वर! हमारा जिससे राग है उसकी सेवा कर, उसका पहरा दे। तो यह राग जो है वह बड़ा भारी सत्यानाशी है, इसलिए समाज सेवकके लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है! और तत्त्वज्ञानमें तो आत्मस्वरूपके अतिरिक्त दूसरा कुछ है ही नहीं, फिर किससे राग और किससे द्वेष? इस तरह दूसरी चोट जो लगती है–तत्त्वज्ञानकी–वह राग–द्वेषपर लगती है।

तीसरी चोट जो तत्त्वज्ञानकी है–आपको मालूम है कि उसमें अस्मिताके लिए कोई अवकाश ही नहीं है–

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः। (2.24)

'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः'– आप देखो आश्चर्य मत मानना–यह आपके आत्माका वर्णन है, आपका ही वर्णन है! यह 'न जायते म्रियते वा कदाचित्'– यह किसका वर्णन है–परमेश्वरका? परमेश्वरका नहीं; आपका वर्णन है! परमेश्वरका वर्णन दूसरी जगह है और वह दूसरे ढंगका है। 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे'–शरीरकी मृत्यु होनेपर आत्माकी मृत्यु नहीं होती–यह बात सिर्फ आपके बारेमें कही जा रही है, ईश्वरके बारेमें नहीं कही जा रही है! क्यों? कि ईश्वरकी तो मृत्यु किसीके ख्यालमें है ही नहीं; तो वहाँसे हटानेकी कोई जरूरत ही नहीं। यह बिल्कुल आपका वर्णन है–'हन्यते हन्यमाने शरीरे; न जायते मियते कदाचित् ; नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे'–आपको ही यह ख्याल था कि यह शरीर मरनेसे मैं मर जाऊँगा, यह ख्याल था कि भीष्म–द्रोण आदि शरीरके मर जानेसे मर जायेंगे, उस ख्यालको मिटानेके लिए यह कहा गया कि शरीरके मरनेसे नहीं मरता–कौन नहीं मरता कि भीष्मका आत्मा नहीं मरता, द्रोणका आत्मा नहीं मरता, अर्जुनका आत्मा नहीं मरता–यह बात आपके लिए ही कही गयी। द्वैतवादी टीकाकार भी यहाँ जीवात्माके स्वरूपका वर्णन ही मानते हैं। इसके बाद कहा गया कि यह आत्मा अर्थात् आप स्वयं सर्वगत हैं व्यापक हैं, एक देशीय नहीं हैं :

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।

यहाँ 'अयं' कहकर जब 'सर्वगतः' बोला गया–'अयं आत्मा सर्वगतः' तो क्या इसका यह अर्थ है कि नाखूनसे लेकर सिर तक एक शरीर

में सर्वगत है–इसका यह अर्थ नहीं है। यह आत्मा सर्वगत है अर्थात् सर्वदेशमें व्याप्त है, देश-परिच्छेदसे मुक्त है, देश-कल्पनाके भावाभावका प्रकाशक है। क्या विचित्र है यह आत्मज्ञान? आपकी अस्मितापर ही चोट करता है! लेकिन, आप जरा इधर तो ध्यान दो। यदि एक योगी समाधि लगाता है तो वह कहता है कि हमको समाधि लगती है और सब संसारी हैं, तो अच्छा भाई, हम मानते हैं आप योगी जी हैं आपको समाधि लगती है। लेकिन महाराज, एक द्रष्टाका ध्यान करनेवाला जब यह कहता है कि हम तो द्रष्टा हैं क्योंकि द्रष्टा-भावमें घण्टे भर स्थित रहते हैं, दो घण्टे, तीन घण्टे, चार घण्टे स्थित रहते हैं और अपनेको छोड़कर अन्य सब कर्त्ता हैं, भोक्ता हैं, संसारी हैं, बद्ध हैं, परिच्छिन्न हैं–तो एक शरीरमें द्रष्टा बनकर जब एक शरीरमें रहने लगते हैं और द्रष्टापनेकी सारी विशेषताओंको जब एक शरीरमें ले लेते हैं, तब द्रष्टाका तो कचूमर ही निकल जाता है! द्रष्टा तो तभी द्रष्टा हो सकता है वह समग्र देशका द्रष्टा हो–पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिणका द्रष्टा हो; समग्र कालका द्रष्टा हो–भूत-भविष्य-वर्तमान कालका द्रष्टा हो; यदि वह समग्र वस्तु-बीजका द्रष्टा हो, जीवका द्रष्टा हो, ईश्वरका द्रष्टा हो, प्रकृतिका द्रष्टा हो–उसका द्रष्टापना अद्वितीय ब्रह्म हो तब उसका द्रष्टापना सच्चा होता है, नहीं तो सबसे अलग रहकर काल-कोठरीमें बन्द है–घण्टे-भरका द्रष्टा है, अपने एक दिलका द्रष्टा है–एक अन्तःकरणमें आनेवाली वृत्तियोंका द्रष्टा है। यह अस्मिता ही है। तो यह द्रष्टापन अस्मिताका भंग कब करेगा? कि एक शरीरमें जो अहं-भाव है, वह टूटेगा।

उपद्रष्टा अनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।

यह जो 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'–यह जो साक्षी है, चेतन है, केवल है, निर्गुण है–यह महाराज; आत्मज्ञानकी चोट है अपने अस्मिभाव पर, अहं भावको, परिच्छिन्नताको निकालनेपर तब यह तत्त्वज्ञान करता क्या है? इसकी शोध देखो–यह नहीं कि आप जब समाधि लगाते हो, तब ब्रह्म हो और जब व्यवहारमें आते हो तो ब्रह्मके सिवाय कोई दूसरे हो जाते हो–विक्षेप और समाधिका भेद काटकर जो समाधिमें ब्रह्म है वही विक्षेपमें भी ब्रह्म है। कारण है प्रकृति तो कार्य है जगत्, कारण है, ईश्वर अव्यक्त और कार्य है यह व्यक्त, कारण है कृष्ण और कार्य है राधा, कृष्ण है पुरुष और राधा है प्रकृति-यह अधिदैव है। कारण-कार्य अधिभूत है और राधा-कृष्ण आधिदैव है और द्रष्टा-दृश्य अध्यात्म है। लक्ष्मी-नारायण अधिदैव हैं, गौरी-शंकर अधिदैव हैं और ब्रह्म कौन है? जहाँ यह दो-दो हैं, यह युगल है–यह गृहस्थ-धर्म है–राधा-कृष्ण गृहस्थ धर्म है; द्रष्टा-दृश्य वानप्रस्थ है–संन्यास नहीं है, कैवल्य नहीं है; और कार्य-कारण जो है वह धर्म नहीं है विकार है। अधिभूतमें विकार है, अधिदैवमें प्रेम है–राधा-कृष्णका प्रेम है–और अध्यात्ममें वानप्रस्थ-अभेद है और परब्रह्म परमात्मामें यह युगल-धर्म नहीं है, एक अद्वितीय है। गीता इस अद्वितीय ब्रह्मका निरूपण करती है–

अनादि मत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।। (13.12)

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।।
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।।

(13.13-14)

आप यह देखिये कि आप जो साधन करते हैं वह साधन आपके जीवनके किस दोषको काटता है। आपके जीवनकी गलतीको दूर करनेके लिए साधन होता है। यदि आपके साधनके द्वारा आपके जीवनकी कोई गलती दूर नहीं होती है तो वह साधन नहीं है, उसपर विचार कीजिये, फिर विचार कीजिये और उसको समझिये। यह समझ ब्रह्मज्ञान नहीं है, यह समझ विवेक है। विवेक बहिरंग साधनका पहला अङ्ग है। यह विवेक है, विवेक से वैराग्य होता है, वैराग्यसे षट्सम्पत्ति आती है, षट्सम्पत्ति आनेसे मुमुक्षा होती है–यह बहिरंग साधन है। विवेक बहिरंग साधन है, अन्तरङ्ग होता है–श्रवण, मनन और निदिध्यासन और साक्षात् होता है–आत्मा और ब्रह्मके ऐक्यका बोध, ऐक्याकारवृत्तिका अभ्यास नहीं, वह तो कर्त्तापनसे होता है, उसमें तो कर्तृत्व है, बार-बार दोहराना पड़ता है और जहाँ दोहराना है वहाँ कर्त्तापन है और ऐक्यके बोधमें बोधको दोहराना नहीं पड़ता है–वह होता है साक्षात् साधन।

आगे हम आपको बतायेंगे कि गीतामें साधनोंके स्वरूपका किस ढंगसे वर्णन है। ✯

प्रवचन : 12

सम्पूर्ण एवं उज्जवल जीवनके लिए युक्तजीवन

सभी शास्त्र आत्म संस्कारक होते हैं! जो हमारे संग्रहमें दोष हैं, हमारे कर्ममें दोष हैं, हमारे भोगमें दोष हैं, हमारे भाषणमें, हमारे मनमें, हमारी बुद्धिमें, हमारी स्थितिमें दोष हैं, ये शास्त्र उन दोषोंको दूर करते हैं वैसे ही जैसे हमारी माता हमारे दोषोंको दूर करती है! यह बात बिना सिखाये किसीको नहीं आ सकती ऐसा इसका सिद्धान्त है। जो लोग ऐसा सोचते हैं कि अपने-आप भीतरसे कोई भभका आवेगा और सब ठीक कर देगा, वे लोम अपने जीवनकी उन्नतिको संयोगपर छोड़ देते हैं कि कभी तीतर-बटेर कुछ हाथ लग जावेगा; तो ऐसे संयोगपर अपने जीवनको छोड़ना-यह वस्तुके अनुरागका तो सूचक है, परन्तु, आत्मानुरागका सूचक नहीं है। कभी भगवान् कृपा कर देंगे तो हमारा कल्याण हो जायेगा-भीतर जो कोई वस्तु भरी है एक दिन अकस्मात निकल आयेगी तो हमारा कल्याण हो जायेगा, कभी राहमें चलते-चलते नोटका बंडल मिल जायेगा तो हम धनी हो जायेंगे-यह सब ख्याल जो है सो बिलकुल गलत हैं; और यदि कभी किसीको भीतरसे भभका आता भी है तो वह पूर्वजन्मके जो शास्त्रीय-संस्कार हैं, उन्हींके कारण आता है-बिना बीज हुए अंकुरकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिए यदि पहलेका बीज नहीं है तो अब बीज डालो-यह बहुत जरूरी है। इसलिए जो लोग शास्त्रका स्वाध्याय, सत्सङ्ग छुड़ाकर सिर्फ अकेलेमें बैठाना चाहते हैं वह अन्ततः तुम्हें वासनाओंका गुलाम बनायेंगे, क्योंकि एकान्तमें बैठनेपर जो वासनाएँ दबी हुई पड़ी हैं वे निकलेंगी।

जैसे दाँतपर जब ज्यादा मैल चढ़ जाता है तो डॉक्टरसे उसकी सफाई करा लेते हैं-यह एक संस्कार हुआ (दोष-निवृत्ति) और पालिश करा देते हैं तो दाँत चमकने लगता है-यह दूसरा संस्कार हुआ (गुणाधान); और कोई दाँत टूट गया हो तो उसको फिरसे भरवा लेते हैं या दूसरा दाँत लगवा लेते हैं-यह तीसरा संस्कार हुआ (हीनाङ्ग-पूर्ति); वैसे ही आप अपने समूचे जीवनमें सोचो कि क्या दोष हैं, किन गुणोंकी कमी है और हमारी पूर्णता क्यों नहीं अभिव्यक्त हो रही है? यदि नासमझी है तो नासमझी भी एक दोष है और उसको भी दूर करनेका हमें प्रयत्न करना चाहिए।

आपको गीताके सम्बन्धमें यह सुनाना चाहते हैं कि गीता आपका सर्वाङ्गीण विकास चाहती है, गीता किसी भी अंशमें आपके अन्दर कोई त्रुटि नहीं रहने देना चाहती है। नमूनेके तौरपर आप देखें-गीता आपके भोगको भी योग बनाना चाहती है-आप भोग कीजिये, परन्तु योगीके समान भोग कीजिये-

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।। (6-17)

हम आपके दुःख मिटाना चाहते हैं-'योगो भवति दुःखहा' दुःख कब मिटेगा? कि जब दोष मिटेंगे, बिना दोष मिटे दुःख नहीं मिट सकता। बोले आवो-और दोष, और दुःख तो तुम बादमें मिटाना, पहले हमारे जीवनमें जो शारीरिक दुःख होते हैं वह तो मिटाओ। 'युक्ताहारविहारस्य'-अपने आहार-विहारको युक्त माने योगयुक्त-एक मात्रामें भोजन करो, पथ्य भोजन करो, रोज परिश्रम करो, स्त्रीके सम्बन्धमें जितेन्द्रिय होवो और मनसे, वाणीसे कर्मसे किसीके साथ द्रोह मत करो-इतने यदि जीवनमें हों तो मनुष्य रोगी नहीं हो सकता।

किसीके साथ द्रोह न करे। द्रोह माने मारना नहीं, द्रोह माने गाली देना नहीं-वह तो हिंसाके लक्षण हैं-किसीको नुकसान पहुँचानेका ख्याल, दुःख पहुँचानेका ख्याल द्रोह है। जबकि दूसरेको दुःख पहुँचानेके लिए हमारा काम करना, दूसरको दुःख पहुँचानेके लिए भोगना, दूसरेको दुःख पहुँचानेके लिए अपने मनमें सोचना-इसका नाम हिंसा होता है। जब मनुष्यके मनमें दूसरेको दुःख पहुँचानेका ख्याल-मनमें आनेसे पहलेकी पूर्वावस्था 'ख्याल' आता है, वही द्रोह है-तब मनुष्यका जीवन पशुका जीवन हो जाता है। हिंसा मनुष्य-धर्म नहीं है, हिंसा पशु-धर्म है। तो 'युक्ताहारविहारस्य'-आपके जीवनमें दूसरेके लिए कहीं भी दुःख नहीं होना चाहिए। जो एक मात्रामें भोजन करे, पथ्य भोजन करे, और अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखे। इन्द्रियोंको वशमें रखनेका अर्थ यह है कि जैसे सधा

हुआ घोड़ा एड़ीके इशारेको समझता है, लगामके इशारेको समझता है, वैसे ही इन्द्रियाँ सब उसके हाथमें हैं। केवल इन्द्रियोंका मुँह नहीं बन्द करना है, उनको अपने काबूमें रखना है। मनुष्यको मनुष्य बनकर रहना चाहिए, उसे पशु-धर्मी नहीं होना चाहिए। देखो, यह क्या है कि जो अभिनिवेशरूप रोग है-देहमें 'मैं' उसको मिटानेके लिए गीता बताती है-'युक्ताहारविहारस्य' आहार भी युक्त करो, विहार भी युक्त करो-माने हमारा भोग औचित्यका उल्लंघन नहीं करे। औचित्यके उल्लंघनसे बुरा और कुछ नहीं है; जहाँ औचित्यका उल्लंघन है वहाँ सुख नहीं है, वहाँ रस नहीं है। 'युक्तचेष्टस्य कर्मसु'=यह कर्मयोग हुआ-अर्थात् निकम्मा नहीं बनना चाहिए और कर्मके लिए जो उचित चेष्टा है वह करते रहना चाहिए-

'मा ते सङ्गोस्तु-अकर्मणि' (2.47) तमोगुणपर विजय प्राप्त करा दी-'युक्तस्वप्रावबोधस्य'-यह नहीं कि सोते रहे तो सोते रहे और जगते रहे तो जगते रहे-सोने-जागनेका कोई नियम नहीं, सोना-जागना भी मात्रामें होना चाहिए। सोना और जागना दोनों कालमें होते हैं, क्रिया शरीरसे होती है, आहार-विहार इन्द्रियोंसे होते हैं-कर्मेन्द्रियोंसे क्रिया होती है, आहार-विहार ज्ञानेन्द्रियोंके व्यवहारको नियमित करना, कर्मेन्द्रियोंके व्यवहारको नियमित करना और कालमें आनेवाली स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओंको बिलकुल नियमित बनाना। असलमें हमें एक लक्ष्यका वेध करना है-उन लोगोंको छोड़ दो जिनके जीवनमें कोई लक्ष्य ही नहीं है। जब बन्दूकका निशाना लगाना है तो-'युक्ताहार-विहारस्य'-आपके हाथमें बन्दूक सधी हुई होनी चाहिए। रामायणमें वर्णन आया है कि चित्रकूटमें भगवान् श्रीराम जानकीजीको निशाना लगानेकी शिक्षा दे रहे हैं-एक घुटना लगाकर भगवान् राम बैठे और जानकीजीको बाहोंमें ले लिया और उनके हाथमें धनुष देकर किस कोणसे निशाना लगानेसे निशाना लगेगा-यह भगवान् राम जानकीजीको लक्ष्य-भेद करना सिखा रहे हैं-उसमें हाथ कैसे हो, पाँव कैसे हो, और आँखसे कैसे देखें-इन सबका वर्णन मिलता है। तो हमें यदि अपने जीवनमें कोई लक्ष्य प्राप्त करना है तो जीवनमें नियमन आना ही चाहिए।

दूसरी बात आप देखो-वैसे यह बात तो संसारके सब व्यवहारियोंके लिए है फिर भी साधकको कैसे युक्त होना चाहिए-समाधि-कालमें कैसे युक्त रहे, साधन-कालमें कैसे युक्त रहे और सिद्धि-कालमें कैसे युक्त रहे-आप गीतामें देखो बड़ा मजा आयेगा आपको! सारा व्यवहार युक्त रहकर करना चाहिए, अयुक्त होकर नहीं करना चाहिए-पहले तो युक्त और वियुक्त देखो। जब आप काम करते हो तो अपने आपमें बैठकर करते हो कि आपेसे बाहर होकर करते हो? जब आदमीको गुस्सा आता है तब ऐसा बोलते हैं-कि ये आपेसे बाहर हो गये। मुसलमानोंमें इसका प्रयोग कामके सम्बन्धमें और हिन्दुओंमें क्रोधके सम्बन्धमें है! आपेसे बाहर माने अपने काबूमें नहीं है। आप देखो-मनमें काम-क्रोध कभी-कभी आ जाते हैं, तो क्या मनमें जब काम आवे, क्रोध आवे तो आपेसे बाहर हो जाना चाहिए? एक सज्जन हैं, उनको कभी-कभी मेरे ऊपर क्रोध आता है, तो जब क्रोध आता है तो आकर दो-चार बात सुना जाते हैं, और तब औचित्य, शिष्टाचार सब भङ्ग हो जाता है; उस समय वे हमको महात्माके रूपमें नहीं चित्रित करते हैं, दुरात्माके रूपमें चित्रित करते हैं-बिल्कुल दुरात्माके रूपमें हमारी तस्वीर बनाते हैं और हमको दिखाते हैं-देखो, यह तुम्हारी तस्वीर है; तुम अपनी तस्वीर नहीं जानते हो, हम जानते हैं, देखो अपनी तस्वीर और शीशा लाकर हमारे सामने रख देते हैं।

तो व्यावहारिक जीवनमें आहार-विहार सोना-जागना सब आवश्यक है, लेकिन, जब आप साधक जीवनमें चलते हैं तो थोड़ा उससे कुछ आगे बढ़ना पड़ता है। जो लोग आपको सुनाते हैं कि जब मनमें क्रोध आवे तब गाली दे दो और जब मनमें काम आवे तब अनाचार-व्यभिचार कर लो और लोभ आवे तो चोरी कर लो-आप भले उनको बढ़िया समझते हैं, भले ही वे मनोवैज्ञानिक हैं-आप अपने घरमें उनकी तारीफ भी कर लेना-हमको कोई आपत्ति नहीं है-यह तो वर्तमान मनोविज्ञान है कि मनमें कोई वृत्ति उदय हो तो उसको रोकना नहीं, लेकिन, हम आपसे विनय करते हैं कि आप अपने बच्चेको ऐसी शिक्षा मत देना कि जो तेरे मनमें आवे सो कर लिया कर। क्या आप अपनी पत्नीको ऐसी शिक्षा देंगे कि जो तुम्हारे मनमें आवे सो कर लिया करो। अच्छा, क्या पत्नी अपने पतिको ऐसी शिक्षा देगी कि जो उसके मनमें आवे सो कर लिया करे तो जब पति-पत्नीको ऐसी शिक्षा नहीं दे सकता है और पत्नी पतिको ऐसी शिक्षा नहीं दे सकती और माँ-बाप बेटेको ऐसी शिक्षा नहीं दे सकते तो, इस शिक्षामें कहीं-न-कहीं दोष है। आप मनकी

भलमनसाहत पर इतना विश्वास कैसे करते हैं? रास्तेमें जब मोटर पर हम चलते हैं तब हमारे मनमें ऐसा भी आता है कि पैदल चलनेवालोंको शऊर (शहूर) नहीं है, बड़े अशिष्ट लोग हैं कि मोटरके सामने आ जाते हैं और जब हम पैदल चलते हैं और मोटर आती है तब सोचते हैं कि मोटर चलानेवालेको मोटर चलाना ही नहीं आता! यह हमारे मनकी दशा है कि नहीं है? रोज-रोजकी दशा है-दूसरेके ऊपर दोष डालते हैं। सावधान-इसके सम्बन्धमें बिलकुल सावधान रहना चाहिए-यह वासनाओंका वेग बड़ा प्रबल होता है और मनमें आनेसे उनको कोई रोक नहीं सकता है, यह मनमें आती हैं, परन्तु, मनमें आनेपर उनके अनुसार बोल ही दिया जाये, उनके अनुसार कह ही दिया जाय-यह समझदारीके बिलकुल खिलाफ है-

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।। (5.23)

'योगो भवति दुःखहा'-यह पहली बात थी-और अब कहा-'स युक्तः स सुखी नरः'-अब कहते हैं कि इससे केवल दुःख ही नहीं मिटता, इससे सुख होता है। जब आपके मनमें काम और क्रोधका वेग आवे-क्रोधका आना-न-आना आपके हाथमें नहीं है-यह तो पूर्व-संस्कार हैं-जो लोग पूर्व-जन्म नहीं मानते उसके माता-पिताके संस्कार हैं, उनके नाना-नानीके संस्कार है, दादा-दादीके संस्कार है। बचपनमें जैसी सोहबत-सङ्ग मिला है उसका संस्कार है, जो पढ़ा-लिखा उसका संस्कार है, सिनेमा-थियेटर देखा उसका संस्कार है-प्रत्येकको यह तो मालूम ही होता है कि बच्चेकी उत्पत्ति कैसे होती है-यह जानकारी तो वह प्राप्त करता ही है तो काम-क्रोध जो है, वह आना मनमें असंभव नहीं है-यह असत्य नहीं है कि हमारे मनमें किसीके प्रति गुस्सा आ जाता है कभी, कभी काम आ जाता है, परन्तु, इसके लिए दो बातपर ध्यान रखना चाहिए-मनमें काम-क्रोध आ गया, आ गया, घरमें गुण्डा आ गया, आ गया, लेकिन, बुद्धिसे उसका समर्थन करना गलत है; बुद्धिके द्वारा उसका समर्थन मत करो और क्रिया पर्यन्त उसको जाने मत दो-गुण्डेको भण्डारघरमें-जहाँ आपका माल-मत्ता रखा है वहाँ मत जाने दो और उसकी बुद्धिके साथ अपनी बुद्धि मत मिलाओ। काम-क्रोधका स्वभाव यह है कि वे आनेके बाद मालूम पड़ते हैं। जब पहले आ जाते हैं-मनमें तब ज्ञान होता है कि आ गये, आनेके पहले नहीं मालूम पड़ता। अच्छा, आ गये तब? तब आप उनको बिल्कुल पीस दीजिये। कैसे पीसें? कि चक्कीके दो पाटसे। चक्कीके वे दो पाट कौन-से हैं? कि एक तो क्रियामें उनको मत उतरने दीजिये। माने वैसा होने मत दीजिये-क्रोध आया तो गाली मत दीजिये, काम आया तो व्यभिचार मत कीजिये, लोभ आया तो चोरी-बेईमानी मत कीजिये-सपनेकी तरह मनमें आया और वहीं उनको मिट जाने दीजिये और साथ ही बुद्धिके द्वारा समर्थन मत कीजिये। ऐसा मत सोचिये कि-यह कोई अच्छी बात मनमें आयी-एक बुरी बात आ गयी-ऐसा सोचिये-ध्यान लगा लीजिये, ब्रेक लगा दीजिये-उनपर वारकका प्रयोग कीजिये, तब आपके बच्चे भी ठीक रहेंगे। पत्नी भी ठीक रहेगी, पति भी ठीक रहेंगे, भाई भी ठीक रहेंगे। यदि आप कहेंगे कि जो मनमें आया सो ही करेंगे तो आप मनकी भलमनसाहत पर जरूरतसे ज्यादा विश्वास करते हैं और आप बच्चेके लिए यदि इसकी छुट्टी देंगे तो आपका बच्चा बिगड़ जायेगा, पत्नीके लिए यदि इसकी छुट्टी देंगे तो जो सच्चरित्रताका संस्कार है वह मिट जायेगा-पतिके लिए यदि इसकी छुट्टी देंगे तो-वह खराब हो जायेगा! गीताका कहना है कि जीवनमें एक नियन्त्रण होना चाहिए-

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।

यह जीवन कालके लिए है भाई, मुर्दा हो जानेके बात कोई सवाल नहीं है। यदि आप साधक हैं, साधनको जीवनमें रखना चाहते हैं, आपके अन्दर जीव है कोई तो, आप ऐसे क्यों कहते हैं कि दुश्मनका सिपाही हमारे राष्ट्रमें प्रविष्ट होता है तो होने दो, गोली चलाता है तो चलाने दो-ऐसा क्यों करते हैं? तो नारायण, दो बात इसके लिए है-काम-क्रोधादिको चित्तमें आनेसे रोकना किसीके वशकी बात नहीं है; परन्तु आनेके बाद क्रिया-पर्यन्त जाना-यह वशकी बात है। मनमें किसीके ऊपर गुस्सा आना दूसरी चीज है, हाथ आपके काबूमें हैं, आप भोजनके लिए उसको उठाते हैं, आप मच्छर-भगानेके लिए उसको चालू करते हैं-आपके चलानेसे हाथ चलता है, तो गुस्सा आ गया, दिलमें तो आ गया, लेकिन हाथपर जो आपका नियन्त्रण है उसको मत छोड़िये; और दूसरी बात है कि बुद्धिसे उसको सहयोग मत दीजिये! इसमें एक पाट बुद्धिका है और एक पाट क्रियाका है।

यदि आप साधनके पक्षमें चलना चाहते हैं, यदि आपको लक्ष्य-वेध करना है तो आपको बन्दूकको सीधा करना पड़ेगा, आँखसे लक्ष्य-वेधके लिए निशाना लगाना होगा-यह जो आँखको ठीक ढंगसे बैठाना है-इसीका नाम तो साधन है। 'युक्ताहार-विहारस्य'-आपका आहार-विहार, कर्मचेष्टा, स्वप्न और जाग्रत् यह बिलकुल व्यवस्थित, नियमित होना चाहिए। जो लोग विवेकको वैराग्यके हेतु, विवेकको ज्ञान कहते हैं हम उनकी बात समझते हैं-जब विवेक आयेगा तब सब ठीक हो जायेगा, पर विवेक लानेकी भी तो कोशिश कीजिये। विवेक और ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान एक नहीं हैं-ब्रह्मात्मैक्यज्ञान दूसरी चीज है और अच्छे-बुरेका विवेक होना दूसरी चीज है। तो-

अब देखो, एक तीसरी बात आपको सुनाते हैं, साधनके लिए बुद्धि और क्रिया, विचार और कर्म किये जाते हैं, काम-क्रोध किये नहीं जाते, काम-क्रोध आ जाते हैं। विचार और कर्म आते नहीं हैं, किये जाते हैं जबकि काम-क्रोध आते हैं किये नहीं जाते। क्रिया दूसरी चीज है, वह शरीरकी सतहपर है और विचार बुद्धिके स्तरपर है। देह तादात्म्यपन्न जीव कर्म करता है और बुद्धि तादात्म्यापन्न जीव विचार करता है और-मनस्तादात्म्यापन्न जो जीव है उसमें काम-क्रोध आते हैं। तो, काम-क्रोध तो आनेपर ज्ञात होते हैं उनका गृहीत ग्रहण होता है-वे असलमें पूर्व-पूर्व कृत और स्मृतिके रूपमें ही उदय होते हैं इसलिए न वे प्रमाण हैं, वे तो एक वृत्तिकी फुरफुराहट हैं और वे फुर-फुरायें और शान्त हुए। जो ऐसा नहीं करता है वह कैसा है? तो बोले-मुर्दा है। 'प्राक् शरीरविमोक्षणात्'का यही अर्थ है।

जाके समुहे दुश्मन बैठे वाके जीवनको धिक्कार।

हमारे यहाँ आल्हा-उदलका गाना होता है, तो ऐसे ही बोलते हैं-

जाके समुहे दुश्मन बैठे वाके जीवनको धिक्कार।

जिसके सामने काम-क्रोध उपद्रव कर रहे हैं उस साधकके जीवनको धिक्कार है! बिल्कुल मनकी कोठरीमें बन्द काम-क्रोध वहीं भभकते हैं और वहीं नष्ट होते हैं! जैसे जुगनूका बरसातके दिनोंमें चमकना होता है और चमकना बन्द होता है! वैसे ही ये काम-क्रोध भी आत्मतादात्म्यसे चमकते और बन्द होते हैं। बोले, कब बन्द होते हैं? जब बुद्धिके साथ तादात्म्यापन्न होकर हम विचारके द्वारा उस काम-क्रोध-लोभका समर्थन नहीं करते हैं जो न्यायके विपरीत हैं, जब उस क्राम-क्रोध-लोभकी क्रियाका समर्थन नहीं करते हैं जो औचित्यके विपरीत हैं; और जब हम उसको कर्म-पर्यन्त नहीं ले जाते हैं! इसीसे किसीके हाथमें बढ़िया घड़ी देखकर यदि आपके मनमें आ जाये कि हम यह घड़ी ले लें तो उसमें हाथ मत लगाना नहीं तो बड़े-घरकी यात्रा करनी पड़ेगी। तो साधनका सत्यानाश मत करो!

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।

अब देखो, इसके आगेकी बात आपको बताते हैं। उसमें राग-द्वेषको निरंकुर कर दिया, राग-द्वेषको निष्फल कर दिया, राग-द्वेष निष्फल हो गये। क्योंकि जब रागके अनुसार क्रिया नहीं करनी है और द्वेषके अनुसार मार-पीट नहीं करनी है-तो क्या हुआ कि जब फलपर्यन्त काम नहीं गया-माने व्यभिचार-पर्यन्त काम नहीं गया और हिंसा-पर्यन्त क्रोध नहीं गया और निष्फल होकर वहीं दब गया, आपके दोषका परिमार्जन हो गया।

अब आगे चलो। बोले-ठीक है महाराज, काम-क्रोध तो नहीं है, फिर भी यह मनीराम जो हैं बड़े चंचल होते हैं। आप युक्तपर ध्यान देना-'युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु' और 'प्राक् शरीर-विमोक्षणात् काम-क्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः'-दो प्रकारके युक्त हुए-अब यह तीसरा युक्त देखो।

यह तीसरा युक्त बहुत विलक्षण है। वह क्या है कि उसमें मनकी एकाग्रता है। यह नहीं कि मन चंचल हो तो होने दो। असलमें मन चंचल होता है और हम चंचल नहीं होते हैं-यह बात विवेक कालमें मालूम पड़ती है। यह सांख्य-दर्शनका विवेककाल और योग-दर्शनका स्थिति-काल-ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं। कर्तृत्व कहाँ तक जाता है इसपर आप ध्यान देंगे तो मालूम पड़ेगा कर्तृत्वकी गति बड़ी विलक्षण है, मनुष्यका कतृत्व इतना है कि कृति शब्द है-कृतिसे ही कृतृत्व हो जाता है-कृतृत्व और कर्तृत्व दोनों असलमें एक ही हैं-अब आपको तीसरी कथा सुनाते हैं। असलमें मनके चञ्चल होनेपर हम अचल रहते हैं, यह विवेक कालमें तो मालूम पड़ता है लेकिन जब मन चञ्चल होता है तब उस समय भी हम अचल हैं-यह मालूम नहीं पड़ता है-क्योंकि 'वृत्ति सारूप्यमितरतः (योग० 1.4) उस कालमें हम वृत्तिके साथ एक हो जाते हैं-हम ही कामी हैं, क्रोधी हैं, लोभी हैं। जहाँ तक आभासके साथ साक्षी एक नहीं होता वहाँ तक उसके चञ्चलत्वका भी बोध नहीं होता!

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।। (6.18)

आज हमारे व्यापारीकी स्थिति क्या है कि सत्संग सुनकर, पढ़कर बुद्धियोगकी उत्पत्ति हो गयी परन्तु अब उसका सबसे प्यारा तो है-नोटका बण्डल! अच्छा, आजकल देखो व्यापारीकी दशा कहाँ जा रही है? उसको पत्नी प्यारी नहीं है, प्रेयसी प्यारी है-उसकी वृत्ति कहाँ जा रही है और उसको जो तनख्वाहके रूपमें, ब्याजके रूपमें या अपनी मेहनतके रूपमें जो पैसा मिलता है वह प्यारा नहीं है जो ब्लैकसे पैसा आता है सो प्यारा है-आमदनी प्यारी वह जो छुपी हो और पत्नी प्यारी वह जो छुपी। और दुश्मनी भी ऐसी छिपाकर रखते हैं महाराज कि दुश्मनको पता न चल पावे कि हम उसके साथ दुश्मनी चरितार्थ करना चाहते हैं-यह आपका गोपनीय तत्त्व है-गोपनीय रहस्य है और यही आपके मनमें बैठा हुआ है, आप बुरा मत मानना, हम एक बात आपको इस सम्बन्धमें सुनाते हैं। आप देखिये, आपकी छिपी हुई प्यारीजी अलग हैं, छिपा हुआ दुश्मन अलग है और छिपा हुआ पैसा अलग है। अब आप कहते हैं कि हमारा मन स्थिर क्यों नहीं होता है, हमारा मन चंचल क्यों होता है। आप आसन लगाकर बैठे, हाथ-में-हाथ लेकर आपने ज्ञान-मुद्रा धारण की, आँखे अधखुली रक्खी और बोले मन तूँ आकर भीतर बैठ। तो प्यारीजी उधर हैं और उनकी आँख जो चलती है सो याद आ रही है, तो मन एक बार प्यारीजीके पास गया, एक बार कलेजेमें आया; बाहर अपनी प्रिय वस्तुको रखकर आप चाहते हैं कि भीतर अपने मनको स्थिर कर दें-नोटके बण्डलसे प्यार करें और मनको भीतर स्थिर करें तो-समझो एक स्त्री है और उसको अपने पतिको भोजन कराना था और उसी समय उसका छिपा हुआ प्यारा उसके घरके दरवाजेके सामनेसे निकलनेवाला था। तो वह एक रोटी परस दे और जाकर दरवाजेपर देखे कि कहीं आ तो नहीं रहा है और फिर जाकर एक रोटी परसे और फिर दरवाजेपर जाकर देखे कि वह आ तो नहीं रहा है। मनको स्थिर करना चाहते हैं एक ओर पतिके पास मनको स्थिर करना चाहते हैं रोटी परसनेमें और एक ओर प्यारेको सड़कपर घुमा रहे हैं। कैसे मन स्थिर होगा? आप साधुको उलाहना देते हैं-कहते हैं कि सब योग व्यर्थ हैं, आप कहते हैं कि सब मनोविज्ञानके विरुद्ध हैं जबकि आप स्वयं ही मनोविज्ञानके विरुद्ध हैं। जब आप हजार-हजार प्यारेको सड़कपर इधर-उधर ढूँढ़ते रहते हैं और आपका मन कहीं तिजोरीमें रखा है, कहीं बैंकमें रखा है, कोई सड़क पर रखा है, कोई पराये घरमें रखा है, कोई दुकानपर रखा है और आप कहते हैं कि अरे ओ मेरे मन, आजा और मेरे भीतर बैठ जा! कैसे भीतर बैठेगा? इसीसे कहते हैं कि जबतक बाहर दुश्मन रहेगा, जबतक बाहर राग रहेगा, जबतक बाहर द्वेष रहेगा, जबतक आप बाहर किसी चीजसे दुश्मनी करेंगे, डरेंगे और जबतक आप बाहर किसी चीजके प्यारमें डूबे हुए रहेंगे तबतक अपने मनसे यदि कहेंगे कि आवो बैठ जाओ और बोलेंगे कि यह सब ऐसे ही होता आया है और सब साधुओंका पाखण्ड है तो, आप पाखण्ड कहकर भले ही सन्तोष कर लीजिये, आपका लक्ष्य पूरा नहीं होगा।

यदा विनियतं चित्तं आत्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।

यह 'युक्त' क्या बोलता है कि क्या आपका मन एकाग्र है?

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।। (6.19)

एकाग्र माने जैसे वायु रहित स्थानमें दीपककी लौ चंचल नहीं होती वैसी स्थिति ही आपके चित्तकी हो! आप समझते हैं कि दो पैसाकी फूल-माला देकर हम ध्यानकी पराकाष्ठामें तीन मिनटमें पहुँचकर आजायेंगे या तीन हजार, तीन लाख देकर इस अवस्थाको प्राप्त कर लेंगे, परन्तु इसकी कीमत नहीं है-आपको कोई जादूगर आकर अथवा कोई हिप्नोटाईज कर देगा तो उसका अर्थ यह नहीं होता है कि आपका ध्यान लग जायेगा।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।

जबतक कामनाओंके प्रति आपके मनमें स्पृहा बनी हुई है तब तक आप युक्त कैसे होंगे? आपका यह मन ठीक वैसा ही है। जैसे कुत्ता गया, घर-घर कि रोटी मिले, जैसे भिखारी गया यहाँ-से-वहाँ की रोटी मिले-पर तुम्हारा मन रोटीका भिखारी नहीं है, सुखका भिखारी है-उस विषयके पास गया-यहाँसे सुख मिलेगा, विषयके पास गया-यहाँसे सुख मिलेगा, उस विषयके पास गया यहाँ सुख मिलेगा। जब यह सुखके लिए किसी काम्य

विषयके पास नहीं जायेगा–'निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो'–तब तुम्हारा नाम होगा युक्त। यह साधकका सुख है। पहला साधन जो था वह क्रिया और बुद्धिके दुर्गुण-दोषका सहयोग नहीं करता 'कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः'–वह गतिमान साधक है और जो 'युक्ताहार विहारस्य' साधक था। वह विषयी साधक है। उच्च-कोटिमें पहुँचा हुआ साधक वह है जिसका मन एकाग्र है।

अच्छा, अब तो साधनाकी पराकाष्ठा नहीं हुई, साधना तो थोड़ी देर रहती है और पट्टीकी तरह चली जाती है जैसे डाक्टर आपके घरमें आकर उपचार कर जाये–ऐसी ही साधना है। साधनासे एक दृष्टि मिलती है, वह हमेशा रखनी पड़ती है–वह दृष्टि क्या है?

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।। (4.18)

आगेका युक्त बनिये महाराज! कौन? कि साधन करते समय और व्यवहारके समय दोनोंमें एक दृष्टि होनी चाहिए; और वह दृष्टि क्या है कि कर्त्तापनपर नजर रखें। जिस समय हम बैठते हैं ऐसे कि शान्त, निष्क्रिय–कि केवल देखना मात्र ही हमारा स्वरूप है, स्वभाव है यह सच्ची बात है; लेकिन यह आपका देखना चौबीसों घण्टे रहता है कि घण्टे भर रहता है? तो घण्टे भरका जो है वह बनावटी है उसमें आपने प्रयास किया है–एक भाव धारण किया है और वह भाव धारण करनेपर रहता है और छोड़ देनेपर छूट जाता है। इसलिए वहाँ कर्त्ता अपना काम कर रहा है। गीताका यह युक्त देखिये–कैसा युक्त है? कि 'अकर्मणि च कर्म यः'– जिस समय तुम समझते हो कि हम कुछ नहीं करते हैं–हम देखते हैं, उस समय भी कर्म हो रहा है। पाँव सिमटे हैं या फैले हुए हैं–आराम कुर्सीपर पाँव फैलाकर राजयोग किया जाता है और अधिराजयोग, पलंग पर लेटकर किया जाता है और महाराजाधिराज-योग जो है वह खाते हुए, पीते हुए, सिंहासनपर बैठे हुए होता है। यह जो मैंने नाम बतलाये, ये हमारे कल्पित नाम नहीं हैं भला! ये वेदाङ्ग-संहिता आदि जो योग-शास्त्रके बड़े उच्चकोटिके ग्रन्थ हैं उनमें राजयोग, राजाधिराज योग, महाराजाधिराजयोग–इन योगोंका वर्णन है। इस बात का ध्यान रखिये–जो आप करते हैं वहाँ आप कर्ता हैं और कर्ता हैं तो आपकी एक सीमा है; और वह सीमा यह है कि जबतक आप करेंगे तबतक वैसे रहेंगे और जब नहीं करेंगे तब वैसे नहीं रहेंगे! तो 'कर्मण्य-कर्म यं पश्येद्'–आप यह दृष्टि प्राप्त कीजिये कि जब मैं पाँव बाँधता हूँ, पीठकी रीढ़ सीधी करता हूँ, आँखको अर्धोन्मिलित करता हूँ, जब मैं एक भाव धारणकर बैठता हूँ उस समय भी मैं कर्त्ता रहता हूँ! तो वह दृष्टि प्राप्त कीजिये, जो काम करते समयभी बनी रहे और काम बन्द करनेपर भी बनी रहे और वह दृष्टि है द्रष्टाकी दृष्टि। उसकी आँखमें कभी नींद नहीं आती, हमेशा जागता रहता है–जागना पड़ता नहीं है, जागता रहता है, वह सुषुप्तिकालमें भी जागता है–

न हि द्रष्टुर्दृष्टेःविपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्।
(वृहदा० 4.3.23)

क्या यह भी साधन-काल है? कि जी हाँ–'तदा द्रष्टुःस्वरूपे-अवस्थानम्' तब फिर सिद्धि क्या है? कि लो, आपको सिद्धि बताते हैं।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।। (6.8)

यह देखो योगी समाधिमें नहीं है, यह व्यवहारमें है! कैसे मालूम पड़ा कि व्यवहारमें है? कि 'समलोष्टाश्मकाञ्चनः' उसके लिए मिट्टीका ढ़ेला, पत्थरका टुकड़ा और सोना–सब सामान है। जैसे शंकरजीकी पूजा करनी है तो किसीने मिट्टीकी पार्थिव मूर्ति बनायी तो लोष्ट हुआ, किसीने नर्मदामें-से एक पत्थर उठाया तो अश्म हुआ और किसीने सोनेकी बड़ी बढ़िया प्रतिमा बनवायी यह 'कांचन' हुआ। अब क्या ये तीनों मूर्तियाँ तीन हैं? कि नहीं, तीनों एक है। अरे, वह बात छोड़ो। ऐसे ही रास्तेमें पड़ा हुआ मिट्टीका डला, पत्थरका डला और तिजौरीमें रखा हुआ सोना–यह क्या है कि यह तीनों जिसके लिए एक हैं। लो, यह समाधि है कि व्यवहार है? अरे। यह वह परमार्थ है जो व्यवहारमें रहता है–यह वह व्यवहार है जो व्यवहार होते हुए भी परमार्थ है। तो भला कैसे होता है? कि यह युक्त है–'युक्ताहारविहारस्य'से तो शुरू किया था। अब यह देखो यह चौथा युक्त है। कौन? कि–'ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा'। समाधि नहीं है, भोजन कर रहा है, वह बंगालेके रसगुल्ले, वह सिंधियोंके पकौड़े, वह जामनगरका लड्डू, वह जयपुरका मन्सूर तो तृप्ति कहाँसे आ रही है कि उनमें-से तृप्ति नहीं आ रही है? 'ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा'–तृप्ति जो आयी वह रसगुल्लेमें-से नहीं आयी,

लड्डूमें-से नहीं आयी, पकौड़ेमें-से नहीं आयी, ज्ञान-विज्ञानकी तृप्ति है। क्या वह वृत्ति सारूप्य है? कि नहीं-यहाँ-वहाँ कामी-क्रोधी-लोभी नहीं है कूटस्थ है! क्या उसकी इन्द्रियाँ काबूमें हैं? कि हैं-जितेन्द्रिय। देखो, इन्द्रियाँ रखते हैं काबूमें, वह बैठा है अचल, तृप्ति है ज्ञान-विज्ञानकी और व्यवहारमें उसके लिए पत्थर-मिट्टी-सोना सब बराबर है क्योंकि प्रयोजनका बाध हो चुका है। उसको विस्मृतिमें स्मृति नहीं करनी है, उसको पत्थरका मकान नहीं बनना है, उसको सोना बाजारमें बेचना नहीं है; और वह भले वृत्तिमें स्थिति कर रहा हो, पत्थरसे मकान बना रहा हो या सोनेकी खरीदी-बेची कर रहा हो, परन्तु वह युक्त है, अपने-आपमें बैठा हुआ है।

अच्छा, युक्तकी बात आपको सुनायीं-त्वं पदार्थकी प्रधानतासे युक्त, तत् पदार्थकी प्रधानतासे युक्त, ऐक्य पदार्थकी प्रधानतासे युक्त! गीतामें युक्त माने योगी और योगी माने संयमी आपने देखा आहार-विहारको संयममें, कर्मको संयममें, जाग्रत्-स्वप्नको संयममें; यह एक युक्त है। काम-क्रोधको मनमें आनेपर भी क्रिया तक नहीं जाने देना और बुद्धिसे उसका समर्थन नहीं करना-यह दूसरा युक्त है। मनकी चंचलताको मिटाना-यह तीसरा युक्त है। और कर्म और अकर्म दोनों दशामें दृष्टिको एक रखना और तृप्त रहना यह चौथा युक्त है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।

आप देखो, क्या संस्कार करती है गीता आपके जीवनका! कहाँ-से-कहाँ तक संस्कार करती है-खान-पानसे लेकर जीवन्मुक्तिके विलक्षण सुख-पर्यन्त, विलक्षण तृप्ति-पर्यन्त। आपके अन्तःकरणका, आपके जीवनका संस्कारकर, भोगका संस्कार, संग्रहका संस्कार, कर्म संस्कार, मनोवृत्तिका संस्कार, स्थितिका संस्कार, अवस्थाका संस्कार, आपकी बुद्धिमें-से भ्रम निकालनेका संस्कार और दृष्टिका संस्कार और साथ-साथ ब्रह्मात्मैक्य-बोधका संस्कारकर। आपके जीवनको पूर्ण और उज्जवल बनाती है गीता! यह गीता माँ है। माँ जैसे अपने बच्चेका संस्कार करती है वैसे गीता हमारे जीवनका संस्कार करती है!

★

प्रवचन : 13

युक्ततम जीवन

गीतामें जिस ढंगसे मनुष्यके प्रारम्भिक जीवनसे लेकर और पूर्णता-प्राप्ति पर्यन्त जीवनका क्रमिक विकास वर्णित है इसके सम्बन्धमें कल आपको सुनाया था। आहार-विहारका युक्त होना-प्रारम्भकी बात है-आहार-विहार हमारा संयत हो, युक्त हो, औचित्यकी सीमाको पार न करे। आप जानते हैं गीतामें औचित्यकी सीमा क्या बतायी है? आपके ध्यानमें होगा-

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः। (6.16)

जो बहुत खायेगा, उसको भी योग सिद्ध नहीं होगा और जो नहीं खायेगा उसको भी योग नहीं होगा-योग-युक्त होना है तो अधिक खाना और न खाना दोनोंके बीचकी स्थिति-समता होनी चाहिए, माने हमारे भोजनमें भी समत्व आना चाहिए। यहाँसे किया प्रारम्भ और फिर आपको सुनाया कि काम-क्रोध मनमें आ जाये तो आ जाये, परन्तु वे औचित्यकी सीमाका उल्लंघन न करें। अपने शिष्यपर क्रोध किया जा सकता है, अपने पुत्रपर भी क्रोध किया जा सकता है उसको ठीक रास्तेपर चलानेके लिए, उसकी भलाईके लिए। यदि उसकी भलाईकी भावना हृदयमें है तो क्रोध, क्रोध करनेवालेके लिए अहितकारी नहीं होगा। क्योंकि जब स्वयं उसके मनमें हितकी भावना है और जब वह स्वयं हितको पकड़े हुए है कि हम जिसपर क्रोध कर रहे हैं उसका हित हो तो उसका अहित नहीं हो सकता है! और इस तरह हम अपने कामको और क्रोधको एक ओर बुद्धिसे विचारके द्वारा और दूसरी ओर क्रिया-पर्यन्त न जाने देकर अपने वशमें कर सकते हैं। इसमें भी एक से आसक्ति हो जानेपर जो दूसरे पर क्रोध आता है उस क्रोधमें उसके हितकी दृष्टि नहीं रहती है, जिससे आसक्ति है उसीके हितकी दृष्टि रहती है। क्रोधका स्वभाव ही यह है कि एकसे जब प्रेम हो जाता है तब दूसरेकी कोई बात पसन्द नहीं आती है। पर वह प्रेम नहीं है वह तो आसक्ति है। राग-द्वेष तो मनुष्यके मनमें आता

है परन्तु उसके वशीभूत नहीं होना चाहिए-यह गीताका कहना है! गीताकी यह बात आपके ध्यानमें होगी-

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे राग-द्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।। (3.34)

'इन्द्रियस्य-इन्द्रियस्य प्रत्येकस्य इन्द्रियस्य'-हरेक इन्द्रियका-इन्द्रियस्य-इन्द्रियस्य यह जो दो बार है इसका अर्थ है-आदमी-आदमीका, जन-जनका, फिर इन्द्रिय-इन्द्रियका अपने-अपने विषयमें राग-द्वेष है, कुछ अच्छा लगता है, कुछ बुरा लगता है परन्तु 'तयोर्न वशमागच्छेत्'-इस सम्बन्धमें इन्द्रियोंके वशमें नहीं होना चाहिए। इसीसे युक्तका जब लक्षण बताया तो संयमकी बात कही।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः- (2.61)

आप युक्त हैं माने आपका जीवन उचित है, आप एक उचित स्थानपर बैठे हुए हैं और उचित समयमें उचित काम कर रहे हैं-युक्तका अर्थ यही है। फिर बोले कि जरा मनको भी काबूमें करो-

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते-

इसके बात बोले कि एक दृष्टि प्राप्त करो आत्माके अविकारी, व्यापक, ज्ञानस्वरूप आत्माकी और समाधि तथा व्यवहार दोनों में तृप्त रहो-यह सर्वोत्तम युक्त है। 'कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः। स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः'-ज्ञानविज्ञान तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः। युक्त इत्युच्यते योगी'-

धर्म-शास्त्रोंमें जिसका नाम संन्यास था गीतामें उसीको अनासक्ति नाम दे दिया। जबतक वह संन्यासके नामसे था तबतक वह केवल एक आश्रमके लिए मुख्य था। गीताने उसको व्यापक बना दिया। देखो दो-तीन बात आपको सुनाते हैं-

गीतामें युक्तको आहार-विहारकी भूमिकासे लेकर एक समत्व-भूमि पर प्रतिष्ठित किया गया। परन्तु, ये सारे-के-सारे वर्णन त्वं-पदार्थकी अनुभूति और त्वं-पदार्थकी प्रधानतासे हैं। आप देख लो सब जगह। स्थितप्रज्ञका वर्णन तो त्वं-पदार्थ प्रधान है ही, चाहे 'शक्नोतीहैव यः सोढुं' ले लो, चाहे 'यदा विनियतं चित्तं' ले लो, चाहे 'ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा' लो चाहे 'कर्मण्यकर्म यः पश्येद्' ले लो-यह जो युक्त है यह सारा-का-सारा वर्णन त्वं-पदार्थकी प्रधानतासे है। तो भगवान्ने कहा कि नहीं बेटा, अभी युक्त होकर सन्तोष मत करो, अभी हम तुमको युक्त बनाकर नहीं छोड़ना चाहते हैं। युक्ततम बनाकर छोड़ना चाहते हैं। गीतामें दोनों प्रत्ययोंका प्रयोग है तरम् और तमम्। गीता-कालमें इन दोनों प्रत्ययोंका प्रयोग अच्छी तरहसे होता था-वेदोंमें भी होता था। 'श्रेष्ठतमं कविनाम्' वेदमें तमम्का भी प्रयोग है और तरम्का भी; न मनुष्यात् श्रेष्ठतरं किञ्चित्'-'तरम्' का और 'तमम्' का दोनों प्रत्ययोंका प्रयोग वेदमें मिलता है। अब देखो, गीतामें 'गुह्यात् गुह्यतरम्' आया ही है। अब, आप युक्त हो गये यह तो ठीक है, आपका भोग भी ठीक हुआ, आपका संग्रह भी ठीक हुआ, आपका कर्म भी ठीक हुआ, आपकी इन्द्रियाँ भी ठीक हुईं, आपके दोषोंका अपनयन भी हुआ, गुणाधान भी हुआ, हीनाङ्गपूर्ति भी हुई-गीता माता सँवारती-सँवारती अपने बेटेको कहाँ पहुँचा देती है कि वहाँ जहाँ वह स्वयं जिसके ऊपर नहीं पहुँच सकती। इसीको संस्कार कहते हैं, जितने भी दोष थे-सबको मिटा दिया गीता माताने। देहाभिनिवेशको मिटा दिया, राग-द्वेषको मिटा दिया, अस्मिताको मिटा दिया-सारे दोषोंको मिटा दिया! बोले-ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा हो गये, कूटस्थ हो गये, विजितेन्द्रिय हो गये, समलोष्टाश्म-काञ्चन हो गये-अभी कुछ बाकी है? कि हाँ, अभी कुछ बाकी है जो स्वतः सिद्ध परिपूर्णतम पद है आवो उसके साथ मिलावें-ईश्वरके साथ मिलायें। परमात्मासे मिलाना कैसे होता है? कि परमात्मासे मिलाना दो तरहसे होता है-एक श्रद्धासे और दूसरा ज्ञानसे।

बोले नहीं-'तपस्विभ्योऽधिको योगी'-यह ठीक है-तपस्वीसे योगी बड़ा है, 'ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः'-और जो दुनिया भरका ज्ञान समेटे बैठा है, गीताका मानना है कि शास्त्रीय ज्ञानकी कोई कीमत नहीं है जबतक वह योगी नहीं बनता और इन्द्रिय-संयम या काम-क्रोधात्मक वृत्तियोंके निरोधरूप जो तपस्या है वह भी असली योगके सामने कोई कीमत नहीं रखती। कर्मियोंसे भी योगी श्रेष्ठ है। अच्छा हुआ आप योगी हो गये-

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन।।

(6.46)

बोले नहीं योगियोंमें एक बड़ा योगी होता है तब आपको युक्तसे, जहाँ तक त्वं-पदार्थ बिना परमात्माके साथ सम्बन्ध रखे पहुँचा सकता था-वहाँ तक आपको पहुँचा दिया। अब भगवान् बोलते हैं कि आवो जरा मेरी ओर भी-

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।। (6.47)

जरा श्रद्धाको लो। यह श्रद्धा बड़ी ऊँची चीज है छोटी नहीं है। 'नाश्रद्दधाना आविर्विशन्ति देवाः'-जिसके हृदयमें श्रद्धा नहीं होती देवता उसका हविष्य ग्रहण नहीं करते। 'प्रातःश्रद्धामवावहे' हम श्रद्धाका आवाहन करते हैं। बोले कि श्रद्धापूर्वक भजन करो-अभी परमात्माको तो देखा नहीं है तो क्या करें कि 'मद्गतेनान्तरात्मना'-अपना जो आत्मा है त्वं-पदार्थ उसको मद्गत कर दो अर्थात् तत्-पदार्थसे एक कर दो-'मद्गतेनान्तरात्मना' अपनी जो अन्तर-आत्मा है उसको मुझसे एक कर दो। घड़ेको मिट्टीसे मिला दो, पानीकी बूँदको पानीसे मिला दो, आगकी चिनारीको आगसे मिला दो, साँसको वायुसे मिला दो, हृदयाकाशको महाकाशसे मिला दो-जो कार्योपाधिक है उसको कारणोपाधिकसे एक कर दो, जो व्यष्टि-उपाधिक है उसको समष्टि-उपाधिकसे एक कर दो, जो अज्ञानोपाधिक है उसको निरुपाधिकसे एक कर दो। तब क्या हो जायेंगे? कि तब युक्ततम हो जायेंगे! कि अच्छा, युक्ततम हो तो जायेंगे पर इससे यह श्रद्धा तो लगी रही न! अभी भी अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं हुआ। तो बोले कि अच्छा आवो अब आपको अपरोक्ष साक्षात्कारीकी बात सुनाते हैं।

युक्त हो गये-युक्त होनेके लिए तो अपने लक्षण बताये-युक्ताहारविहार होना; इन्द्रिय-संयम होना-'युक्त आसीत् मत्परः' काम-क्रोधपर विजय प्राप्त करना-चित्तकी शान्ति होना; कर्ममें भी अकर्मकी ओर अकर्ममें भी कर्म की दृष्टि होना और 'ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा' होना-यह सब पदार्थकी प्रधानतासे हुआ। अब आओ तत्-पदार्थसे मिलकर युक्ततम हो जाओ। माने परिच्छिन्नता जो तुम्हारे अन्दर लगी हुई है उस परिच्छिन्नताको जब अपरिच्छिन्नतासे मिलाओगे तब जाकर तुम युक्ततम बनोगे-युक्ततम। युक्त, युक्ततर, युक्ततम। बोले ठीक है। अब युक्ततम तो हो गये-श्रद्धासे अपनी अन्तरात्माको भगवान्की अन्तरात्मासे एक कर, बोधसे नहीं। वह कैसे होगा तो सातवें अध्यायमें अपरोक्षज्ञानकी चर्चा प्रारम्भ करते हैं-

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।। (7.1)

'समग्रं ज्ञास्यसि'-ज्ञानमें तुम्हारे कोई कमी नहीं रहेगी। यह प्रतिज्ञा की गयी कि-

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते। (7.2)

उपनिषद्का कहना है कि एक ऐसी वस्तु है जिसके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान होता है-यह उपनिषद्की प्रतिज्ञा है। अब प्रश्न यह है कि एक के विज्ञानसे सर्वका विज्ञान होगा कैसे? यदि एक ही सब न हो तो-एकके ज्ञान कैसे होगा? बोले ठीक है, है तो एक ही! जड़वादियोंने कहा कि 'यह ही एक है'। तो बोले-वदतोऽव्याघात दोष आया कि 'यह' भी बोलते हो तो, 'यह' उसको देखनेवाला मैं ही तो रहेगा-मैंके बिना क्या 'यह'की सिद्धि होगी? तो बोलते हैं कि 'यह' ही मैं है, 'यह' ही एक है। अरे, 'यह' एक कैसे होगा, 'यह'को जाननेवाला मैं रहेगा, वह 'यह'का द्रष्टा रहेगा 'यह'से अलग रहेगा-'यह' ही एक है यह तो गलत है। 'यह'को जाननेके बाद भी मैंको जानना शेष रहेगा। जिज्ञासु भक्त बोले, 'वह' ही एक है। अरे भाई, बिना मैंके 'वह' भी सिद्ध नहीं होगा। उनके अनुसार भक्ति ही विवेक है। हमारे एक महात्मा हैं, वे जब किसी वस्तुका विवेक करते हैं तो ऐसा बोलते हैं-'यं एका भक्तिः' यं अन्या भक्तिः, यं द्वितीया भक्तिः, यं तृतीया भक्तिः'-भक्ति माने विभाग, विभाजन, विवेक। तो प्रत्यक्ष सृष्टिके साथ जो परोक्ष ईश्वरका विभाजन है उसको भक्ति बोलते हैं-यह रहा ईश्वर और यह रहा जगत् और प्रत्यक्ष सृष्टिसे जो अपना विभाजन है उसका नाम होता है-द्रष्टा और दृश्यका विवेक। तो प्रत्यक्षसे अपनेको अलग किया यह द्रष्टा हो गया और प्रत्यक्षसे उसको अलग किया वह परोक्ष हो गया, परन्तु इसमें कौन-सी चीज है जिस एकके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान हो जाये-

असंशयं समग्रं मां यथां ज्ञास्यसि तच्छृणु।
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।

एक ऐसा ज्ञान होगा जिस ज्ञानके पश्चात् दूसरा ज्ञान होना बाकी नहीं होता। यह देखो क्या हुआ—'मद्गतेनान्तरात्मा!' शंकराचार्य भगवान्ने एक दूसरे स्थलपर और मधुसूदन सरस्वतीने बहुतकर इसीके लिए यह कहा कि एक मुनीम है, वह अपने सेठकी सेवा करता है—'मदाश्रय:'—उसको सेठका आश्रय है। परन्तु, क्या सेठके प्रति मुनीम आसक्तमना; है? बोले कि नहीं है। वह तो पत्नीके प्रति 'आसक्तमना:' है, पुत्रके प्रति आसक्तमना: है, वह तो शरीरके प्रति आसक्तमना: है; पैसा लेता है सेठसे, सेठका आश्रय है, सेठकी सेवा करता है परन्तु उसकी आसक्ति अन्यत्र है। यदि केवल आसक्ति हो ईश्वरसे, आश्रय ईश्वरका न हो तो! बोले, तब भी काम नहीं बनेगा। आश्रय तो पैसेका है, सेठका है। तो बोले—नारायण, जब दोनों एक हों—ईश्वरका ही आश्रय और ईश्वरसे ही आसक्ति—तो काम बने, समग्रका ज्ञान हो जायेगा। तो अब देखो, यदि आपको एक विज्ञानसे सर्वका विज्ञान प्राप्त करना है तो 'यह'के ज्ञानसे सर्वका विज्ञान नहीं होगा, 'वह'के विज्ञानसे भी सर्वका विज्ञान नहीं होगा और केवल अपने 'मैं'की पृथकताके ज्ञानसे सर्वका विज्ञान नहीं होगा, जब 'मैं'—यह चेतन द्रष्टा सम्पूर्ण जगत्के अभिन्न-निमित्तोपादान-रूप-परमेश्वरसे, भले लक्षणया ही, एकत्वका अनुभव करेगा तब यह जो प्रत्यक्ष प्रपञ्च है यह अपनेसे पृथक् नहीं रहेगा। दिक्कालसे अनवच्छिन्न परमेश्वरसे एकत्वका ज्ञान हुए बिना एक विज्ञानसे सर्वविज्ञान नहीं हो सकता और वह भी प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ही। अगर एक हो सकता है तो 'यह' भी एक नहीं हो सकता क्योंकि उसको देखनेवाला 'मैं' रहूँगा; और 'वह' भी नहीं हो सकता क्योंकि उसपर विश्वास करनेवाला, उसको जाननेवाला 'मैं' रहूँगा; परन्तु यदि 'वह'का और 'मैं'का जो द्रष्टा और अधिष्ठान है वह एक ही है माने सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्चका द्रष्टा और अधिष्ठान स्वयं मैं ही हूँ—जब यह बोध होगा तब तक विज्ञानसे सर्वका विज्ञान हो जायेगा। तो—

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।
इसीसे—न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।।

ज्ञानसे बढ़कर दूसरा कोई पवित्र नहीं है। आपने देखा है गीतामें—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन:।। (6.29)

यह क्या है। कि इसका नाम 'त्वं' पदार्थ है। त्वं पदार्थ माने 'मैं' हो 'मैं'—आत्मा। और देखो—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।। (6.30)

एक ही लक्षण है दोनोंका—आत्मामें सब और सबमें आत्मा और परमात्मामें सब और सबमें परमात्मा—

यो माम् पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति-लक्षणैक्यं लक्ष्यैक्यम्। जब लक्षण एक हुआ तो—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थित:।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते। (6.31)

इसलिए 'यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते'—केवल ज्ञानमात्रसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। गीताने कहाँ-से-कहाँ उठाया! ज्यादा खानेवाला, कम खानेवाला, भोग-विलासमें आसक्त, चेष्टाओंमें संलग्न, इन्द्रियोंके अधीन, काम-क्रोधकी परवशता—वहाँसे गीताने आपको उठाया और अद्वितीय ब्रह्मस्वरूपसे आपका बोध करा दिया।

एक बड़ी विलक्षण बात है कि जहाँ धर्मशास्त्रोंमें संन्यासका वर्णन है—श्रुतियोंमें भी संन्यासका वर्णन है—परन्तु, जहाँ-जहाँ, श्रुति-स्मृतिमें संन्यासका वर्णन है उसमें संन्यासीके व्यक्तिगत जीवन का वर्णन है—'यथा जातरूपधर:'—जैसे माँकी योनिसे प्रकट हुआ था। परमहंसका आखिरी जीवन ऐसा ही हो—न मठीय जीवन हो, न संघीय जीवन हो। श्रौत-स्मार्त रीतिसे जो संन्यास होता है वह सर्वथा एकाकी जीवन होता है। बौद्धोंमें संघीय जीवन था! बौद्धोंने साधु-जीवनको संघीय-जीवन कर दिया और बिहार बनाये; मठीय जीवन कर दिया। संघ-बद्ध होकर रहने लगे! क्योंकि इनके ऊपर थोड़ी आपत्ति-विपत्ति भी ज्यादा थी। बड़ा संकट-ग्रस्त जीवन था उनका। अब न तो श्रौत-स्मार्त संन्यासमें देशकी प्रधानता थी, न संघीय था, न मठ था, परन्तु बौद्ध-प्रसंग आनेके पश्चात् इनका जीवन भी मठीय होने लगा, आश्रमीय होने लगा, संघीय होने लगा। गीता तो एक विलक्षण-दृष्टि देती है-वह श्रौत-स्मार्त जो प्रव्रज्या है, संन्यास है, उस दृष्टिकोणका प्रतिपादन नहीं करती है। वह तो विद्वान् लोग उसमें-से

उसका जो रस है वह निकाल लेते हैं। यह ठीक है कि उसमें वह बात भी है, परन्तु, गीता ब्रह्मचारीको भी, गृहस्थको भी, वानप्रस्थको भी एक दृष्टि देती है- विरक्त जीवनमें, संन्यासी-जीवनमें असंगताका जो एक विलक्षण सुख होता है, उस अनासक्तिका विलक्षण सुख एक गृहस्थको भी प्राप्त हो, यह गीताका लक्ष्य है। गीताका प्रतिपाद्य निवृत्त होकर गुहा-निवास नहीं है, गैरिक-वस्त्र धारण करना नहीं है, भैक्ष्याचरण नहीं है। अर्जुन स्वयं चाहते थे कि हम भैक्ष्या चरण करें-गीताने एक विशेष दृष्टि दी है जिसे संन्यासी भी धारण करें और ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ भी उसको धारण करें। बाह्य-वेषकी कल्पनापर जोर न देकर गीताने हमारे अन्तःकरणके वस्त्रमें जो विकार था उसको संस्कृत किया और वहाँसे आसक्तिको मिटाकर अनासक्ति उत्पन्न करनेका प्रयत्न किया। अनासक्ति आश्रम-विशेषका धर्म नहीं है, अनासक्ति वर्ण-विशेषका धर्म नहीं है। यह सब वर्णोंके लिए, सब आश्रमोंके लिए है-संन्यासका वेष तो न हो, संन्यासका आश्रम तो न हो, संन्यासका संस्कार तो न हो, संन्यासका त्याग तो न हो परन्तु, सुख जो संन्यासका है वही गृहस्थाश्रममें आ जाये। भगवान् श्रीकृष्णने संन्यास-सुखको गृहस्थाश्रममें-आपके घरमें पत्नीके साथ, बच्चोंके साथ, धनके साथ, लानेके लिए भगवान्ने गीताका उपदेश किया। इसने दोषापनयन, गुणाधान और हीनाङ्गपूर्ति-तीनों संस्कारोंके द्वारा अभिनिवेशकी निवृत्ति, धर्मके द्वारा देहाभिमानकी निवृत्ति, भक्ति वैराग्यके द्वारा राग-द्वेषकी निवृत्ति, शरणागति और द्रष्टाभावमें स्थितिके द्वारा अस्मिताकी निवृत्ति और परमात्माके स्वरूप ज्ञानके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति-इस प्रकार सारे दोषोंको मिटाकर और हमारे जीवनमें समग्र गुणाधानकर और परिच्छिन्नताकी जो हीनता थी उसका निवारणकर आत्माको परमात्माकर दिखला दिया।

☆

प्रवचन : 14

व्यवहारमें समता

अभी तक यह बात आपको सुनायी कि गीता युक्ताहार विहारसे प्रारम्भ करके युक्तेन्द्रिय, युक्तचित्त, युक्तकर्म, युक्तयोग, युक्तवृत्ति, युक्त-स्थित-ज्ञान-विज्ञानतृप्तात्म-सारे त्वं-पदार्थ-प्रधान युक्तोंका वर्णन करके अन्तमें तत्-पदार्थसे जो श्राद्ध एकता है माने श्रद्धा-मूलक एकता है-उसका वर्णन करती है-'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः'-(गीता 6.47) जहाँतक अपने स्वरूपमें स्थिति हो वहाँतक तो उसको युक्त बताया-

'यदा विनियतं चित्तम्'-(6.18) यह भी युक्त है

'शक्नोतीहैव यः सोढुं'-(5.23) यह भी युक्त है

'ज्ञानविज्ञान तृप्तात्मा'-(6.8) यह भी युक्त है

'युक्तासीत् मत्परः'-(2.61) यह भी युक्त है

लेकिन जब अपनी अन्तरात्मा परमात्माके साथ एक हुई तो युक्ततम हो गया-युक्तसे बड़ा युक्ततर और युक्ततरसे भी बड़ा युक्ततम। परन्तु श्रद्धा-मूलक एकता पर्याप्त नहीं है, अपरोक्ष साक्षात्कार-मूलक एकता होनी चाहिए। इसके लिए सातवें अध्यायमें भगवान्ने यह प्रतिज्ञा की कि-

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।। (7.1)
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।। (7.2)

हम एक ऐसा ज्ञान आपको सुनाते हैं-समग्रज्ञान अथवा समग्रं नाम्का ज्ञान-कि इसको जान लेनेके बाद फिर कुछ जानना बाकी नहीं रह जाता वेदकी भी यही प्रतिज्ञा है:-

'यस्मिन् कृते मते विज्ञाते सर्वमिदं कृतं मतं विज्ञानं भवति'-जिसके ज्ञान लेनेपर सब जान लिया हो जाता है।

(1) आप जरा अन्तिम बातपर ध्यान दें। मुख्यरूपसे पाँच प्रकारके अद्वैतवादी मिलते हैं वैज्ञानिक भौतिकवादी-एक तो विज्ञानसे सर्वका विज्ञान माननेवाले-हमारे आजकलके जितने वैज्ञानिक हैं वे लेबोरेटरीमें तत्त्वकी

परीक्षा करते हैं, कम्प्यूटरसे गणना करते हैं—और यन्त्रकी नोकपर वस्तुकी परीक्षा करते हैं। वे कहते हैं कि समग्र विश्वमें यह जड़ धातु ही है। इसीमें-से कभी जीवनकी उत्पत्ति होती है और कभी जीवन-तत्त्व नष्ट भी हो जाता है। जैसे धरतीमें जीवन उत्पन्न हो गया, परन्तु चन्द्रलोकमें अभी जीवन या तो उत्पन्न हो गया, परन्तु चन्द्रलोकमें अभी जीवन या तो उत्पन्न नहीं हुआ या उत्पन्न हुआ भी हो तो नष्ट हो गया। उनके यहाँ परमार्थ सत्य वस्तु जड़ धातु मूल है, उसमें-से ही चेतनकी उत्पत्ति होती है। और उसीमें चेतनाका लोप हो जाता है। सब जड़-ही-जड़ है—जड़ाद्वैत। यह चार्वाकोंके अद्वैतसे विलक्षण है। चार्वाक तो चार भूत मूल मानते हैं, परन्तु, जड़ाद्वैतवादी एक जड़सत्ता ही मूल मानते हैं। तो आजकलके जो वैज्ञानिक हैं वे मानों चार्वाकके चाचा हो गये-वे चार भूतोंके संयोगसे चेतनकी उत्पत्ति मानते थे और ये एक जड़सत्ताका ही जीवनके रूपमें विकास मानते हैं। अच्छा, इसमें क्या वेदकी प्रतिज्ञा पूरी हो गयी कि एकके विज्ञानसे सबका विज्ञान? बोले कि नहीं हुई। क्यों नहीं हुई? कि 'यह' 'मैं' बना है यह 'यह'को 'मैं' बनते देखकर निश्चय नहीं किया गया। यह तो 'यह'को 'यह' बनते देखकर निश्चय किया गया है। दूसरा 'यह' तो पहले 'यह'का ही प्रकार भेद है। मैं-की उत्पत्ति देखी नहीं गयी। असलमें यह को देखनेवाला, यहके विकारको देखनेवाला, यहके परिवर्तनको देखनेवाला जो मैं है वह यहके जाननेसे जाना नहीं गया। एक विज्ञानसे सर्व विज्ञानकी प्रतिज्ञा जड़ धातुकी एकता स्वीकार करनेसे नहीं हो सकती।

(2) आपको क्या सुनावें—ऐसा एक विलक्षण मत है कि वह चित्तके निरन्तर परिवर्तनको स्वीकार करता है। यह जो जड़धातुकी बात बतायी उसीमें हम इसको भी डालते हैं, हमारी दृष्टिसे दोनों एक है। यह मत ऐसा है कि चित्तके निरन्तर परिवर्तनको स्वीकार करता है। परिवर्तनमें क्षण होते हैं। अत: इस मतमें क्षण-क्षण परिवर्तन होता है। अब यह बिल्कुल अलग है कि क्षणमें परिवर्तन होता है या कि चित्तमें क्षण होता है पर क्षण-क्षण चित्त बदलता जा रहा है और बदलता हुआ चित्त ही संसार है। स्थिर कोई वस्तु नहीं है। इस मतके माननेवालोंको क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध बोलते हैं। इनका चित्ताद्वैतवाद है। इसमें भी 'मैं'का सन्निवेश नहीं होता है। क्यों नहीं होता। क्योंकि बिना हमारे स्थिर हुए परिवर्तनशील वस्तुका बोध ही नहीं हो सकता।

(3) तो एक जड़ाद्वैतवादी हुए और एक चित्ताद्वैतवादी हुए। एक शून्याद्वैतवादी होते हैं, वे कहते हैं कि यह जो उत्पत्ति है जड़से चेतनकी, चेतनसे (चित्तसे) जड़की यह प्रतीतिके समकाल है, सापेक्ष है; और शून्य ही एक निर्पेक्ष तत्त्व होता है, इसी शून्यमें कभी सृष्टि उत्पन्न होती है और कभी विलीन होती है। जो जड़ और चेतनसे, उत्पत्ति और विनाशसे, परिवर्तन और स्थिरतासे विलक्षण ये सब हैं शून्य तत्त्व और प्रतीतिके समकाल ही उत्पाद्य और विनाश्य हैं। जड़की अपेक्षासे चेतन और चेतनकी अपेक्षासे जड़; चलकी अपेक्षासे अचल और अचलकी अपेक्षासे चल, तो यह सब जिसमें हैं वह निर्पेक्ष एक शून्य तत्त्व है वह अद्वय है। यही है—शून्याद्वैतवाद। इसमें भी एक विज्ञानसे सर्वके विज्ञानकी व्याख्या नहीं हो सकती, क्योंकि प्रश्न यह है कि शून्य जो है वह अनुभव-सिद्ध है कि नहीं है। यदि अनुभव-सिद्ध है कि शून्य तो अनुभव ही सत्य हुआ शून्य सत्य नहीं हुआ; और यदि अनुभवसिद्ध नहीं है तो शून्य केवल कल्पित हुआ।

(4) अच्छा, एक चौथा अद्वैतवाद है—ईश्वराद्वैतवाद। इसका गणित ऐसा है कि यदि यन्त्रसे, इन्द्रियोंसे, दुनियाको देखोगे तो जड़तासे अहंकी उत्पत्ति मालूम पड़ेगी (वैज्ञानिक भौतिकवाद) यदि श्रद्धासे देखोगे तो ईश्वरसे जगत्की उत्पत्ति मालूम पड़ेगी; और यदि चित्तकी स्थितिसे जगत्की उत्पत्तिका विश्लेषण करोगे तो शून्यसे अथवा विज्ञानसे जगत्की उत्पत्ति मालूम पड़ेगी। केवल 'वह'से अर्थात् ईश्वरसे जीव-जगत्की उत्पत्ति हुई है यह ईश्वराद्वैतवाद है। अच्छा 'वह'से यदि 'मैं'की उत्पत्ति हुई तो 'वहसे मैंकी उत्पत्ति हुई'—इस बातको मैं कभी जान नहीं सकता केवल श्रद्धा ही करनी पड़ेगी। इस प्रकार श्रद्धा सहकृत् विचारसे, श्रद्धा-युक्त विचारसे, ईश्वरके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान होता है और युक्ति सहकृत् विचारसे शून्य अथवा विज्ञानसे मैंकी उत्पत्ति होती है यह सिद्ध होता है; यन्त्र और इन्द्रिय-सहकृत विचारसे यह सिद्ध हो ता है कि जड़से मैंकी उत्पत्ति होती है।

(5) वेदान्त एक ऐसी चीज लाकर सामने रखता है—एकके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान—आप निश्चय समझो यह यान्त्रिक अनुभूति नहीं है, कम्प्यूटरकी गणना नहीं है! यह कोई चित्तके योगकी अवस्था नहीं है जो समाधिमें मालूम पड़ती हो और यह कोई युक्तियोंकी घुड़दौड़ नहीं है कि

जिसमें यह सिद्ध होता हो। एक अज्ञात-ज्ञापनके रूपमें वेदने हमारे सामने यह बात रक्खी कि एकके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान होता है क्योंकि उस एकके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। उसका कहना है कि यहकी उत्पत्ति भी मैंसे होती है और वहकी उत्पत्ति भी मैंसे होती है। इसको कश्मीरी शैव स्वातंत्र्यवाद बोलते हैं। औपनिषद वेदान्ती कहते हैं कि न उत्पत्ति है, न प्रलय है। मैं तो है निर्विकार और यह दिक्कालका भी द्रष्टा होनेसे, उनमें भी विकारग्रस्त नहीं होता। वह निर्विकार होनेके कारण अखण्ड परब्रह्म परमात्मासे एक है और एक है तब दूसरा कुछ है नहीं, इसलिए एक विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा तब पूरी हो सकती है जब आत्मा ही ब्रह्म हो।

ईश्वरसे अहं-इदंकी उत्पत्ति हुई यह श्रद्धा है और शून्यसे, चित्तसे, जड़से अहं-इदंकी उत्पत्ति हुई यह विज्ञान है-यान्त्रिक विज्ञान है-या चैत्तिक विज्ञान है या आनुभाविक विज्ञान है; और जो वेदान्त विज्ञान है वह एक अन्य रीतिसे एक अद्वितीय किन्तु अज्ञात वस्तुका ज्ञापन करता है और वह रीति है तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म और प्रज्ञानं ब्रह्मकी। इसमें क्या होता है वह आपको कल सुनाया था। प्रत्यक्षको रख दो बीचमें और उसके द्वारा उसके कारण और उसके द्रष्टाका विवेक करो। जैसे यह घड़ी है बीचमें सोनेकी बनी हुई। यह जिस चेतनसे बनी है उससे इसका विवेक करना हो तो इससे अलग सोना नामकी एक महत्वपूर्ण धातु है और वह चेतन है, यह जानना पड़ेगा। इसी तरह यह प्रपञ्च रूप घड़ी है और इसका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ईश्वर है। उसकी भक्ति करो। भक्ति करो माने घड़ीसे (वि) भक्ति करके परमेश्वरको पहचानो-यह भक्ति हुई! और घड़ीसे अपनी (वि) भक्ति करो-मैं घड़ीको देखता हूँ, जानता हूँ-यह भक्ति विवेक है। असलमें प्रत्यक्षसे ईश्वरका विवेक भक्ति है और प्रत्यक्षसे आत्माका विवेक-विवेक शब्दसे कहा जाता है और विविक्त अथवा भक्ति-सिद्ध जो परमात्मा है दोनोंकी एकता बतानेके लिए वेदान्त शास्त्र आता है। प्रत्यक्षसे विलक्षण आत्मा और प्रत्यक्षसे विलक्षण परमात्मा-आत्मा-परमात्मा एक और प्रत्यक्षकी सत्ता खत्म-अपने अभावके अधिष्ठानमें बिल्कुल बाधित। हाँ, तो आवो अब गीताके रास्तेसे हमको चलना कैसे है यह देखें!

आपको यदि अनन्तका ज्ञान प्राप्त करना है तो छोटी-मोटी बातोंकी ओरसे ध्यान हटाना पड़ेगा-ध्यान हटानेका यह मतलब नहीं कि वे बातें मालूम ही न पड़ें-मालूम पड़ें, लेकिन उनका उतना मूल्यांकन नहीं करना है कि बड़ी बातोंको छोड़कर उन्हींमें लग जायँ! हम इतने मजबूर हो गये हैं कि छोटी-छोटी बातोंपरसे हमारी दृष्टि ही नहीं हटती है कि उसने क्या खाया, उसने क्या पीया, उसने क्या पहना! अरे बाबा, तुम उसके ठेकेदार हो कि उसके जज हो कि उसके वकील हो कि उसके पट्टेदार हो-क्या हो? तो, अपनी राह चलना चाहिए। यह भी बात है कि जहाँ हम कोई काम करनेके लिए मजबूर हो जाते हैं वहाँ वह काम हमको करना भी पड़ता है परन्तु तभीतक जबतक हम स्वतन्त्र नहीं हो जाते। स्वतन्त्र होनेपर हम उसको साफ मना कर सकते हैं। इन्द्रियोंके सामने मजबूरी है, मनके सामने मजबूरी है यह हमको-शुद्ध चेतनको, साक्षीको, आत्माको, परमात्माके अंशको मजबूर बनाकर अपना काम करा रहे हैं। जिस दिन आपमें स्वातन्त्र्य आ जायेगा उस दिन आप बिल्कुल इन्कार कर देंगे। तो, देखिये गीता आपको कहाँसे उठाती है-वह कहती है कि पहली बात तो यह है कि आपको जीवनकी प्रणालीका ज्ञान होना चाहिए कि कैसे जीना है-

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि। (2.38)

जीवनमें कभी जय होती है कभी पराजय। कभी अपनी चाही हुई वस्तु मिलती है कभी नहीं मिलती है। कभी मनके अनुकूल होता है तो सुख होता है और कभी मनके प्रतिकूल होता है तो दुःख होता है-ये तीन जोड़े आपके सामने आते हैं। ये तीन युगल हैं। कहीं आपको हार खानी पड़ी और कहीं आप विजयी हुए। यदि आप यह सोचेंगे कि हम हमेशा विजयी होवें, कभी हार न खानी पड़े तो होगा यह कि हार तो दुनियामें कभी-न-कभी खानी ही पड़ती है और जब-जब खानी पड़ेगी तब-तब आपके दिलमें बड़ा भारी उद्वेग होगा, दुःख होगा और जब आप विजयी होंगे तब बड़े भारी प्रमादी हो जायेंगे। अभी जब हम वृन्दावनसे आये तो रतलाम स्टेशनपर एक अखबार मिला पढ़नेको मध्य-प्रदेशका था-उसमें लिखा था कि अबकी हमारी पार्टी जरूर विजयी होगी क्योंकि अमुक पार्टी इस समय जीत गयी है, विजयी हो गयी है तो वह बड़े अभिमानमें डूबी हुई है, इसलिए वह करेगी

प्रमाद और हमलोग हारे हुए हैं सो हम सावधान होकर काम करेंगे और इसलिए जरूर विजयी होंगे। तो पढ़कर मैंने दादासे कहा कि देखो, यह क्या छपा हुआ है-अगर उस पार्टीके लोग यह बात पढ़ेंगे तो सावधान हो जायेंगे और इनको हरावेंगे। तो देखो, जब हम जय प्राप्त करते हैं तब प्रमादी हो जाते हैं और जब पराजय प्राप्त करते हैं तब हमको ग्लानि हो जाती है। प्रमाद और ग्लानि दोनों अन्तःकरणके दोष हैं जो मनमें तो आ ही गये। हमें करना यह है कि यह जय-पराजय-रथके पहियेकी तरह ऊपरसे नीचे, नीचेसे ऊपर, रात और दिनकी तरह घूमते रहते हैं। उसमें सम रहें।

सुखदुःखे समे कृत्वा, जयाजयौ समे कृत्वा,
लाभालाभौ समे कृत्वा।

व्यापारमें एक दिन घाटा भी होता है और एक दिन लाभ भी होता है, कभी एक-आध दिन माल सस्ता बेच देना चाहिए-थोड़ा थोड़ा घाटा उठाना चाहिए जिससे ग्राहकोंका विश्वास बढ़ता है और फिर बादमें इसका फायदा मिलता है। ऐसे व्यापारके बारेमें हम जानते हैं कि जिसमें ऐसी योजना बनाते हैं कि एक वर्ष इतना घाटा उठावेंगे, दूसरे वर्ष इतना घाटा उठावेंगे, तीसरे वर्ष बराबर रहेंगे और चौथे वर्ष इतना मुनाफा उठावेंगे! व्यापार कोई ऐसे ही थोड़े होता है? लाभ-हानि दोनोंको देखकर व्यापार चलाना पड़ता है। एक व्यापारीने हमको बताया कि व्यापारके दो ही गुण हैं महाराज! एक तो यह कि अपनी जो वस्तु है उसकी 'क्वालिटी' (गुणवत्ता) बिगड़ने न पावे-हम 'क्वालिटी' बिगाड़ कर ग्राहकको ठगनेकी कोशिश न करें-और दूसरे यह कि ग्राहकका विश्वास प्राप्त करें। व्याख्यानके क्षेत्रमें भी गन्दे, सस्ते किस्से सुनाकर जो श्रोताओंके चित्तका आकर्षण होता है वह ज्यादा देर तक टिकता नहीं-तो, क्वालिटी अपनी नहीं बिगाड़नी चाहिए-क्वालिटी यदि बिगड़ जायेगी तो लोग यही समझेंगे कि इनके यहाँ निकृष्ट माल मिलता है। अपनी क्वालिटी अच्छी होनी चाहिए-इससे ग्राहक अपने आप आते हैं! अब व्यापारका दूसरा गुर देखिये-आप यह घोषणा कर दीजिये कि हमारा माल लेनेके बाद भी किसीको नुकसान मालूम पड़े या टूटा-फूटा मिले तो वह हमारा माल वापस ले आये, हम उसका पैसा वापस कर देंगे। इससे, खरीदते समय ग्राहक इतना आश्वस्त रहेगा कि इसमें हानिकी तो कोई सम्भावना ही नहीं है-ठीक नहीं होगा तो वापस कर जायेंगे-बड़े धैर्यके साथ आपका माल लेगा और 100 में-से 2-4 ऐसे निकलेंगे जो वापस करनेकी झंझट उठावेंगे, नहीं तो जिनके पास जायेगा उनके पास जायेगा ही फिर वह लौटकर वापस नहीं आवेगा! फायदा ही उठाना सब कुछ नहीं है, फायदा देना भी सब कुछके अन्तर्गत है। सब कुछका अगर एक हिस्सा फायदा उठाना है तो दूसरा हिस्सा फायदा देना भी है! तो, कभी हम हानि उठाते हैं, कभी लाभ उठाते हैं। सचमुच! गीताका तो कहना यह है कि आप हानि उठाते हैं और दूसरा लाभ उठाता है तब भी आप यही सोचिये कि आज इस रूपमें हमने लाभ नहीं उठाया है उस रूपमें उठाया है क्योंकि दोनोंकी आत्मा तो एक है-लाभालाभौ जयाजयौ और देखो गीता आपको कहाँसे ले चलती है-जयाजयौ-रण-भूमिमें जहाँ तीर चलते हैं वहाँ भी समता रहे-लाभालाभौ-जहाँ व्यापार चलता है वहाँ हानि-लाभमें भी समता रहे-यहाँ तक कि गर्मी-सर्दीमें भी समता रहे। झूठे ही चिल्ला लो भले कि आज बड़ी गर्मी है कि आज बड़ी ठण्ड है, चिल्लानेसे कोई गर्मी-सर्दी कम तो हो नहीं जायेगी-अँधेरा हुआ शामको और बच्चेने रोना शुरू किया कि हाय-हाय डर लगता है। नींद आ जायेगी उसको और सबेरे उठेगा तो देखेगा कि प्रकाश है, लेकिन अब रातका अन्धेरा देखकर रोनेसे तो काम नहीं चलेगा! बच्चा रोता है और आप बड़े होकर भी रोते हैं! सुखदुःखे समे कृत्वा-कभी मनके अनुकूल आया, कभी प्रतिकूल आया-समता आनी चाहिए-

शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः। (12.18)

गीता आपको रहनी देती है-यह जीवन शाश्वत जीवन है, साधना इसका नाम है। कभी-कभी हमको भीतर-ही-भीतर बहुत हँसी आती है कि जब गर्मी आती है तब ठण्डी जगहमें लोग जाते हैं और जब ठण्डी आती है तब गर्म जगहमें जाते हैं। जहाँ तुम रहते हो वहींकी गर्मी सह लो और जहाँ रहते हो वहींकी सर्दी सह लो तो समता आ जायेगी। जैसे समझो कि ठण्डके दिनोंमें बम्बईमें सर्दी आयी, तो बम्बईकी सर्दी सह लीजिये-सोच लीजिये कि गर्मीमें जिस कश्मीरमें आप जाते हैं वह कश्मीर ही आपके घरमें आया है! तब तो उसका मजा नहीं लेते क्योंकि

वह बेचारा खुद आया है और जब आपके घरमें गर्मी आती है तब आप गर्मीका मजा नहीं लेते-माने आप चाहते हैं कि जून, जुलाई, दिसम्बर, जनवरी हो जायें और दिसम्बर-जनवरीमें जून-जुलाई आ जाये। तो आप कालमें परिवर्तन करना चाहते हैं जहाँ हैं वहींका काल सह लीजिये देखियेगा-आपके शरीरके लिए वह इतना उत्तम होगा, कि जिसकी कोई हद नहीं है आप ऋतुमें समता उत्पन्न मत कीजिये, अपने शरीरमें समता उत्पन्न कीजिये-इसका नाम साधना है।

एक हमारे बड़े-बुजुर्ग थे, अब तो उनका शरीर नहीं रहा-नाम लेकर बताता हूँ-उनके कोई शिष्य-विष्य यहाँ हों तो माफ करें-गंगोत्रीमें रहते थे, उनका नाम था श्रीकृष्णाश्रमजी महाराज-बहुतोंने उनका नाम सुना होगा-30-40 वर्ष तक गंगोत्रीमें नङ्गे रहे-बिलकुल नङ्गे, शरीरपर कोई कपड़ा नहीं पहनते थे-हम तो वहाँ जाते हैं तो तीन या चार कम्बल ओढ़ते हैं तब जाकर हमारी ठंड मिटती है और वे वहाँ ऐसे ही रहते थे। एक बार मालवीयजीने विश्वविद्यालयका उद्‌घाटन करनेके लिए उनसे कहा कि आप चलें। हरिद्वारमें आये महाराज! माघका महीना था। हरिद्वारमें माघके महीनेमें दो रजाई ओढ़नी पड़ती है और उनको था कि पसीना छूटे। गंगोत्रीमें तो नङ्गे रहते, अब हरिद्वारकी ऋतु उनको सहन नहीं होती थी-वह पसीना आये, वह पसीना आये कि पंखा झलें। तो शीतोष्णसुखदुःखेषु समः-वे तो परेशान-हाय-हाय बाबा, हम तो जल्दी गंगोत्री लौट जायेंगे-उनको ठण्ड सहनेकी आदत पड़ गयी थी, गर्मी सहनेकी आदत नहीं पड़ी-यह गीतावाली बात नहीं हुई। गीताने रहनी यह बतायी कि गर्मीमें गर्मी सहो, सर्दीमें सर्दी सहो-दोनोंको बराबर-जैसे दिन-रात आपके पास समयपर आता है ऐसे ही सर्दी-गर्मी आती है, ऐसे ही सुख-दुःख आता है, ऐसे ही लाभ-हानि आती है, ऐसे ही जय-पराजय आता है-एक सरीखे रहो-अपने जीवनकी रहनीमें कोई फर्क मत डालो। साधककी रहनी माने एकरस रहनी और एकरस रहनी माने रहनीमें स्वाभाविकता।

यह जो हमारा मैं है वह अविनाशी है, इसलिए हमारी रहनी ऐसी नहीं हो सकती कि वह केवल जयका ही सामना करे पराजयका नहीं और उसमें केवल पराजय ही पराजय रहे जय नहीं; केवल लाभ-ही-लाभ रहे हानि नहीं और केवल हानि ही हानि रहे लाभ नहीं-इस जीवनमें सब कुछ देखना पड़ता है और सब कुछमें अपने चित्तके सन्तुलनको बनाये रखनेका अभ्यास होना चाहिए।

अब देखो गीतासे आपको बताते हैं कि यदि आपको कोई अच्छा आदमी देखनेको मिल जाये और कोई बुरा आदमी देखनेको मिल जाये तो आप कैसे करेंगे? गीता आपको बताती है कि आपके जीवनमें कभी पापी मिलेगा और कभी पुण्यात्मा मिलेगा, यदि आप अपने मनको ऐसा बनावेंगे कि पापीको देखकर लज्जावंती जड़ीकी तरह आपका मन मुर्झा जाये और पुण्यात्माको देखकर खिल जाये-पापीको देखकर दुःखी हो जाये और पुण्यात्माको देखकर सुखी हो जाये-तो जिन्दगीमें आपको कभी जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख नहीं मिलेगा। वह तो मस्ती है ना मस्ती-हर हालमें मस्ती-यह बात गीतामें लिखी है!

सुहृन्मित्रार्युदासीन - मध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।। (6.9)

आयी बात ध्यानमें? 'साधुष्वपि च पापेषु'-आप कालबा देवीं रोड पर तो चलना चाहते हैं और चाहते हैं कि हमको सब सूट-बूटवाले ही मिलें, वहाँ कोई साधु न मिले, कोई गन्दा कपड़ेवाला न मिले-जाना तो चाहते हैं चौपाटीपर और सोचते हैं कि वहाँ कोई घूँघटवाली स्त्री न मिले या सब घूँघटवाली ही मिलें, खले सिरकी कोई न मिले। तो बाबा, जब आप संसारमें व्यवहार कर रहे हैं और चौपाटीपर घूम रहे हैं तब नंगा सिर भी मिलेगा, ढका सिर भी मिलेगा; काला-कुरूप भी मिलेगा, सुन्दर-सुरूप भी मिलेगा। वहाँ आपको जेबकतरा भी मिल सकता है और वहाँ आपको दूसरोंको अन्न बाँटता हुआ व्यक्ति भी मिल सकता है। तो यदि दोनों दशामें आप अपने चित्तको बराबर रखनेका प्रयास नहीं करेंगे-तो अपने स्वरूपकी मस्ती तो खण्डित हो ही गयी। आपकी बुद्धिकी समता, आपकी बुद्धिका सन्तुलन नष्ट न हो!-महात्माजी मिले उनको भी हाथ जोड़ लिया और महाराज गुण्डाजी मिल गये तो? उनको भी हाथ ही जोड़ो-अपने दिलको मत बिगाड़ो-गीता आपको यह सिखाती है।

अब महाराज देखो, एक सभामें गये। तो एक दिन जब गये तब बड़े-

बड़े ब्राह्मणाचार्य वहाँ बैठे थे और एक दिन गये तो रैदासी सम्मेलन था!- यह जो हमारा भारत-साधु-समाज है इसमें, नारायण, सब हैं-जो भी गृह-त्यागी और गुरु-सम्प्रदायानुयायी होता है-वह इसका सदस्य बन सकता है। अब क्या हुआ कि एक ओर तो आये दण्डी-स्वामी, एक ओर आये आचार्यजी महाराज, आयंगरजी आये, पिंगल आये, बर्गल आये और एक ओर सरस्वती, तीर्थ, आश्रम आये और एक ओर कबीर-पन्थी आये, रैदासी आये, दादूदयाल आये-सब साधु-समाजके-अब यदि एक ओरको देखकर मुँह बिदका ले और एक ओर देखकरके खिल जायें, तो वह समाज बनेगा कि समाजका उजाड़ हो जायेगा? यह समाज ऐसा ही है और इसमें सब तरहके लोग रहते हैं, इसलिए इसमें कैसे चलना? गीताका कहना है-

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।। (5.18)

आपके दर्शनमें आपकी आँख टेढ़ी नहीं होनी चाहिए, आपकी अक्कल नहीं बिगड़नी चाहिए-यह गीताका साधन है। यह कोई मामूली बात नहीं है, इसका नाम साधन है। इसीका नाम तो भागवतधर्म होता है-

ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिंगके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः।।
(भा० 11.29.14)

आप अपनी दुकान चलाना चाहते हैं?-बोर्ड लगा दीजिये ना कि हमारी दुकानपर सिर्फ ब्राह्मण आ सकते हैं-सिर्फ ब्राह्मणोंके लिए, दूसरी जातिके लोग नहीं आ सकते!-आपकी दुकान कैसी चलेगी? फिर पहचानोगे कैसे? ब्राह्मण हो तो आँखसे दिखें और चाण्डाल हों तो आँखसे न दिखें-क्या ऐसा सम्भव है? नहीं है। आँखसे सिर्फ, मनुष्य दिखता है ब्राह्मण चाण्डाल नहीं। अब कोई कहे औटोमैटिक पट्टी लगानी पड़ेगी आँखपर, तो ऐसी 'औटोमैटिक' पट्टी भी नहीं होगी क्योंकि मनुष्य दोनों हैं-कोई ऐसी पट्टी नहीं हो सकती पर दोनोंको देखनेके बाद आपके चित्तमें समताका होना आवश्यक है, नहीं तो आप दिन भरमें कई बार सुखी और कई बार दुःखी होंगे; और कई बार आपका मन अच्छा होगा, कई बार आपका मन बुरा होगा और यह सब यह देखते हुए चलना है कि बाबा! जो खराबी दूसरोंमें देखकर हमारा मन बुरा हो रहा है वही खराबी हमसे ही कभी-कभी हो जाती है! कभी-कभी हमारे हाथसे पोथी छूटकर खाटके नीचे गिर जाती है-अकौशल है कि नहीं? अच्छा, हम गंजी पहनते हैं तो कभी-कभी उल्टी पहन लेते हैं-अब जाकर रोएँ कि हाय-हाय, हमने गंजी उल्टी पहन ली? अपने दाँतसे कई बार हमारी जीभ कट चुकी है और अभी भी कभी-कभी कट जाती है तो क्या पत्थर लेकर अपना दाँत तोड़ दें कि तुमने हमारी जीभ क्यों काटी? तो, बाबा! अपने स्वरूपको देखो, अपने विस्तारको देखो-यह गीताका कहना है।-गीता केवल ब्राह्मणको क्या करना है यह नहीं बताती है, केवल क्षत्रियको क्या करना, केवल वैश्यको क्या करना, केवल शूद्रको क्या करना यह नहीं बताती-गीता एक मनुष्यको क्या करना है सो बताती है। वर्णाश्रम धर्मकी स्मृतियाँ दूसरी होती हैं-गीता तो सामान्य धर्मकी स्मृति है।

अच्छा, क्या आपसे कभी काम करनेमें गल्ती नहीं होती? सब्जी बनाते हैं तो क्या कभी नमक आपसे ज्यादा नहीं पड़ जाता? कभी कम नहीं रह जाता? कभी दाल जल नहीं जाती? कभी चावल कच्चा नहीं रह जाता? यह क्या है? कि यह कर्मका अकौशल है-अकौशल? पर, यह तो जीवनमें रहता है इसके लिए आप क्या करोगे। क्या अपना हाथ काट दोगे?

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः।।
(18.10)

देखो आपकी तारीफ कितनी है! यदि कभी आपसे गल्ती हुई मान लो-कर्म करनेमें कोई अकौशल हो गया-सड़कपर चलते-चलते कुछ लग गया-घरमें रंग हुआ है, लग गया-अकौशल यह है कि सावधान नहीं रहे, लग गया अपने शरीरमें, अपने कपड़ोंमें-तो आप ग्लानिसे भर गये! अच्छा मान लो कि आपमें अकौशल है ही नहीं, आप कुशल-ही-कुशल हैं, तो काम करनेमें जब गड़बड़ी निपुणता आती है, तब निपुणताका अभिमान भी आता है! तो जीवनमें कुशलतासे अभिमान और अकुशलतामें ग्लानि ही आती है। गीताका कहना है कि अभिमान लेकर और ग्लानि लेकर अपने जीवनमें जला नहीं जाता है। आप स्वयं अपने जीवनको पत्थरकी तरह कठोर मत बनाइये, आप पानीकी तरह उसको बहता हुआ न बनाइये,

आगकी तरह जलता हुआ मत बनाइये, हवाकी तरह बहता हुआ मत बनाइये—आप अपने जीवनको ऐसा बनाइये जिसमें पृथ्वीकी दृढ़ता हो, जलका रस भी हो, अग्निकी जाज्वल्यमानता भी हो, वायुकी प्रगति भी हो, जिसमें आकाशकी विशालता भी हो—आपका जीवन कैसा हो यह आप गीताके कृष्णसे पूछिये! आपका जीवन कैसा होना चाहिए—

त्यागी सत्त्वसमाविष्टः मेधावी छिन्नसंशयः।

1. **त्यागी**—दुनियाकी चीजोंको छोड़ते चलिये—एक;

2. **सत्वसमाविष्ट**—अपने आत्मामें स्थित रहिये—दो;

3. **मेधावी**—सीखते चलिये—तीन। मेधावीका अर्थ है—सीखते चलिये—यह बात आपको मालूम होगी कि संस्कृत-भाषामें बुद्धिके पर्यायवाची कई शब्द हैं, उनमें एक मेधा भी है, तो मेधा शब्दका अर्थ होता है—सीखते चलिये—धी धारणावती मेधा— (अमरकोष) हमारी जो धी है वह धारणावती हो—धारणावती हो माने जो उसके सामने सबक आवे उसमें-से कुछ-न-कुछ सीखती चले—इसमें-से यह लिया, इसमें-से यह लिया, इसमें-से यह लिया। यदि आपको जीवनमें सफलता प्राप्त करनी है तो संशय मत रखिये—

4. **छिन्नसंशयः**—संदेहको काट दीजिये।

सीखते चलिये, आत्मामें स्थित रहिये और दुनियामें जो होता है सबको ठीक कहते चलिये। सूर्यास्त होता है—ठीक है; सूर्योदय होता है, ठीक है; दिन हुआ, ठीक है; रात हुई, ठीक है। दुनियामें जहाँ आप मोह करेंगे कि यह ऐसा ही हो—परिवर्तनशील वस्तुमें बहती हुई हवामें जब आप चाहेंगे कि यह ऐसा ही हो तब आपका वही आग्रह दुराग्रह, आपका पापग्रह बन जायेगा। जैसे पापग्रह मनुष्यको अरिष्ट होता है तो दुःख देता है, वैसे ही महाराज यह दुराग्रह भी दुःख देता है। आपको ज्योतिषकी यह बात मालूम हो कि न हो कि ग्यारहवाँ स्थान लाभका स्थान मानते हैं लेकिन, जब उसपर शनिश्चर आता है तब वह हानिकारक नहीं होता, लाभकारी ही होता है। होना तो यह चाहिए ना कि लाभ-स्थानपर जब शनिश्चर आ जाये तो लाभमें बाधा डाल दे, पर ऐसा होता नहीं है। अच्छा देखो, एक और बात आपको शनिश्चरकी सुनाता हूँ—छठा स्थान शत्रुका स्थान है, परन्तु उसपर जब शनिश्चर आता है तब शत्रुको बढ़ाता नहीं है शत्रुको दबा देता है—तो, कभी-कभी पापग्रह भी लाभदायक होते हैं—यह आपको मालूम होगा ही होगा—यदि आप कुण्डलीका ख्याल करते होंगे तो—हम कुण्डलीकी सच्चाई बतानेके लिए या कि कुण्डली किसी ज्योतिषीको दिखावें इसके लिए नहीं बता रहे हैं, हम तो यो बता रहे हैं कि आपके जीवनमें जो संग्रह है वह भी एक ग्रह है; जो परिग्रह है वह भी एक ग्रह है, आग्रह भी एक ग्रह है; जो विग्रह भी एक ग्रह है—यह सब मानसिक ग्रह हैं—अब इनमें-से कितने पापग्रह हैं और कितने पुण्य-ग्रह हैं इसका विवेक आप कर लीजिये, लेकिन आकाशवाले ग्रह कम पीड़ा देते हैं और ये जो चित्तवाले ग्रह हैं वे बड़ी पीड़ा देते हैं। और इनकी शान्ति कैसे होती है यह आपको मालूम है? आकाश वाले ग्रहकी शान्ति तो ब्राह्मणको चनेकी दाल और काला कपड़ा देनेसे हो सकती हैं। बोलते हैं कि शनिश्चर यदि अरिष्ट हो तो एक भैंसका ही दान कर दो तब भी चलेगा—लोग छाता देते हैं, लोहा देते हैं, शनिश्चर अरिष्ट हों तब, लेकिन ये जो भीतरवाले ग्रह हैं इनके लिए जबतक सत्संग नहीं करोगे, जबतक माताकी शरण नहीं लोगे तबतक तुम्हारे भीतर रहनेवाले ग्रहोंकी शान्ति नहीं होगी। तो, देखो असलमें एक विषमताका ग्रह आपके चित्तमें बैठ गया है, आवो आपको एक ऐसा उपाय बताते हैं जिसमें आप सारी सृष्टिपर विजय प्राप्त कर सकते हैं। आप गीतासे सीखिये—गीता आपके जीवनको विश्व-विजयी बनाना चाहती है—आप स्थितिप्रज्ञ होंगे तब भी—'दुःखेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृहः।' सम होंगे कि नहीं होंगे? इसीका नाम तो समता है ना! आप यदि भक्त होंगे तो समदुःखसुख होंगे कि नहीं होंगे?

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।। (12.13)

आप यदि गीतामें गुणातीत होंगे तो क्या होंगे? समदुःखसुख होंगे कि नहीं होंगे? गुणातीतके लक्षणोंमें है—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।। (14.24)

आप गुणातीत होना चाहते हैं क्या? आप स्थितप्रज्ञ होना चाहते हैं

क्या? क्या आपको भक्त होना है? तो आपको सुख-दुःखसम होना पड़ेगा। अरे भाई; नदी बहती है कभी गन्दा पानी बह गया-कभी फूल बह गया और कभी मुर्दा बह गया; काल बहता है उसमें कभी तूफान आगया और कभी सुहावना समय आ गया; देश बहता है-कभी उसमें ऊबड़-खाबड़ आगया, गन्दा आ गया-रास्तेमें चलते हैं तो क्या गन्दगी आपके सामने नहीं आती है? ऐसे ही जीवनमें चलना पड़ता है और आपको विश्वविजयी होनेका उपाय हम गीताके अनुसार बताते हैं-

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।। (5.19)

अब हम व्यावहारिक ब्रह्ममें आ गये-व्यावहारिक ब्रह्मज्ञान इसका नाम है-

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।

जिनका मन समतामें स्थित हो गया-सृष्टि उसका कुछ बना-बिगाड़ नहीं सकती। सृष्टि उसके मनमें राग-द्वेष उत्पन्न नहीं कर सकती, सृष्टि उसके मनमें अभिनिवेश उत्पन्न नहीं कर सकती, सृष्टि उसके मनमें अस्मिता उत्पन्न नहीं कर सकती, अविद्या कभी उसका स्पर्श नहीं कर सकती-किसका? कि-'येषां साम्ये स्थितं मनः'-जिनका मन समतामें स्थित हो गया। तो बाबा समतामें स्थित होनेसे क्या विश्व-विजय होती है। हाँ होती है, समतामें स्थित होने से विश्व-विजय होती है। 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'-क्योंकि समता ब्रह्म है, सम ब्रह्म है और वही निर्दोष है-उसको छोड़करके-परमात्माको छोड़ करके सृष्टिमें कोई निर्दोष नहीं है। तो जो समतामें स्थित है-गर्मी-सर्दी, अपना-पराया, अनुकूल-प्रतिकूल, लाभ-हानि, जय-पराजय, दुःख-सुख-वही शेरकी तरह जीवन व्यतीत करता है-बिलकुल परिपक्व जीवन। वे तो गरीब लोग हैं जो सोचते हैं कि ऐसा होगा, ऐसा-ऐसा होगा, तब हम सुखी होंगे, माने सारी सृष्टि जब हमारी मुट्ठीमें आवेगी तब हम सुखी होंगे। पकड़कर सुखी नहीं हो सकते, छोड़ कर सुखी हो सकते हैं। जो आपको दुःख देता है आप उसको छोड़ दीजिये-सीधी-सी तो बात है! अच्छा, अब और कल।

★

प्रवचन : 15

आत्म-हिंसा मत करो

अभी थोड़े दिन पहले पश्चिम जर्मनीसे एक बहुत बड़े वैज्ञानिक दिल्ली आये थे। वे कोई साधारण वैज्ञानिक नहीं हैं, सम्पूर्ण विश्वमें एक श्रेष्ठ वैज्ञानिकके रूपमें उनकी ख्याति है और बड़ी उम्रके हैं! यहाँ आकर उन्होंने यह इच्छा प्रकट की कि हम संस्कृतके किसी विद्वान्से मिलना चाहते हैं! दिल्लीके एक विद्वान्से उन्हें मिलवाया गया। तो और जो बात हुई सो हुई, हमारे जो भारतीय विद्वान् थे, उन्होंने पूछा कि आप इतने बड़े विश्व-विख्यात वैज्ञानिक, आपकी इतनी प्रतिष्ठा, इतना ऊँचा ओहदा-आपके मनमें यहाँके एक संस्कृतके विद्वान्से मिलनेकी इच्छा कैसे हुई? इसके उत्तरमें उन्होंने यह बताया कि द्वितीय महायुद्धके जमानेमें जब वे अनुसन्धान कार्यमें लगे हुए थे तभी बमके गोले गिरने लगे! वहाँ एक लड़की भी काम कर रही थी। उससे इन्होंने कहा कि आओ जो छिपनेकी जगह है (बम-वर्षाके समय) उसमें हमलोग छिप जायें! इस पर वह लड़की बोली कि आप मौतसे इतना क्यों डरते हैं महाशय? मैं तो मृत्युसे बिल्कुल नहीं डरती हूँ, जैसे नींद है वैसे ही मृत्यु है। यह आत्मा तो अजर-अमर है। बम गोला गिरने से यह मरेगा थोड़े ही। उन्होंने बताया कि मैंने उस लड़कीसे पूछा कि तुम्हें ऐसा ज्ञान कहाँसे प्राप्त हुआ? लड़कीने बताया कि मैं भगवद्गीता पढ़ती हूँ और आप देखो इसमें लिखा है कि आत्माका न जन्म है और न मरण है और गीता बिल्कुल ठीक है। वैज्ञानिकको बड़ा आश्चर्य हुआ कि एक मामूली-सी लड़की-और यह मौतसे डरती नहीं है और मैं इतना बड़ा वैज्ञानिक होकर भी मौतसे डरता हूँ, वैज्ञानिक महाशयने बताया कि तब उन्होंने भी गीता पढ़ी और उसके साथ-ही-साथ और भी संस्कृत साहित्यका अध्ययन किया। तब हमारी बड़ी रुचि हुई कि मैं भारतवर्ष आऊँ और यहाँके संस्कृतके विद्वानोंसे मिलूँ और इसलिए मैंने आपको यहाँ बुलवाया है।

कहनेका अभिप्राय क्या है-आप समझ गये होंगे? भागवतमें स्वप्नके लिए शब्द आता है-मायाका खेल और सुषुप्तिके लिए शब्द आता है-'मृत्यु'। परन्तु सुषुप्तिसे हम डरते नहीं है, क्योंकि हमारा विश्वास रहता है कि हम

सोकर उठेंगे और हमारी दुनिया ज्यों-की-त्यों मिलेगी; और मृत्युके बारेमें आपका ऐसा ख्याल हो गया है कि मरनेके बाद एक तो पता नहीं कि हम उठेंगे कि नहीं और दूसरे उठेंगे भी तो हमारी यह दुनिया फिर हमें मिलेगी कि नहीं। इस कारण मृत्यु होने पर हमारा सब कुछ बना-बनाया छूट जायेगा-इसके लिए बड़ा दुःख होता है। दुःख मृत्युका नहीं होता है, आपने यह जो संसार बनाया है-आपका मकान, आपकी दुकान, आपका बेटा, आपकी पत्नी, आपका पति, आपकी नानी, आपका नाना फिर मिलेंगे कि नहीं मिलेंगे-इस सम्बन्धमें पूरे आश्वस्त न होनेके कारण आपको मृत्युसे डर लगता है जब कि सुषुप्तिमें आप पूरे आश्वस्त हैं कि सुषुप्तिके पहले हम नींद लेंगे, विश्राम मिलेगा और फिर ताजा होकर उठेंगे और हमारी बनायी हुई दुनिया ज्यों-की-त्यों मिलेगी। अब यह आध्यात्म विद्या आपको यह सिखाती है कि जैसे सोते समय अपनी दुनियाको जहाँ छोड़कर सोते हैं और उठने पर वह आपको वहीं मिलती है, वैसे ही मृत्युके पहले आप अपने आपको जिस अवस्था तक पहुँचाकर मरते हैं दूसरा जन्म लेनेके बाद फिर वही अवस्था प्राप्त होती है। इस बातसे आप बिल्कुल आश्वस्त हो जाइये, निश्चिन्त हो जाइये।

आपकी 100 वर्षकी उम्रमें सोना और जागना कितनी बार हुआ-यह आप गिनती करके बता सकते हैं-365 दिन होते हैं एक वर्षमें और यदि यह बात मान लें कि आप प्रतिदिन एकबार सोते हैं तो हर वर्षमें 365 बार सोते हैं और इसलिए 100 वर्षमें 36500 बार सोते और जागते हैं। अब आप देखो कि आपका 100 वर्षका जीवन ही नहीं है बल्कि आप कल्पनामें लो कि आपका जीवन अनादि और अनन्त है, क्योंकि जीवनकी शुरुआत अनुभवमें नहीं आती है और जीवनका अन्त अनुभवमें नहीं आता है अर्थात् अनन्त और अनादिके बीचमें आपका यह जन्म और मरण है। तो, यह तो आपके सोने और जागनेसे भी बिल्कुल हल्की चीज है। बड़ी चीजमें छोटी चीजका पता नहीं लगता है!- जैसे आपके गिलासमें दूधकी कीमत है-चाहे वह 2-3 छटाँक हो या एक सेर; परन्तु यदि गिलासका दूध गंगाजीमें डाल दिया जाये या कि समुद्रमें डाल दिया जाये तो इसकी कोई कीमत नहीं होगी, उसका कोई वजन नहीं होगा। इसी तरह आपका जीवन जब अनन्तसे एक हो जाता है तब जन्म और मरणकी जो कीमत है वह चली जाती है। जन्म और मरणका मूल्यांकन ही इसलिए है कि आपने अपनेको एक गिलासमें 2 छटाँक, 3 छटाँक अपना वजन बनाकर रख लिया है। बल्कि अनन्तमें तो 2 छटाँक, 3 छटाँक भी नहीं होता है-यह तो आपको मालूम ही है-आपको तो हिसाब आता ही है! आप अनन्तमें-से अपने 100 वर्षको निकालिये-अनन्तका कौन-सा हिस्सा है 100 वर्ष? अनन्त विस्तारका कौन-सा हिस्सा है साढ़े-तीन हाथ और अनन्त कालका कौन-सा हिस्सा है आपका सौ-वर्ष और अनन्त सत्ताका कौन-सा हिस्सा है आपका यह डेढ़ मन, दो मन, ढाई मन वजनका शरीर तो, जन्म और मृत्युकी कीमत कब होती है जब आप स्वयं अपनेको एक सीमित दायरेमें कर लेते हैं!-आपको दिखता है न, कि मैं आपसे ऊपर बैठा हूँ और छतसे नीचे बैठा हूँ। परन्तु जहाँ न नीचेकी धरती हो और न ऊपरका छत हो वहाँ मैं कहाँ बैठा हूँ? ऊपर कि नीचे? यह ऊपर नीचे एक आपेक्षिक स्थिति है-छत भी है और धरती भी है तब मैं एकके ऊपर और एकके नीचे बैठा हूँ अनन्तमें न ऊपर हूँ और न नीचे हूँ; प्रबुद्धानन्दके पूरब हूँ, दादाके पश्चिम हूँ-परन्तु जहाँ, न पश्चिममें प्रबुद्धानन्द बैठे हैं, न पूरबमें दादा बैठे हैं, वहाँ मैं न पूरब हूँ, न पश्चिम हूँ। इसीसे परमात्माकी सृष्टिमें तुम्हारा यह शरीर भला कहाँ है?

अब एक दूसरी बात आपके सामने रखता हूँ-आप अपने अनन्त जीवनकी दृष्टिसे इस शरीरको देखिये और इसकी उलझनोंमें इतने मत उलझ जाइये कि आपकी वह अनादि-अनन्त जीवनकी विशाल दृष्टि ही लुप्त हो जाये। अन्यथा आप जिससे मिलेंगे वही हो जायेंगे। आप अपने 'मैं'को जिसके साथ मिला देंगे वही हो जायेंगे। आप क्या चाहते हैं?-बोले-हम हीरा चाहते हैं-एक जड़ वस्तु चाहते हैं। तो, हीराको जब आप चाहेंगे तो आपकी चित्तवृत्ति हीराकार हो जायेगी आप जड़ हो जायेंगे और जब आप एक मनुष्य पाना चाहेंगे तब आपकी वृत्ति मनुष्याकार हो जायेगी और आप मनुष्य हो जायेंगे और यदि आप ईश्वरको पाना चाहेंगे तो आपकी वृत्ति ईश्वराकार हो जायेगी और आप ईश्वर हो जायेंगे। और यदि आप किसीको नहीं चाहेंगे तो? तो आप अपने स्वातंत्र्यकी पराकाष्ठाका अनुभव करेंगे। उसीका नाम मोक्ष है :

नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम्।
तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत्।।
(भाग० 11.20.35)

जब आप स्वयं अपेक्षा-रहित होकर बैठेंगे तब आपकी सत्ता निरपेक्ष, आपका ज्ञान निरपेक्ष, आपका आनन्द निरपेक्ष, उस समय आप स्वातंत्र्यकी पराकाष्ठाका अनुभव करेंगे। पर आप तो अपनेको हीन बनाते हैं, अपनेपर चाकू चलाते हैं, अपनेको तलवारसे काटते हैं, अपने आपको बन्दूकसे गोली मारते हैं-कब, कि जब आप अपनेमें हीनताका दृष्टिकोण स्वीकार करते हैं।

न हिनस्ति आत्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।। (13.28)

आप अपनी हिंसा स्वयं मत कीजिये-आत्मना आत्मानम् न हिनस्ति ततः पराम् गतिम् याति-अपने आपको आप मत काटिये-स्वयं अपनी हिंसा मत कीजिये।

अच्छा! पहले एक और बात आपको सुनाते हैं! यह अनुभव-अनुभव-अनुभव बहुत सुननेमें आता है! हमारे भी बहुत महीने, बहुत वर्ष इस अनुभवके चक्करमें बीते। आखिर यह अनुभव क्या है? गाँवके लोगोंके लिए तो जैसे यह एक बड़ा भारी हौआ है! लोग कहते हैं-ये बड़े अनुभवी हैं। एक गँजेड़ी साधु मिला। गँजेड़ी माने गाँजा पीनेवाला-खूब लम्बी चिलम और उसमें सबसे बड़ी करामत यह होती है कि जब दम फूँकते हैं तो वह जो लौ उठती है वह जिसकी सबसे ऊँची उठी होती है, वह सच्चा अनुभवी होता है और जब मुँहमें धुँआ खींचकर बादमें बाहर फेंकते हैं तब किसका धुँआ कितनी दूर तक जाता है। इस हिसाबसे पता चलता है कि कितने अनुभवी हैं। एक गँजेड़ीका अनुभव है कि वेदान्त पढ़ने और माला फेरनेसे कुछ नहीं होता, गाँजा पीकर देखो, तुम काम-वासनासे मुक्त हो जाओगे! मगर यह उसका अनुभव है झूठ-सचकी वही जाने!

एक भँगेड़ी-भाँग पीनेवाला मिला। वह मथुराका नहीं था, काशीका भी नहीं था, प्रयागका भी नहीं था, किसी गाँवका था! वह बोला-तुमलोग ईश्वर-ईश्वर, स्वर्ग-स्वर्ग, वैकण्ठ-वैकुण्ठका नाम लेते रहते हो-इनके लिए मरते रहते हो, आओ जरा भंग-भवानीका एक घूँट सेवन करो, देखो! तुरन्त तुम स्वर्ग देख लोगे; वैकुण्ठमें हो आओगे, गोलोकमें उड़ जाओगे! तो यह एक भँगेड़ीका अनुभव हुआ।

हम नशेकी निन्दा या नशेकी स्तुतिके लिए यह बात नहीं बोल रहे हैं, यह बात है कि जब कोई आपके सामने आकर छाती ठोंककर बोलता है कि हमारा यह अनुभव है तो हम आपसे निवेदन यह करना चाहते हैं कि आप अनुभवका नाम सुनकरके 'मैस्मराइज' मत हो जाइये। यह देखिये कि वह अनुभव किस कक्षाका है, किस कोटिका है। अनुभवका भी एक संविधान होता है और जैसे आजकल कोई भारतीय संविधानका विशेषज्ञ होता है, कोई अन्तर्राष्ट्रीय-संविधानका विशेषज्ञ होता है, वैसे ही अनुभवका भी एक संविधान होता है और आप चाहे मानो, चाहे मत मानो-अनुभवके संविधानका विशेषज्ञ मैं भी हूँ। अनुभवका मूल्यांकन होता है, अनुभवका तौल होता है। यह अनुभव पाव रत्ती है कि मन भर है कि पूरा है, इसकी एक पहचान होती है। अणुका अनुभव दूसरी चीज है और महान्‌का अनुभव दूसरी चीज है। अनुभवके संविधानकी एक पोथी भी होती है और यह नहीं होता कि जो चाहे सो उस कानूनको अपने हाथमें ले ले। फिर तो सब कहेंगे कि आपको क्या अनुभव है, हमको अनुभव है।

कोई एक यक्षिणी सिद्ध कर लेते हैं, वह आकर उनके कानमें बता जाती है कि तुम क्या करके आये हो? जाकर क्या करोगे, यह यक्षिणी नहीं बता सकती! देखो यह अनुभवकी ही एक कक्षा हुई कि नहीं? किसीने कहा कि कल तुम्हारी मौत होनेवाली है। बोले, तब क्या करें? कि अब थोड़ा दान-दक्षिणा दो तो हम तुमको कल होनेवाली मौतसे बचा देंगे-इसीका नाम ठग-विद्या होता है।

देखो, एक यक्षिणीका भी अनुभव है, बेहोशीका भी अनुभव होता है, गोली खाकर होता है, नस दबाकर होता है, प्राणायाम करके होता है, डिप्नोटाइज करके होता है, परन्तु क्या यह परमार्थका अनुभव है? यह परमार्थका अनुभव नहीं है, जादूका खेल है। यह तीन नम्बरका अनुभव है। परमार्थके अनुभवका संविधान यह है कि जहाँ अनेकता एकतामें मिल जाये। जहाँ सब कुछ अपने आपमें मिल जाये, यह दो नम्बरका अनुभव है और अपने सिवा दूसरा कुछ है ही नहीं, न देश, न काल, न वस्तु, अपना

आप ही परमात्मा है-यह एक नम्बरका अनुभव है। यही अनुभवका संविधान है कि आत्माके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है। इसीमें एक विज्ञानसे सर्वके विज्ञानकी संगति लगा सकते हैं। 'नेति-नेति'की व्याख्या ठीक-ठीक कर सकते हैं, 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्योंका अभिप्राय समझ सकते हैं-अनुभव वहाँ जाकर पूरा होता है जहाँ अद्वितीयता होती है-अद्वितीयताके बिना अनुभव पूरा होता ही नहीं। एकत्व उसको कहते हैं जो अनुगत और व्यावृत संख्या होती है-जैसे एक (1) संख्या अन्य सब संख्याओंसे व्यावृत (अलग) भी है और उनमें अनुगत (व्याप्त) भी है-'एति इति' अतः एक है परन्तु अद्वितीय माने संख्या नहीं होता। एक-एक-दो, एक-एक-एक-तीन, एक बटे दो इसका नाम है संख्या जिसमें योग गुणन और विभाग होता है, परन्तु अद्वितीय वस्तुमें विस्तार और विभाग नहीं होता। अद्वितीय-अद्वितीय दो नहीं, अद्वितीय-अद्वितीय-अद्वितीय तीन नहीं अद्वितीय बटे दो नहीं। एकत्वकी जो अनुभूति है उसमें वृद्धि और ह्रास है, अद्वितीयताकी अनुभूतिमें वृद्धि और ह्रास नहीं है, एकत्वकी अनुभूति टूटती है, जुड़ती है और अद्वितीयताकी अनुभूति न जुड़ती है न टूटती है, वह तो शुद्ध वस्तु है। तो, अनुभवका संविधान है अद्वितीयता और अद्वितीयता भी किसकी? 'यह'की अद्वितीयता नहीं। 'यह' कभी अद्वितीय हो नहीं सकता; क्योंकि मैं उससे अलग रहूँगा और 'वह'की अद्वितीयता भी नहीं हो सकती; क्योंकि उससे मैं अलग रहूँगा! 'मैं'की अद्वितीयतामें ही अद्वितीयताकी यथार्थ अनुभूति होती है! ऐसी अद्वितीयताका संविधान है-वेद, अनुभवका संविधान है-वेद; अनुभवका संविधान है-उपनिषद् जबतक उपनिषद्की कसौटीपर, गीताकी कसौटीपर, वेदकी कसौटीपर अनुभवको कस दिया नहीं जाता तबतक ऐरे-गैरे, नत्थू-खैरे-रास्ते-रास्ते बोलते रहते हैं कि हमारा यह अनुभव है, हमारा यह अनुभव है हमारा यह अनुभव है-इसका नाम अनुभव नहीं होता है। संविधानके अनुसार तुम्हारा अनुभव पूर्ण हुआ कि नहीं हुआ, यह देखना चाहिए। आइये, अब गीताकी बात चल रही थी उसीकी बात करते हैं।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।। (13.28)

एक परमात्मा है-सम। सम है माने-सबमें वही; जन्ममें भी वही, मृत्युमें भी वही। ऐसा तो नहीं है न, कि रातमें दूसरा ईश्वर होता है और दिनमें दूसरा; गरीबके शरीरमें दूसरा ईश्वर है और धनीके शरीरमें दूसरा; मूर्खके शरीरमें दूसरा ईश्वर है और पण्डितके शरीरमें दूसरा; हिन्दूके शरीरमें दूसरा ईश्वर है और मुसलमानके शरीरमें दूसरा; रूसीभाषीके मनमें दूसरा ईश्वर है और जर्मनभाषीके मनमें दूसरा; गीताका कहना है कि सर्वत्र उसी समरूप ईश्वरको अवस्थित देखो-

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।

नेताओंका चक्कर दूसरा होता है! जब नेतागिरी आती है तब महाराष्ट्रमें दूसरा ईश्वर दीखता है, गुजरातमें दूसरा और कर्नाटकमें तीसरा। क्योंकि तीन मुख्य-मन्त्री हो जायेंगे, तीन शिक्षा-मन्त्री हो जायेंगे, लेकिन जिसको अलग-अलग सरकारी ओहदा नहीं प्राप्त करना उनके लिए जो महाराष्ट्रमें है वही मैसूरमें है, वही गुजरातमें हैं-एक ही भारत है सबमें! है कि नहीं? तो नारायण, एकत्वपर दृष्टि तब होती है जब चित्त राग-द्वेषसे शून्य होता है।

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।

भागवतमें एक जगह ऐसा लिखा है कि ये जो केचुए होते हैं छोटे-छोटे धरतीपर सरकनेवाले और ये जो आकाशमें उड़नेवाले पक्षी होते हैं और ये जो शरीरमें पैदा होनेवाली जूएँ होती हैं और ये जो काटनेवाली मक्खियाँ होती हैं-इनको अपने पुत्रकी तरह देखो-'आत्मनः पुत्रवत् पश्येत्।' जैसे तुम्हारे शरीरके भीतर रहनेवाले पसीनेकी एक बूँदसे बेटा पैदा हुआ, वैसे ही बाहरके पसीनेकी बूँदसे जुँआ पैदा हुआ! क्या अन्तर है? अरे भगवान्! एक बार एक सेठने यह बात पढ़ ली। बोले-अरे भगवान्, कहाँ हमारे बेटे और कहाँ जूएँ-ऐसी तुलना! नारायण, ममता और मोहके चक्करमें पड़कर पक्षपात करनेवाले लोग, हिंसा करनेवाले लोग इस रहस्यको हृदयंगम नहीं कर सकते हैं कि 'समं पश्यन्हि सर्वत्र।' आपका कलेजा तो बाहर बाँधा हुआ है। कलेजा अगर कलेजेमें नहीं रहेगा तो बाहर बँध जायेगा, तो आपको शान्तिका दर्शन कैसे हो सकता है? गीता शान्तिकी विद्या लेकर आयी है, और वह आपको व्यवहार करते समय भी शान्ति देती

है। वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्मका पृथक्-पृथक् प्रतिपादन करनेके लिए गीता नहीं आयी है। वह तो मानवधर्मका प्रतिपादन करती है। ब्राह्मणादि वर्ण और ब्रह्मचर्यादि आश्रमके धर्मोंका गीतामें संकेत मात्र ही है। एक-आध श्लोकोंमें कही हुई बातोंसे ही स्थाली-पुलाक न्यायसे इन बातोंको निकालना पड़ता है कि इतना है तो इतना और समझ लो। गीता मनुष्य मात्रके लिए है क्योंकि वह भगवान्‌की वाणी है और भगवान्‌की वाणी अपनी समस्त प्रजाके लिए होती है।

जब भगवान् बोलते हैं तब सम्पूर्ण विश्वमें जो प्राणी हैं, अप्राणी हैं उनका भला अपने ध्यानमें रखकर बोलते हैं। भगवान्‌की वाणीकी परिभाषा, पहचान ही यह है। वे सबसे कहते हैं-देखो भाई, तुम अपनेको हीन मत मानो-'न हिनस्त्यात्मानं।' तुम स्वयं अपने आपको कैसे हीन मानते हो? कि जब यह मानते हो कि यह चीज यदि हमारे पास नहीं रहेगी तो मैं छोटा हो गया। यह चीज नहीं होगी तो बड़ा दुःखी, बड़ा गरीब। अरे चीज बड़ी कि तुम? चीजकी इतनी कीमत कि तुम्हारे जैसा परमात्माका एक अंश, परमात्माका स्वरूप और एक चीजके बिना छोटा हो गया? आपने अपने आपको बहुत हीन मान लिया। भगवान्‌का कहना है कि 'न हिनस्त्यात्मानात्मानं।' फिर बोले कि यह भोग नहीं मिला तो हम हीन, हमारे पास ऐसी साड़ी पहननेको नहीं है तो हम हीन! एक सेठ एक बार दुःखी होने लगा, क्यों? उसके पास एक मोटर थी-दस हजारकी। 10 हजारमें कोई मोटर शायद ही आती होगी-उस समय हिन्दुस्तान नामकी मोटर 10 हजारमें आती थी। तो महाराज वह दस हजारकी मोटरपर हमको लेकर चला और रास्तेमें रोने लगा। मैंने पूछा-भाई, क्यों रोते हो? तो बोला, कि महाराज! एक हमारा वह समय था और एक यह समय है। यदि वह समय आज होता तो हम आपको लाख रुपयेकी मोटरपर लेकर चलते, पर, हमारा दुर्भाग्य कि हम आपको दस हजार रुपयेकी मोटरपर लेकर चल रहे हैं। अब देखो आप, दस हजारकी मोटरपर चढ़ता है, हमको ले जा रहा है और रोता भी रहा है। तो मोटरकी कीमत ज्यादा कि तुम्हारी कीमत ज्यादा? तुमने अपनी कीमत इतनी घटा दी, अपने आपको इतना सस्ता कर दिया कि जब तुम्हारी साड़ीसे मैच करती हुई जूती न हो तो तुम रोने लगो? हे भगवान्! साड़ीसे मैच करती हुई बिन्दी न मिले, चूड़ी न मिले तो हाय-हाय! आज हमारा सब बिगड़ गया हो! हे भगवान्! एक दिन ढीला पहननेका फैशन, एक दिन कसा पहननेका फैशन। अब अगर तुरन्त नया न बनवाया जाय तो लड़की कहे कि जब तक नये फैशनका हमारे पास नहीं होगा तबतक हम कैसे बाहर जायें? है न? अरे! तुम्हारे अन्दर क्या कोई सुन्दरता नहीं? तुम्हारी आँखमें कोई चमक नहीं है? तुम्हारे मुँहपर कोई पानी नहीं है? इनकी तो कोई कीमत नहीं रही और कपड़ेकी कीमत क्या है? इसीका अर्थ है हीनता। पर, यह केवल कपड़ेकी बात मैं नहीं कह रहा हूँ और न ही लड़कीके लिए कह रहा हूँ-कह रहा हूँ मैं इन सब बड़कोंके लिए। ये जो बड़े लोग यहाँ बैठे हैं-ये कहते हैं कि हमारे पास ऐसा मकान नहीं हैं, ऐसी मोटर नहीं हैं-ऐसा कपड़ा नहीं है-इसके बिना हम क्या हैं? तो अपनेको काटिये मत। ईश्वर सब जगह है। आप जन्ममें और मरणमें, गरीबीमें और अमीरीमें, घरमें और बाहर, अपने और परायेमें-सर्वत्र ईश्वरका दर्शन कीजिये-'समं पश्यन्हि सर्वत्र'-यह भगवान्‌की वाणी है कि भगवान् अपनेको अमीर और गरीबमें, मूर्ख और पण्डितमें, नंगे और वस्त्राभूषणसे सुसज्जितमें सबमें सम बता रहे हैं। भगवान् आपको बताते हैं कि आपके जीवनमें जो सर्दी-गर्मी आती है, जो सुख-दुःख आता है उसको आप सहते चलो-

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।। (2.14)

अरे, वे आते हैं, जाते हैं, अनित्य हैं और आप न आते हैं न जाते हैं और आप नित्य हैं इन आने-जानेवालोंको बह जाने दीजिये! बहने दीजिये! बहने दीजिये! ये आपका बाल भी बाँका नहीं कर सकते, आप डरिये मत। आत्म-हिंसा मत कीजिये! हमारे ब्रह्मवेत्ताका जीवन देखिये-एक सामान्य-जीवन और एक ब्रह्म-वेत्ताका जीवन! हम कल, कि परसों आपको सुना रहे थे-एक ब्राह्मण विद्वान् जब यह कल्पना करता है कि हम बिना सिला कपड़ा अपने शरीरपर रखकर, भालपर भस्म लगावेंगे और माला पहनेंगे और प्रातःकाल स्नान करके बैठेंगे, गायत्रीका जप करेंगे, सूर्यको अर्घ्य देंगे और हम जीवन भरके लिए यह निष्ठा ग्रहण कर रहे हैं तब वह समझता है कि यह हमारा सर्वोत्तम जीवन है। यह जो हमारा अपरसवाला कपड़ा है यह

सर्वोत्तम वस्त्र है। जब जो इसको सर्वोत्तम समझकर अपने जीवनमें अपनाता है, तो वह क्या करता है कि अपने जीवन-भरके लिए अपनी दृष्टिसे एक उत्तम रहनीको स्वीकार करता है। इसका नाम साधना है।

हमने एक सेठके घरमें अबसे कोई 25 वर्ष पहले देखा 1000 जोड़ी जूते रखे हुए थे। पहले तो मैंने सोचा कोई दुकान ही होगी, फिर मैंने सेठजीसे ही पूछा-ये जूते किसके हैं, क्यों रखे हैं? तो वे हँसने लगे, बोले-सब मेरे ही हैं महाराज, जब बाहर जाते हैं तब कभी कोई, अवसरके अनुरूप, पोशाकके अनुरूप पहनकर जाते हैं। तो यह जो साधना है, यह कोई जूता नहीं है कि पाँच मिनट यह पहना और फिर खोला और फिर पाँच मिनट वह पहना और खोला-साधना माने आप एक सर्वोत्तम, उत्तम निश्चय करो कि तबतक जीयेंगे तबतक और मरनेके बाद यदि हमारा सूक्ष्म-शरीर रहा, जीवन रहा तो-यही सर्वोत्तम रहनी है, हम यही करेंगे। आप अपने जीवनमें जब एक शाश्वत रहनीको बैठानेका अभ्यास करते हैं तब उसका नाम साधन होता है-यह नहीं है कि चार पैसा फेंक दिया या कि घण्टे भर मजूरी कर आये और उसका यह नतीजा ले आये। आप अपने शाश्वत जीवनके लिए जो शाश्वत, सर्वोत्तम स्वीकार करते हैं-और उस शाश्वत सर्वोत्तमको हमेशा रहनेवाली और बढ़िया-से-बढ़िया रहनीको-जब अपने जीवनमें बैठानेके लिए रोज-रोज अभ्यास करते हैं, उसकी आदत डालते हैं, उसका संस्कार बनाते हैं तब उसका नाम साधन होता है। थोड़ी देर नाचनेका नाम अथवा थोड़ी देर गानेका नाम साधन नहीं है! साधन वह है कि आपका जीवन है अनन्त-शाश्वत और उस अनन्त-शाश्वत जीवनमें एक सर्वोत्तम रहनी आपने पसन्द की है और चूँकि वह रहनी अभी आपकी आदतमें नहीं है, आपकी पसन्दमें नहीं है, इसलिए बारम्बार दोहराकर उसकी आदत बनाना चाहते हैं। अगर आपकी दृष्टिमें साधनका यह अर्थ नहीं है बल्कि साधनका यह अर्थ है कि चार दिनमें देखते हैं कि कुछ फायदा नहीं है, तो छोड़ देंगे। अभी तो आपने साधनकी शकल ही नहीं देखी-

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।। (5.17)

आप देखो, एक साधन आपको सुनाते हैं :

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ।। (5.20)

आप अपने जीवनको अनन्तसे एक बनाइये, ब्रह्मको समझिये, ब्रह्मसे एक हो जाइये। ब्रह्म माने काला भूत जैसी कोई चीज नहीं, ब्रह्म माने वही जो आप हैं; और आप माने वही जो ब्रह्म है। मगर यह तो ऐसी ही बात हो गयी कि एक बच्चेसे किसीने पूछा कि तुम्हारा घर कहाँ है? उसने कहा-मामाके घरके सामने। पूछा-मामाका घर कहाँ है? तो बोला-मेरे घरके सामने। अरे! दोनों कहाँ हैं? बोला-आमने-सामने। अब भला, कैसे पता चले? ऐसे ही ब्रह्म क्या है कि जो आप हैं। आप क्या हैं कि जो ब्रह्म है! आप इसको समझिये-ब्रह्म माने अनन्त, बिना किसी दुविधाकी वस्तु-चाहे जितने परिवर्तन हों, चाहे जितने प्रवर्तन हों-चाहे जितने निवर्तन हों और चाहे जितने विवर्तन हों, परन्तु आप निर्द्वन्द्व अपने स्वरूपमें स्थित रहें तो आप ब्रह्म ही हैं।[1]

'न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य'-आपके मनके अनुकूल कुछ हो जाये तो हर्षसे फूल मत जाइये-यह अनुकूलता रहेगी नहीं, बात बिलकुल पक्की है! 'नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्'-और कोई अप्रिय आया आपके सामने, कोई अप्रिय घटना आयी तो आप शोकसे दब मत जाइये, खुदकुशी मत कीजिये, क्योंकि यह नहीं रहेगी, यह भी चली जायेगी। 'स्थिरबुद्धिः'-माने अब राग-द्वेष गया; क्योंकि 'न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य'से राग नहीं रहा, और 'नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्'से द्वेष नहीं रहा, 'असंमूढः' माने अब किसी स्थितिमें संमूढः नहीं रहे, अटके-भटके नहीं रहे। जैसे माँके पेटमें गर्भ अटक जाये और निकल न पाये तो आयुर्वेदमें उसको मूढ़ बोलते हैं-'गर्भो मूढः'-इसी प्रकार जब आप एक प्रकारकी परिस्थितियोंमें अटक जाते हैं-जब-तब भटक जाते हैं, लटक जाते हैं, अटक जाते हैं तब आप संमूढ हो जाते हैं। भगवान् बोले-कि नहीं-नहीं-स्थिर-बुद्धिः आप स्थिर रहो। जो राग और द्वेषके विषय हैं ये तो आवेंगे और जावेंगे, घबड़ाते काहेको हो-स्थिरबुद्धिः रहो। असंमूढः-किसी परिस्थितिमें आप अटको मत, भटको मत, लटको मत। तो क्या

1. प्रवर्तनमें नवीनताकी उत्पत्ति है; परिवर्तनमें उत्पत्ति और निवृत्ति दोनों हैं; निवर्तनमें केवल निवृत्ति है; विवर्तनमें न प्रवृत्ति है न निवृत्ति केवल मान है।

करें? तो बोले-कि बुद्धिको स्थिर करो, अपने अनन्त जीवनको समझो और अपने अनन्त जीवनमें स्थिर रहो! यह समाधि नहीं है, यह भी मत समझना कि यह तिब्बतकी गुहामें रहती है। यह तिब्बतकी गुहामें नहीं रहती है और यह स्थिति समाधिमें नहीं रहती है-यह वह स्थिति है जो कालवा देवी बाजारमें घूमती है और यह वह स्थिति है जो चौपाटीपर चाट खाती है।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् स्थिरबुद्धिरसंमूढो।

जैसे कोई राजा अगर सारी प्रजासे यह कहता है कि सब एक महलमें आकर रहने लग जायें, तो राजा बेवकूफ है; क्योंकि एक महलमें सारी प्रजा भला कैसे रह सकती है? ऐसे ही सारी प्रजा तिब्बतकी गुहामें चली जाये-यह भगवान्‌का कहना नहीं हो सकता। भगवान्‌का कहना भी नहीं है कि सारी प्रजा सबेरे उठकर सूर्य-नमस्कार करे या कि सब लोग आड़ा चन्दन लगावें, कि खड़ा चन्दन लगावें, पीला कपड़ा पहने, कि लाल-कपड़ा पहनें-निकाल दे कोई गीतामें-से यह बात! अरे भाई, भगवान् न सबको गुहामें बन्द करना चाहते हैं और न सबको चौपाटीपर चाट खिलाना चाहते हैं और न सबको बन्दूक लेकर सेनामें भेजना चाहते हैं, वे कहते हैं कि तुम जहाँ हो वहाँ बिलकुल ठीक हो। प्रत्येक सिपाही जिस चौराहेपर खड़ा है, उसकी जहाँ ड्यूटी है; प्रत्येक डाक्टर, प्रत्येक इंजीनियर, प्रत्येक जज अपने-अपने स्थानपर बिलकुल स्थिर बुद्धि होकर रहे और राग-द्वेषके वशीभूत होकर संमूढ न हो। गीता एक शाश्वत जीवनकी शिक्षा देती है। प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक भोग हमको एक बुद्धि देकर जाता है, इसीका नाम फल होता है। फल माने आमका फल, कि कटहलका फल नहीं होता है। फल माने बाहर जो क्रिया हुई, बाहर जो भोग हुआ उसकी छाप हमारे हृदयपर क्या पड़ी, उसने क्या अंकित किया और उससे हमारी बुद्धिमें क्या प्रतिफलित हुआ? तो हमारे शाश्वत जीवनमें, ब्राह्मी जीवनमें, जागरण और सुषुप्ति आती-जाती रहती है, जन्म और मृत्यु आती और जाती रहती हैं, इनका व्यवहारिकतासे अतिरिक्त कोई मूल्यांकन नहीं है, हमें अपने स्थानपर (ब्रह्म-स्वरूपमें) बिलकुल स्थिर हो जाना चाहिए।

स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।।

★

प्रवचन : 16

ज्ञानसाधना सर्वोपरि है

गीताका एक अर्थ है और वह यह है कि जिस वस्तुको हम प्राप्त करना चाहते हैं उसमें स्थित होनेका प्रयत्न करें। ऐसे आप समझो कि यदि आपका लक्ष्य कोई दूसरा है, अप्राप्त है, अन्यत्र है-गोलोकमें है, वैकुण्ठमें है, साकेतमें है, कैलासमें है-एक ऐसी आकृति है जो आपको मिली हुई नहीं है, तो आप उसकी प्राप्तिके लिए क्या साधन करेंगे? कि बारम्बार आप अपने मनसे उसको छूइये-स्पर्श कीजिये-बस यही आपका साधन होगा-जाप केवल इतना ही कीजिये। जैसे किसी चीजको 'टच' किया जाता है-'त्वाच' प्रत्यय जैसे होता है, आप बारम्बार अपने मनसे अपने लक्ष्यको छूइये-बारम्वार रामके मुखारविन्दको देखिये, बारम्बार श्रीकृष्णका आलिङ्गन कीजिये, बारम्बार अपनेको शिवरूपमें देखिये-यही उसकी प्राप्तिका साधन होगा। जो हम पाना चाहते हैं, जो हम होना चाहते हैं, जिसके पास जाना चाहते हैं मन-ही-मन उसका स्पर्श करना प्रारम्भ कर दें-इसीका नाम जप है, इसीका नाम प्रत्याहार है, इसीका नाम धारणा है और यही थोड़ा गाढ़ा हो जाय तो इसीका नाम ध्यान है। परन्तु बात इतनी जरूर करनी पड़ेगी कि आप बारम्बार मनसे उसका स्पर्श कीजिये। अच्छा, यदि आपका लक्ष्य ऐसा है कि हमको अपने स्वरूपमें बैठना है तो आप अन्य रूपका परित्याग कर दीजिये; इसमें विवेककी प्रधानता होगी। इस प्रकार यदि आप अप्राप्तको प्राप्त करना चाहते हैं-रामको, कृष्णको, शिवको वहाँ श्रद्धाकी प्रधानतासे, प्रेमपूर्वक मनसे बारम्बार उसको स्पर्श करना पड़ेगा और यदि अपने स्वरूपमें बैठना है तो विवेकसे आपसे जो अन्य है उसका परित्याग करना पड़ेगा।

सामान्य मनुष्य तो यह सोचता है कि हम कुछ दान कर लें और हमको ईश्वरकी प्राप्ति हो जाये। हम पाँच रुपया दान कर दें और हमको स्वर्ग

मिल जाये-अब इतने बड़े होटलमें पाँच रुपयेमें रहनेकी जगह, जहाँ मनके अनुसार सारे भोग मिलें-वैसा ही विमान, वैसी ही अप्सरा, वैसा ही उद्यान, वैसा ही शरीर, वैसा ही कपड़ा, वैसा ही भोग-आपके मनके अनुसार सब कुछ मिले, पर आदमी वहाँ भी ठगी करना चाहता है कि पाँच रुपयेमें हमेशाके लिए हमको उस होटलमें जगह मिल जाये।

कुछ ऐसा सोचते हैं कि हम यह-यह भोग त्याग देंगे, तो ईश्वर मिल जायेगा, कोई यह सोचते हैं कि हम यह-यह करेंगे तब ईश्वर मिल जायेगा। द्रव्य-दान करनेसे मिलेगा, कर्म-भोगके त्यागसे मिलेगा या ग्रहणसे मिलेगा, इस विषयमें गीताका मानना यह है कि-

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।। (4.33)

आपको एक स्थानपर पहुँचना है जो ज्ञानमात्र आत्माका स्वरूप है। जब आप उसको चाहते हैं-भोगमें-से निकालना, दानमें-से निकालना, कर्मकाण्डमें-से निकालना-तो गलत दिशामें जाते हैं। आपको तो अन्तर्मुख होना चाहिए।

अच्छा, तो राम-कृष्ण, शिव-गणेश, देवी-नारायण-अगर इनको पाना चाहते हैं तो आप मनसे इनका बारम्बार स्पर्श कीजिये और यदि आप असंग आत्मामें बैठना चाहते हैं, तो न केवल संसारका बल्कि अन्य रूपसे जो देवता हैं उनका स्पर्श भी छोड़ दीजिये। अस्पर्श योग कीजिये। इष्टकी प्राप्ति चाहिए तो स्पर्शयोग कीजिये और आत्म-प्राप्ति चाहिए तो अस्पर्श योग कीजिये-

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः।।
(मां० का० 3.39)

यह अस्पर्श योग अन्य सब योगियोंके द्वारा देखा जाना कठिन है। वे तो इस अभय पदमें भयका ही दर्शन करते हैं।

गीताकी दृष्टि साधनके बारेमें बहुत व्यापक है। आपने ध्यान दिया होगा कि एक ओर कहते हैं कि देवताओंकी उपासना करना भी यज्ञ है-

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते। (4.25)

सूर्य-देवताकी आराधना, अग्नि देवताकी आराधना, इन्द्र देवताकी आराधना, वायु-देवताकी आराधना, वरुण देवताकी आराधना-अनेक देवताओंकी आराधना सब यज्ञ हैं; और दूसरी ओर देखो-तुरन्त कहते हैं, उसी श्लोकमें-

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।। (4.25)

यज्ञके द्वारा यज्ञको ही ब्रह्माग्निमें हवन कर दो। अब आराध्य देवता अनेक हैं परन्तु ब्रह्म तो एक ही है, अद्वय है। इसलिए भगवान्‌के कथनका यह अर्थ हुआ कि अनेकतामें हवन करना भी यज्ञ है और एकतामें हवन करना भी यज्ञ है। यदि कोई कहे कि भिन्न-भिन्न देवताओंकी उपासना ही साधन है, ब्रह्माग्निमें हवन साधन नहीं है, वह तो पन्थायी है और यदि कोई कहे कि ब्रह्माग्निमें हवन ही साधन है, दैवयज्ञ साधन नहीं है, तो वह भी पन्थायी है। असलमें व्यापक दृष्टि तो यह हुई कि यदि कोई अनेकतामें हवन कर रहा है-दैव यज्ञ कर रहा है, सूर्यको अर्घ्य दे रहा है, अग्निमें हवन कर रहा है, जलमें दूध चढ़ा रहा है, वायुमें प्राणका हवन कर रहा है-तो वह भी साधन है और यदि कोई यह चिन्तन कर रहा है कि एक अद्वितीय ब्रह्ममें द्वैत नामकी वस्तु ही नहीं है-तो यह भी साधन है। पन्थायीका, मतवादीका लक्षण यह है कि वह एक साधनका समर्थन करता है और दूसरे साधनका खण्डन करता है। पन्थायी कौन? कि जो रामको तो ईश्वर माने और कृष्णको ईश्वर न माने और जो कृष्णको तो ईश्वर माने और रामको ईश्वर न माने; कि जो राम-कृष्णको तो ईश्वर माने परन्तु निराकार ईश्वरको न माने या जो निराकारको ही माने राम-कृष्णको न माने। साधनका दृष्टिकोण बड़ा विचित्र, बड़ा अद्भुत है। आप देखो, एक साथ हम गीताकी दो अर्द्धाली पढ़ते हैं-

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।। (4.26)

आपने कभी इस श्लोकपर ध्यान नहीं दिया है, तो दीजिये-एकमें कहते हैं कि कान, नाक, आँख, मुँह, हाथ, पाँव सबको संयमकी आगमें हवन कर दो और दूसरेमें कहते हैं कि-'शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति'-कानसे सुनो, आँखसे देखो, नाकसे सूँघो, जीभसे स्वाद लो,

त्वचासे छूओ, हाथसे करो और पाँवसे चलो और यह यज्ञ हो जायेगा! एकमें कहते हैं कि सब समेटकर बैठो तब यज्ञ है और एकमें कहते हैं कि सब इन्द्रियोंसे विषय ग्रहण करो तब यज्ञ है। देखो, जहाँ एक ही आचार्य है, जहाँ एक ही किताब है, जहाँ एक ही पूजा-पद्धति है-वहाँ रुचि-भेद, स्वाद-भेद, व्यक्ति-भेद, प्रकृति-भेदपर विचार करके सबके लिए साधनकी सामग्री कहाँ है? वही तो पंथ है। सबको ही नमाज पढ़नी पड़े, तब तो इस्लाम राज्य हो जाये और सबको सन्ध्या-वन्दन करना पड़े तो ब्राह्मण-राज्य हो जाये। बोले-कोई नमाज भी पढ़ेगा, कोई सन्ध्या-वन्दन भी करेगा, कोई प्रार्थना भी करेगा, कोई काली आकृति रखेगा, कोई गोरी आकृति रखेगा, कोई नाच-गाकर भजन करेगा और कोई आँख बन्द करके भजन करेगा-एक दूसरेको काटनेका किसीको कोई हक नहीं है। गीता उसको भजनके बारेमें कितना उदार बनाती है, आप देखो! आपने अगर इस लाइनपर ध्यान न दिया हो, तो फिरसे दे लीजिये-

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।।

इन्द्रिय है आग, कान है हवनकुण्ड, उसमें आप शब्दका हवन कीजिये-यह आपका साधन है; आँख है हवनकुण्ड, उसमें आप रूपका हवन कीजिये-यह आपका साधन है; यह जिह्वा है हवन-कुण्ड, इसपर आप रसका हवन कीजिये-यह साधन है; यह आपकी रुचिके अनुसार नहीं है, आप इसके अर्थी नहीं हैं तो त्याग कर दीजिये, आप इसमें समर्थ नहीं हैं, तो त्याग कर दीजिये, अगर इसको आप समझते नहीं हैं, तो त्याग कर दीजिये, आपके गुरुने इसके लिए मना कर दिया है, तो इसका त्याग कर दीजिये-चार ही तो दशा हैं त्यागकी-अर्थी न हों, समर्थी न हों, विद्वान् न हों, शास्त्र या गुरुसे आपके लिए निषिद्ध हों। और यदि आप अर्थी हैं (चाहते हैं) करनेका सामर्थ्य भी है (सामर्थी है), स्वयं समझते हैं (विद्वान् हैं) और आपके लिए मना नहीं किया गया है, तो आइये, आप इसको कीजिये। अर्थी समर्थी विद्वान् 'शास्त्रेणायपर्युदस्त' अच्छा! बोले-

श्रोत्रादीनिन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति-

संयमकी आग है-संयमका अग्निकुण्ड है और उसमें हवन करना है इन्द्रियोंका। इन्द्रियोंका हवन कैसे करना चाहिए-आप केवल नासिकाग्रपर दृष्टि रखिये-आपको थोड़े दिनोंके बाद गन्ध सम्विद् हो आयेगी। गन्धके संयममें आप अपनी नासिका हवन कर दीजिये। रूपकी संविदामें आप आँखका हवन कर दीजिये-आपको रंग-बिरंगा रूप दिखेगा। आपको नाना-प्रकारके रस मालूम पड़ेंगे। यदि रसकी संविद्में आप रसनाका हवन करेंगे-इसका मतलब क्या निकलेगा कि यह जो एक शरीरमें आपकी पाँच इन्द्रियाँ बनी हैं, दस इन्द्रियाँ बनी हैं, इनका पंचतन्मात्राओंमें हवन हो जायेगा, और जब पंचतन्मात्राओंमें हवन हो जायेगा तब ये व्यक्तिगत नहीं रहेंगी-यह साधना हो गयीं।

अच्छा देखो, आप शब्दकी साधना सुनो-कभी शब्दकी साधना सुनी है आपने? ॐ...., रा....म, सो....हं-यह कानकी वृत्तिको सूक्ष्म करके अन्तर्नादका श्रवण कीजिये। 'कीनाराम' एक पंथ है बनारसमें-होगा तो बहुत जगहपर, वहाँ उनकी जन्मभूमि है, हमारे गाँवसे कोई आठ-दस मील दूर होगा। रामगढ़ उनकी जन्मभूमि है, लीलाभूमि है। बड़े-बड़े चमत्कारके स्थान वहाँ बने हुए हैं-तो वे नाभिसे साधन प्रारम्भ करते हैं-मणिपूरकसे; शब्दकी साधना करें, स्पर्शकी करें। यह जो हवा-प्राणवायु भीतर जाती है और इससे जो पेट फूलता-पटकता है, उसपर ध्यान रखिये, वह स्पर्शकी साधना हो जायेगी। वहाँसे पहले साँय-साँय, साँय-साँय, साँय-साँयकी ध्वनि होती है फिर राम-रामकी। इन ध्वनियोंपर ध्यान रखें, तो वह शब्दकी साधना हो जाती है। यह आपकी जानकारीके लिए बताते हैं। इसलिए बताते हैं कि आप जब कोई नयी बात सुनते हैं और उसके पीछे दौड़ते हैं-आपकी निष्ठा ही टूट जाती है। आप इष्ट-निष्ठ हैं, कि ध्यान-निष्ठ हैं, कि मन्त्र-निष्ठ हैं, कि गुरु-निष्ठ हैं-आपकी श्रद्धा जो है वह छूट जाती है। गुरु लोग तो कहते हैं कि हम झकझोर रहे हैं, मगर इसका मतलब होता है कि तुमको डावाँडोल कर रहे हैं।

तो देखो, गीतामें एक साधना यह है कि इन्द्रियोंका संयम करो; दूसरी साधना यह है कि इन्द्रियोंको विषय दो। भक्तोंकी साधना हृदयसे प्रारम्भ होती है, कीनारामियोंकी साधना मणिपूरक चक्रसे प्रारम्भ होती है, राधा-स्वामियोंकी साधना आज्ञाचक्रसे प्रारम्भ होती है। तान्त्रिकोंकी साधना

मूलाधारसे प्रारम्भ होकर सहस्त्रारकी तरफ चलती है–आगे निकलती है और ऊपर भी जाती है। उनके लोक हैं, उनके अगम लोक हैं, उनके सत्य लोक हैं–अद्भुत–अद्भुत हैं। एक साधनामें आप गुदाके पास जो मूलाधार चक्र है वहाँसे ऊपर उठेंगे कुण्डलनीमें, और सहस्त्रारमें जाकर गुरुसे एक होंगे और गुरुकी अनुभूतिसे आपकी अनुभूति एक होगी, और दूसरी एक साधना देखो–जीभसे प्रारम्भ होगी–वैखरी वाणी से.......रा.......म, रा.......म, रा......म–जीभमें-से गलेमें जायेंगे, गलेसे कलेजेमें जायेंगे, कलेजेसे नाभि (मणिपूरक) में जायेंगे, नाभिमें-से स्वाधिष्ठानमें जायेंगे, स्वाधिष्ठानसे मूलाधारमें–दूसरे शब्दोंमें वैखरीवाणीसे मध्यमामें, मध्यमासे पश्यन्तीमें, पश्यन्तीसे परावाक्में और मूलाधारमें परमात्माकी प्राप्ति हो जायेगी।

अभी हमारे पास एक विद्वान्ने चिट्ठी लिखी कि महाराज, एक जगह लिखा है कि ऊपरकी ओर जायेंगे–सिरमें, तो परमात्माकी प्राप्ति होगी और एक जगह लिखा है कि मुँहमें-से जब नीचे जायेंगे–मूलाधारमें, तो वहाँ परमात्माकी प्राप्ति होगी। तो आप बताओ कि असलमें परमात्मा रहता कहाँ है? सिरमें रहता है, कि मूलाधारमें? यह प्रश्न आया था। अब आप देखो, आप लोग तो इतने जानकार हैं कि हँसते हैं और वह तो बड़ा विद्वान् था दोनोंको जानता था और उसके मनमें यह प्रश्न उठ गया कि ईश्वर कहाँ? भक्तोंका कहना कि हृदयमें रहता है, तान्त्रिकोंका कहना है कि सिरमें रहता है, परा–वाक्के उपासकोंका कहना है कि मूलाधारमें रहता है–एकका कहना है कि मणिपूरकमें रहता है। अब कहो तो हम और बतावें आपको। एक पंथ ऐसा है जिसमें पाँवके अँगूठेमें परमात्माका ध्यान होता है। उस पंथमें भी गुरु होते हैं, उसमें चेले होते हैं, उनकी परम्परा चलती है–आप कहेंगे कि हे राम! पाँवके अँगूठेमें भगवान्! इसकी भी एक संगति है कि देवता जो हैं, उनके हमारे शरीरमें अलग–अलग स्थान हैं। जैसे हाथका देवता इन्द्र हैं, आँखका सूर्य हैं, वाणीका देवता अग्नि हैं, पाँवके देवता विष्णु हैं, जैसे सूर्य का ध्यान करना हो तो नेत्रकी उपाधिसे ध्यान करते हैं वैसे ही विष्णुका ध्यान करना हो तो पाँवकी उपाधिसे करते हैं; क्योंकि सबको वही धारण करता है–धारक है।

यह सब बात तो आपको हम इसलिए बताते हैं कि आप अपनी निष्ठासे बिल्कुल च्युत न हों। आपका गुरु बदलनेके लिए जब कोई आता है तब वह आपको नीचे गिराता है, आपका मन्त्र बदलने आता है तब वह आपको नीचे गिराता है स्वार्थ–वश कि यह हमारे मन्त्रका जप करे, यह हमारे इष्टका ध्यान करे, यह हमको अपना गुरु बना ले–वह ऐसा करता है। क्या आप उसके स्वार्थको नहीं पहचानते हैं? जहाँ वह अपने फायदेके लिए काम करता है वहाँ आपकी भलाईका ख्याल मुख्य कैसे हो सकता है? तरह–तरहकी साधनाएँ हैं–आप जैसी कहें वैसी हम आपको सुना दें; लेकिन आपको ये ज्यादा न मालूम पड़े, तो ही अच्छा है क्योंकि अधकचरे लोगोंमें ऐसी जानकारीसे अपने साधनमें निष्ठा टूटती है।

हम राजस्थानमें थे–भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारसे बात हो रही थी, तो कोई नहरुआ रोगकी चर्चा आयी मैंने उनसे पूछा–भाईजी, नहरुआ रोग क्या होता है? तो बोले–आपको मालूम नहीं है? मैंने कहा कि नहीं! तो बोले कि अच्छा मालूम नहीं है तो आप इसको मालूम मत कीजिये, क्योंकि जिसको ज्यादा रोगका बहम हो जाता है वह जब अकेलेमें बैठता है तब यही देखता है कि हमारे शरीरमें यह रोग कहीं है तो नहीं! माने एकान्तमें रोगका चिन्तन करने लगता है। रोगोंके बारेमें जिसको ज्यादा जानकारी होती है उसमें अपनेमें रोगका आध्यारोप हो जाता। यदि आप ऐसे–ऐसे पन्थोंका वर्णन सुनेंगे, जो संग्रहके होते हैं, भोगके होते हैं, कर्मकाण्डके होते हैं–तो आपमें भी किसी–न–किसी पन्थका अध्यारोप हो जायेगा और आपकी अपनी साधना छूट जायेगी।

हम उँगुलीपर आपको गिना सकते हैं–हमको 100 पंथोंसे ज्यादाकी जानकारी है। हमने 16-17 वर्षकी उम्रमें ही यह सब साधनाकी जानकारी प्राप्त की थी–इन पंथोंके मन्त्र क्या हैं, इष्ट क्या हैं और साधनाकी पद्धति क्या है–वह सब मैंने रटा था–जैसे बच्चे लोग किताब रटते हैं। आपको एक न्यायका पंथ बताते हैं–आपके जीवनमें दुःख है कि नहीं? सीधी बात है! बोले, दुःख तो है! तो देखो, यह दुःख कैसे मिटेगा? एक बात पहले ही आपको सुनाते हैं कि जबतक शरीर रहेगा तबतक दुःख रहेगा। कोई शरीरधारी हो और उसके जीवनमें दुःख न हो ऐसा होना शक्य नहीं है।

उसको गर्मी लगेगी, उसको सर्दी लगेगी, किसी दिन खूनकी चाल तेज हो जायेगी, किसी दिन कम हो जायेगी। शरीरधारी हो और दुःखी न हो ऐसा होना शक्य नहीं है। इसलिए जो लोग यह चाहते हैं कि हमारे जीवनमें किसी प्रकारका दुःख न रहे वे अविवेकी हैं-यह उपाधि हमसे ले लो। हम डिग्री, यह टाइटिल आपको मिल गयी। यदि आप यह चाहते हैं कि हमारे जीवनमें किसी तरहका दुःख कभी रहे ही नहीं तो यह पहली गलती है। 'तांस्तितिक्षस्व भारत'-थोड़ी सर्दी-गर्मी सहनेकी आदत डालो-

यह जो आपके जीवनमें दुःख आता है यह ऐसा होता है कि पहले दिन तो आपको ऐसा लगेगा कि जैसे पहाड़ गिर पड़ा सिरपर और दूसरे दिन मालूम पड़ेगा कि नहीं, इसमें कुछ ज्यादा बोझ नहीं है और पाँच-सात दिनके बाद फिर वह दुःख अपने आप चला जायेगा। आप दुःखको पालिये मत, रखनेकी कोशिश मत कीजिये। जबतक यह शरीर है तबतक आपके जीवनमें दुःख आवेगा, रोग भी आवेगा, आपके मनके विपरीत काम भी होंगे, गर्मी भी लगेगी, सर्दी भी लगेगी-सबको सहते चलो!

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तंतिक्षस्व भारत।।
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।।

(2-14,15)

मैं जो बोल रहा हूँ वह आपको यदि साधना नहीं मालूम पड़ती हो तो मैं शाप भी दे सकता हूँ। क्या शाप दे सकते हो? यह कि अगर मेरी बात आपको साधना नहीं मालूम पड़ती है तो कोई दूसरी साधना भी आपके जीवनको कभी सुखी नहीं कर सकती। यदि आप सुख और दुःखको दिन और रातकी तरह काटते हुए नहीं चलेंगे और सोचेंगे कि जीवनमें कभी दुःख आवे ही नहीं तो आप सदैव दुःखी ही रहेंगे क्योंकि जबतक मनुष्यका शरीर रहेगा तबतक दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती। इस लाचारीको हटानेके लिए श्रीशंकराचार्यजीने दुःखको दो भागोंमें बाँट दिया है-एक भ्रमजन्य दुःख और दूसरा दोषजन्य दुःख। परन्तु न्याय पंथके आचार्य गौतम मुनिका कहना है कि जितने दुःख होते हैं उनमें कोई-न-कोई दोष है-दोषसे ही दुःख होता है! दुःख होता है शरीरमें और शरीरमें दुःख दोषसे आता है। तो दोष कैसा? किसी वैद्यसे जाकर पूछो, तो वह बतावेगा कि बात, पित्त, कफ़-इन तीनोंमें-से एक दोष, या दो दोष, या तीनों दोष आपके शरीरमें उभर गये हैं, विषम हो गये हैं। शरीरमें जो रोग होता है वह वात, पित्त, कफकी विषमतासे होता है। एक ऐसा कि आपने अपने व्यवहारसे दुश्मन बना लिये हैं, आपने कभी उनका नुकसान किया है, अब वे कभी कोई ऐसा काम कर देते हैं, कभी ऐसी बात बोल देते हैं कि आपके मनमें दुःख हो जाता है। इसमें वाणीका दोष है। बोले-आपके मनमें ही कोई दोष हो सकता है। उसके तीन नाम हैं-राग, द्वेष और मोह। दुःख आता है आपकी अशुभ प्रविृत्तिसे, और सुख आता है आपकी शुभ प्रवृत्तिसे, परन्तु उस शुभ प्रवृत्ति और अशुभ प्रवृत्तिका मूल है राग-द्वेष। जैसे वैद्योंने वात-पित्त-कफ़को त्रिदोष माना है वैसे ही न्याय-पंथमें अन्तःकरणका त्रिदोष होता है।

राग, द्वेष और मोह। बाहरकी चीजोंसे, बाहरके व्यक्तियोंसे, बाहरके स्थानोंसे, बाहरकी परिस्थियोंसे राग होता है और द्वेष भी होता है। राग मीठा जहर है, वह आपको मीठा खिला-खिलाकर मारता है और द्वेष कड़वा जहर है-आपके दिलको जला-जलाकर दुःख देता है। और एक मोह होता है-यह तीसरा दोष है। मोह होता है शरीरसे और शरीरके काम आनेवाली चीजोंसे प्रवृत्तिके मूलमें ये तीन दोष हैं। जबतक हमारी प्रवृत्तिमें दोष नहीं है, तबतक वह प्रवृत्ति दुःखद नहीं हो सकती। आप अपने दोषको पहचानिये।

एक बात है, हम आपको पाँच मिनटके लिए कोई साधन बता दें, तो आपमें-से बहुत लोग उसको करना शुरू कर देंगे-यह हमको मालूम है-एक बार प्रेम-कुटीरमें मैंने सुनाया था कि आप पलंगपर लेट जाइये और मन-ही-मन शरीरके विभाग कर लीजिये-पाँवसे लेकर गुदा-पर्यन्त पृथिवीका विभाग है-और उसके ऊपर-मूत्रेन्द्रिय-पर्यन्त जलका विभाग है। तो मन-ही-मन मिट्टीको आने दीजिये पानीमें; और वहाँसे नाभि तक अग्निका विभाग है, फिर उसको अग्निमें लीन कर लीजिये; और उसके बाद फिर हृदय तक वायुका विभाग है-उसको वायुमें आने दीजिये; और फिर

उसके ऊपर आकाशका विभाग है कण्ठ तक, उसको वहाँ आने दीजिये; और उसके ऊपर मनका विभाग है–आँखमें, नाकमें, कानमें, जीभमें, त्वचामें, कपोलमें–तो सबको ले आइये मनमें और मनको शान्तकर लेटे-ही-लेटे आपको नींद आवे, तो आ जाने दीजिये, सो जाइये और फिर जब सबेरे नींद टूटे–या वायुमें, वायुमें-से अग्निमें, अग्निमें-से जलमें, जलमें-से पृथिवीमें और फिर सारे शरीरमें फिरसे प्रवेश कीजिये, कायदेसे। सोते समय कायदेसे सोइये और जागते समय कायदेसे जागिये। हम समझते हैं कि जितने लोगोंने इस साधनके बारेमें मुझसे लिखकर या जबानी प्रश्न किया उतना दूसरे किसी साधनके बारेमें नहीं किया। क्यों? क्योंकि एक तो यह साधन सोकर करनेका है–नहानेका झगड़ा ही नहीं है, पलंगपर लेटे-लेटे हो जाता है और मान लो पलंगपर नींद भी आ जाये लेटे-लेटे तो उसमें कोई आपत्ति नहीं है। नींदके लिए मैंने कहा था कि छह महीने यदि आप ऐसी नींद लेंगे, तो वह नींद ही आपकी समाधि हो जायेगी–कायदेसे नींद लीजिये और कायदेसे जागिये, आपकी निद्रा समाधि हो जायेगी। तो इस साधनके बारेमें लोगोंने बहुत प्रश्न किया, बड़ी जिज्ञासा हुई लोगोंको। हम जानबूझकर एक बात आपको कहना चाहते हैं कि जब हम आपको कहते हैं कि आप मानसिक तपस्या कीजिये तो मानसिक तपस्या चौबीसों घण्टे करनी पड़ेगी।–आप देख लो गीतामें–

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।। (17.16)

'भाव संशुद्धिः'–जब हम कहेंगे कि एक ऐसी साधना करो, जो आपके जीवनमें चौबीसों घण्टे रहे–जैसे आप एक ऐसे जीवनका व्रत लें, जैसा एक ब्राह्मण चाहता है कि हम जिन्दगी भर भस्म लगावेंगे, जिन्दगी भर पवित्र वेष-भूषामें रहेंगे, जिन्दगी भर यज्ञोपवित पहनेंगे–तो इस व्रतसे ही तुम्हारी भावसे शुद्धि होकर मानसिक तपस्या हो जायेगी। परन्तु आजकल तो तुम्हारी पोशाक रोज बदलती रहती है–वस्त्र पहननेका ढंग भी बदलता रहता है! एक फैशन पहले था कि नाभि न दिखे, अब यह फैशन आ गया कि नाभि दीखनी ही चाहिए नहीं तो वह आधुनिक नहीं है! अब देखो, भारतीय-संस्कृतिमें इसका नियम है कि पोशाक जो हम पहनें, चाहे स्त्री पहने या पुरुष पहने–उसमें नाभि नहीं दिखनी चाहिए–धोती पहनें तो नाभिसे ऊपर पहने और साड़ी पहनें तो नाभिसे ऊपर पहनें। भारतीय-संस्कृतिने यह नियम ही कर दिया–फैशन तो कभी नीचे जायेगा और कभी ऊपर जायेगा, परन्तु धर्मकी जो मर्यादा है वह तो एक रूपमें रहेगी। धर्मसे भाव शुद्ध होता है। 'मनः प्रसादः'–जीवनमें मनुष्यको कभी रोना आता है, कभी हँसना आता है–तो कहते हैं नहीं भाई–'मनःप्रसादः'–आपके चेहरेको देखकर मालूम पड़ना चाहिए कि आप खुश हैं–प्रसन्न हैं–आपका चेहरा आपके अन्तर-मनका दर्पण होता है। भीतरके कामक्रोधादि विकार तथा प्रसन्नता-अप्रसन्नताकी छाया आपके मुखपर आती अवश्य है। जो तुम्हारे बारेमें कहा जाता है कहा जाने दो, जो होता है सो होने दो और जो कुछ तुम्हारे बारेमें कहीं भी बोला जाता है उसको बोला जाने दो–तुम अपने चित्तको क्षुद्र बातोंपर जो आज आयीं और गयीं और कल और नयी आवेंगी–क्यों टिकाते हो। अपने मनको सदा प्रसन्न रखो। 'सौम्यत्वं'–यह गीता श्रीकृष्णका पंथ है। सौम्यत्वंका अर्थ क्या होता है? 'सोम' माने चन्द्रमा–जैसे चन्द्रमा सबको आह्लादकी किरण देता है–एक बार उसकी ओर देखो–विरही-से-विरही देखते हैं और संयोगी लोग भी देखते हैं–आहा–क्या चाँदनी है और क्या नदीका तट है और क्या शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु है–समाधि लगानेके लिए भी है और संसारका विषय-भोग करनेके लिए भी है–सबको मजा देता है चन्द्रमा–इसलिए उसके–जैसे स्वभाववालेको कहते हैं सौम्य और इस गुणको कहते हैं–सौम्यत्व। अतः 'सौम्यत्वम्' माने वह स्वभाव जिससे सबको रस मिले। 'मौनं'–यह मानसिक तपस्या है वाणीकी तपस्या नहीं है, अतः मौनंका अर्थ है कि वह बात मत बोलो जो बोलनेकी नहीं है। अपने मनमें वह बात आवे कि क्यों?

'भावसंशुद्धिः'=यह मत ख्याल करो कि आदमी शुद्ध हो, यह ख्याल करो कि हमारा भाव शुद्ध हो। हम तो महाराज थक गये अभ्यास करते-करते हमारा शरीर पवित्र रहे। अभी तो आपलोग नया-नया अभ्यास करते हैं, परन्तु अपनी बेरुखी आपको क्या सुनावें–नौ वर्षकी उम्रमें क्षत्रियके हाथका भोजन करना स्वीकार नहीं किया था; बचपनमें हमने सिला कपड़ा पहनकर कभी भोजन किया है, इसका हमको

बिल्कुल स्मरण ही नहीं है–चौकेमें, पाटेपर बैठकर, हाथ-पाँव धोकर बिना सिला कपड़ा पहनकर ही हमेशा खाते थे! परन्तु हमने करके देख लिया कि बाहरकी पवित्रतासे अथवा बाहरकी परिस्थितिको सुधारकर यदि हम पवित्र या सुखी होना चाहते हैं, तो यह स्वयं ही एक बोझ हो जायेगा, भाव-संशुद्धि करनी चाहिए।

यह मानसिक तप चौबीस घंटेकी साधना है। आप पाँच मिनट माला फेर लेंगे, आप थोड़ा पानी अपने शरीरपर छिड़क लेंगे, थोड़ी देर पीठकी रीढ़ सीधी करके बैठ लेंगें परन्तु यह साधन तो देखो–यह श्रीकृष्णका साधन है–'मनः प्रसादः'–आपका मन निर्मल रहे, किसीको हानि न पहुँचावे, किसीको मुहब्बतसे रंगीन न हो निर्मल हो–बिल्कुल स्वच्छ–उसमें बुलबुले न उठते हों, फेन न उठते हों–जैसे सरोवरका जल निर्मल होता है ऐसा आपका मन निर्मल रहे (मनःप्रसाद)। आप सबके लिए सुखकी एक किरण एक मुस्कान बिखेर दीजिये–(सौम्यत्वं)। दूसरेके बुरेकी बात अपने मनमें हों तो आत्मविनिग्रह कीजिये। भाव सबके प्रति शुद्ध हो–(भावसंशुद्धिः) देखो, हम न्यायका पन्थ आपको सुनाते हैं। जीवन में कफ, वात-पित्त विषम नहीं होनेसे शरीर निरोग होगा ऐसा वैद्य कहते हैं! वात-पित्त-कफ आपके शरीरमें रहें–परन्तु तौलकर रहें, बिल्कुल कोई ऊँचा-नीचा न हो, ऐसा होना मुश्किल है।

इस तरह न्याय पन्थ कहता है कि आपके मनमें रागादि दोष हैं और यह जो दुःख आता है वह शरीरमें आता है और वह आता है–अशुभ-प्रवृत्तिसे और अशुभ-प्रवृत्ति आती है–दोषसे; पर अब देखो, अब एक साधनकी बात आपको सुनाते हैं–आखिरी बात वही तो सुनानी है। वे कहते हैं कि आपको जीवनमें जितने दोष हैं वे सब भ्रम-ज्ञानसे हैं, अविद्यासे हैं, मिथ्या ज्ञानसे हैं–उसका नाम गौतममुनिने 'मिथ्या ज्ञान' रखा है।

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।

दोष जितने हैं वे सारे-के-सारे भ्रमज्ञानसे हैं, माने मिथ्याज्ञानसे हैं। हमारे बचपनमें यूरोपीय दर्शनकी कोई पुस्तक नागरी प्रचारिणी सभासे छपी थी और महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा (पटना) ने उसका संग्रह किया था। उसमें एक यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया था कि मनुष्यको यदि बिल्कुल ठीक-ठीक ज्ञान हो तो वह ज्ञानके विपरीत आचरण नहीं करेगा–बड़ी अद्भुत बात है। ऐसे लिखा था कि यदि आपके पीनेके लिए कोई एक गिलास शर्बत लाता है और आपको शंका है कि इसमें जहर मिला है तो वह नहीं पीयेंगे। शर्बत पीनेमें मीठा लगता है, देखनेमें सुन्दर रंगीन है, लानेवाला भी बड़ा मीठा प्यारा आदमी लगता है, गिलास भी सोनेका है, परन्तु यदि आपको शंका है कि इसमें जहर मिला है तब तो लानेवालेको पीट भी सकते हैं, गिलासको फेंक सकते हैं, शर्बतको गिरा सकते हैं, पुलिसमें मुकदमा दायर कर सकते हैं। अब, महात्मा कहते हैं कि इसमें जहर मिला है, शास्त्र कहते हैं कि इसमें जहर मिला है, बुजुर्ग कहते हैं कि इसमें जहर मिला है और फिर हम इसको पीते जा रहे हैं। तो, इसका कारण क्या है? तो बोले, इसमें जहर है–यह अभी आपको अच्छी तरह ज्ञान नहीं हुआ है, आपके ज्ञानमें कमी है। हमारे जीवनके सारे दुःख, सारी अशुभ प्रवृत्तियाँ–सारे राग-द्वेष-मोह–ये मिट सकते हैं। कैसे मिट सकते हैं? कि ज्ञानसे–

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।

(4.28)

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।

(4.34)

इसका अर्थ है कि ये कह रहे हैं कि बुद्धि ठीक हो–बुद्धिमें जो भ्रान्तियाँ हैं कि इस वस्तुके बिना हम ठीक नहीं रह सकते, इस व्यक्तिके बिना हम ठीक नहीं रह सकते, ऐसा रहेगा तो हम ठीक नहीं रह सकते–ये जो बुद्धिमें भ्रान्तियाँ है–यह दूर होनी चाहिए। आप किस साधनकी चर्चा करते हैं? क्या आप चाहते हैं कि हम आपको सर्वाङ्गासन सिखायें। हम आपको उष्ट्रासन सिखायें आप यही चाहते हैं ना? कुक्कुटासन सिखायें? हम स्वयं 35-36 आसनके अभ्यस्त थे। एक समय ऐसा था जब खूब मजेसे हम ये 35-36 आसन कर लेते थे–हमको उसका रहस्य मालूम है और वे कैसे फायदा करते हैं हमको यह भी मालूम है। आप यह सोचते हैं कि हमको

उष्ट्रासन, कुक्कुटासन, सर्पासन या शवासन बतायें–उसका नाम साधन है? साधनका रहस्य हम जानते हैं वह हम आपको बताते हैं–बुद्धिमें जो भ्रम है, मिथ्या ज्ञान है–बुद्धिका दोष जब मिटेगा तब आपके जीवनमें-से राग-द्वेष-मोहकी निवृत्ति होगी–पहले बुद्धिका दोष मिटना चाहिए, समझौता होना चाहिए, विवेक आना चाहिए और जब दोष मिटना चाहिए, समझौता होना चाहिए, विवेक आना चाहिए और जब दोष मिटेगा तब अशुभ प्रवृत्ति मिटेगी और तब मनमें जो बारम्बार दुःख होता है सो दुःख मिटेगा। और जो दुःख त्रैधातुक हैं, उनकी निवृत्ति होगी–उनमें जो प्राकृत्त हैं और त्रैधातुक हैं उनकी तो हो जायेगी तितिक्षा माने उनको आप सह गुजरेंगे; और जो मानसिक दोष हैं–भ्रम-ज्ञान मिट जानेसे मानसिक दोषोंकी जड़ें कट जायेंगी। यह साधन न्यायका साधन है और आप गीतामें पढ़ते हैं–

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।।
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।।

(4-35-36)

आप पापी है, पाप आपसे हुआ है, इस बातकी परवाह नहीं है, आइये, आइये इस समझदारीकी नावपर बैठिये–'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव'–ज्ञानप्लवेनैव माने ज्ञानकी नाव–समझदारीकी नाव पर बैठ जाइये–हम नासमझ बनानेवाला साधन नहीं जानते–जिससे आपका ज्ञान ही छिन्न-भिन्न हो जाय, नष्ट-भ्रष्ट हो जाय–आपकी बुद्धि आपके काबूमें न रहे, ऐसा साधन हमको नहीं मालूम है।

प्रवचन : 17

अन्तःकरणशुद्धि आवश्यक है

जब हम साधनका नाम लेते हैं तब उसमें कुछ छोड़ना और कुछ पकड़ना–ये दोनों बात सामने आती हैं। साधन माने अधिकारी पुरुष, एक साध्यके लिए, वस्तुकी प्राप्तिके लिए प्रयत्नपूर्वक जो कोई काम करे सो साधन। माने यह नहीं होता कि जो हो जाय सो हो जाय, जो हो गया सो हो गया–संयोगपर वस्तुको छोड़ देनेका नाम साधन नहीं होता है, अपनी ओरसे प्रयत्न करके जो हम चाहते हैं उसको प्राप्त करना इसका नाम साधन होता है। किसी चमत्कार या चमत्कारी शक्तिकी प्राप्तिके उपायका नाम भी आध्यात्मिक साधन नहीं होता है। चमत्कार जितने होते हैं–यह आप नोट कर लो–वे सब अन्जान आदमीके लिए होते हैं–जानकार आदमीके लिए चमत्कार नहीं होता। वह होता तो सब वैज्ञानिक और प्राकृत नियमानुसार ही है पर एक आदमी जो समझता नहीं है तो उसको चमत्कार मानता है और एक आदमी जो समझता है उसको चमत्कार नहीं मानता, उसको स्वाभाविक मानता है। और अन्जान लोगोंकी–बेवकूफ लोगोंकी नजरमें तो सब कुछ चमत्कार ही है।

हम बच्चे थे तब अपने बाबाके साथ कचहरीमें जाया करते थे। हम गाँवके लोग शहरी दाव-पेच नहीं जानते थे। वहाँ एक आदमी आँखकी दवा बेचता–एक गिलास पानी मँगाता और उसमें जरा-सी दवा डाल देता जिसमें तुरन्त वह पानी कट जाता और उसका गंदलापन, मैल अलग हो जाता और पानी साफ हो जाता। फिर वह कहता–देखो, क्या चमत्कार है, पानीमें डालते ही मैल एक तरफ हो जाता है और स्वच्छ पानी एक ओर रह जाता है, सो आँखमें यदि यह दवा डाली जायेगी तो आँखका मैल भी ऐसे ही कट जायेगा–माड़ा कट जायेगा, मोतियाबिन्द कट जोयगा। उसकी यह बात

सुनकर गाँवके लोग बड़े चमत्कृत होते। अब महाराज, वह बात कुछ नहीं थी, केवल नींबूकी टाटरी थी जिसे वह आँखकी दवाके नामसे बेचता था। हम अन्जान लोगोंके लिए वही बहुत बड़ा चमत्कार था। ऐसे ही जो लोग आध्यात्मिक क्षेत्रमें नहीं हैं उनको यह मालूम नहीं है कि भूत-प्रेत वाला चमत्कार क्या होता है-यक्षिणी, साँपिनी, डाकिनीवाला चमत्कार क्या होता है-अपनी मानसिक शक्तिसे चमत्कार कैसा होता है, दूसरेकी आँख बाँधकर चमत्कार कैसा होता है, चालाकीका चमत्कार कैसा होता है, इसको सामान्य लोग नहीं समझते हैं। उनके लिए तो सोलहों धान बाइस पसेरी होता है!

अब आओ आपको एक अध्यात्मकी बात सुनाते हैं। अध्यात्मकी बात यह है कि जब आप कर्म-साधनाको स्वीकार करेंगे तो उसमें भक्तिकी आवश्यकता पड़ेगी। भक्ति माने भाग-विभाग यह काम करना और यह काम नहीं करना। जब आप कर्ममें उचित-अनुचितका विभाग-भाग-भक्ति करोगे तब उचित कर्मके प्रति भक्ति होगी और अनुचित कर्मका त्याग होगा। दो हिस्से करने पड़ेंगे कर्मके अच्छे कर्म और बुरे कर्म; और संस्कृत-भाषामें इसीका नाम 'भक्ति' है। भक्ति माने अच्छे कर्मका बुरे कर्मका विभाग करके अच्छे कर्म करना और बुरे कर्म न करना-यह भक्ति है, एक भाव है साधनका। जैसे, ब्याह करना हो तो किस लड़की-लड़केसे करेंगे और किससे नहीं करेंगे पहले दो वर्गमें छाँटना पड़ेगा और फिर जिससे करेंगे उसमें-से भी एकको छाँट लेना पड़ेगा। ऐसे ही देखो जब हम उपासना करते हैं तब एक इष्टको छाँट लेनेकी जरूर पड़ती है और अपने इष्टके सिवाय दूसरेको छोड़ देना पड़ता है और इसीका नाम भक्ति होता है।

कर्ममें भी भक्ति होती है, उपासनामें भी भक्ति होती है और ध्यानमें भी भक्ति होती है। ध्यानमें क्या भक्ति होती है कि यह हमारा ध्येय है-ध्यान करने योग्य है और इसको हम अपने दिलमें बसा लेंगे और बाकी सब निकाल देंगे-ध्येयाकार (इष्टाकार) वृत्तिके सिवाय और किसीका ध्यान नहीं करेंगे। विवेकमें भी भक्ति है कि द्रष्टा और दृश्यका विवेक करके दृश्यको छोड़ देंगे और अपने द्रष्टा-स्वरूपमें बैठेंगे। तो विवेकमें द्रष्टाकी भक्ति है और दृश्यकी अभक्ति है; उपासना और योगमें ईश्वरकी भक्ति है और प्रपञ्चकी अभक्ति है अथवा इष्टकी भक्ति है अनिष्टका परित्याग है; कर्म-साधनोंमें उचित कर्मकी भक्ति है और अनुचित कर्मकी अभक्ति है।

जिसको हम ज्ञान (तत्त्वज्ञान) बोलते हैं उस ज्ञान-साधनामें इन भक्तियोंमें-से कोई भक्ति नहीं है। ज्ञान माने उचित-कर्म और अनुचित-कर्म, इष्ट और अनिष्ट, प्रत्यक्ष और परोक्ष, प्रत्यक्ष और अपरोक्ष व्यावहारिक आत्मा-सबको एक ही सिरेसे जो प्रकाशित करता है-उसका नाम होता है ज्ञान 'प्रतिबोधविदितं मतम्।' फूलको आप जानते हैं उसमें ज्ञान ही फूलको प्रकाशित कर रहा है; स्त्रीको आप जानते हैं-ज्ञान ही स्त्रीके आकारको प्रकाशित कर रहा है और सच-पूछो तो स्त्री-आकार, पुरुष-आकार, पुष्पाकार, घटाकार, पटाकार, मठाकार वह आकार भी ज्ञानसे कुछ जुदा हो ऐसी बात नहीं है, ज्ञानसे जुदा कुछ है ही नहीं; ज्ञानसे जो जुदा होगा उसका ज्ञान ही नहीं हो सकता और अज्ञानकी कोई सत्ता ही नहीं है। ज्ञानसे जुदा तो जुदापनेकी भी सत्ता नहीं है। इसलिए जो ज्ञान है वह स्वयं विभाग-शून्य होता है। स्वयं विभाग-शून्य होनेके कारण वह अपने और परायेका भी विभाजन नहीं करता है।

जहाँ पकड़ना और छोड़ना है वहाँ भक्ति है और चाहे भाग हो चाहे अभाग हो, मालूम ही वह ज्ञानसे पड़ता है। ज्ञान यह बता देगा कि यह हाथ जोड़ना है और यह घूँसा तानना है। धर्म संस्कारसे संस्कृत, उपासना-संस्कारसे संस्कृत, योग-संस्कारसे संस्कृत ज्ञानको समझना माने संस्कार मिलाकर ज्ञानको समझना दूसरी चीज है और संस्कार रहित ज्ञानको पहचानना दूसरी बात है क्योंकि संस्कार भी तो बिना ज्ञानके मालूम नहीं पड़ता है। अन्य साधनोंकी अपेक्षा ज्ञानका एक विलक्षण चमत्कार यह है कि वह वस्तुको ज्यों-का-त्यों प्रकाशित करता है, रँगता नहीं है। कर्म वस्तुको बनाता-बिगाड़ता है, रँगता है, उपासना वस्तुको भावसे रँगती है। ध्यान वस्तुको रँगता है, पर ज्ञान वस्तुको रँगता नहीं, वह उसको ज्यों-का-त्यों दिखा देता है। अब हम साधनकी बात आपको सुनाते हैं।

एक पक्ष यह है कि यदि आप अपने ज्ञानके अनुसार अच्छे कर्म करनेकी प्रतिज्ञा अपने जीवनमें ले लें और अपनी दृष्टिसे जो बुरा है उसको

छोड़ दें तो इससे आपकी बुद्धि शुद्ध होगी-ऐसा कर्मवादियोंका कहना है। आपकी बुद्धिमें जो उत्तम है उसको करते चलिये और आपकी बुद्धिमें जो निम्नकोटिका है उसका परित्याग करते चलिये और आप देखेंगे कि एक दिन आपके पास उत्तम-ही-उत्तम है, सब बुराइयाँ पीछे छूट गयी हैं। अच्छा, उपासकोंका यह कहना है कि कर्म वासनासे होता है-जिसको कुछ पाना है उसीको कुछ करना है, जिसको कुछ पाना नहीं है उसको कुछ करना भी नहीं है। हमारे जीवनमें अशुद्ध कर्म इसलिए होता है कि हम बाहरकी दूसरी चीजोंको पाना चाहते हैं, रखना चाहते हैं, सटाना चाहते हैं-कुछको सटाना चाहते हैं, कुछको हटाना चाहते हैं-तो, जब वासना तीव्र होती है तब हम बेईमानीसे भी किसी चीजको सटाना चाहते हैं और किसी चीजको हटाना चाहते हैं। जुआके खेलमें भी लोग ऐसी बेईमानी कर लेते हैं!

यह जो हटाने-सटाने, पाने-खानेके राग-द्वेष अपने चित्तमें हैं यह बड़ा दु:ख देता है। हमलोग ईश्वरको गाली दे सकते हैं, कर्मको गाली दे सकते हैं, प्रकृतिको गाली दे सकते हैं, परन्तु, अपने मनमें जो राग-द्वेष हैं, अपने मनमें जो वासनाएँ बैठी हैं काश उनको गाली दे सकते! तो, उपासना करनेसे क्या होता है कि अपने मनकी जो वासनाएँ हैं वे सिमटकर ईश्वरमें लग जाती हैं। हम एक सज्जनको जानते हैं-वे बड़े विद्वान् हैं अच्छा समझते हैं, झूठ-सच समझते हैं, लेकिन उनके मनको पकड़नेकी भोगनेकी जो आदत है वह उनसे छूटती नहीं है। परन्तु यदि हम भगवान्‌की भक्ति करने लगें-माने संसारके विषयोंको अपना इष्ट न बनाकर, सम्पूर्ण संसारका जो मूल कारण है भगवान् उसको अपना इष्ट बना लें और उससे प्रेम करने लगें तो हमारी संसारी वासनाएँ छूट जायेंगी और दु:ख भी छूट जायेगा। संसारमें जितना दु:ख है उसका कारण अपना मन है। अपनी वासना है हीरा, सोना चाँदी धरती, मकान किसीको दु:ख नहीं देता है, उसके प्रति जो 'मेरापन' है वह दु:ख देता है। जब यह ख्याल होता है कि मेरे घरमें आग लगी है तबका अपना मन देखना, और जब थोड़ी देरके बाद पता चलता है कि आग मेरे घरमें नहीं लगी थी पड़ोसीके घरमें लगी थी तो अपने मनको देखना। तो, आगने दु:ख दिया कि घरने दु:ख दिया कि मेरेपनने दु:ख दिया? असलमें मेरापन ही दु:ख देता है। तो, भक्तिका अर्थ यह होता है कि 'मेरा' तो हो जाय भगवान् और अपना 'मैं' हो जाय भगवान्‌का-मेराका पेट भगवान्‌से भर दीजिये। भक्तका संन्यास यही है कि यह घड़ी मेरी नहीं है। कि तब? मेरा तो भगवान् है। मेराका पेट घड़ीसे मत भरिये, भरिये भगवान्‌से। भरिये-मेरा तो भगवान् है। एक बात आप देखो-भगवान् जब आपका मेरा होगा तब पहली बात वह कभी आपके साथ विश्वासघात नहीं करेगा, दूसरी बात कभी उससे वियोग नहीं होगा-आपको छोड़कर वह कभी विदेश यात्रा नहीं करेगा और तीसरी बात मरेगा भी नहीं-न वह बिछुड़ेगा, न मरेगा और न वह आपके साथ विश्वासघात करेगा, क्योंकि वह तो आपका अन्तरात्मा ही है।

इस प्रकार कर्मवादियोंका कहना है कि हम अच्छे-अच्छे कर्म करेंगे, बुरे छोड़ देंगे और पवित्र हो जायेंगे और उपासकोंका कहना है कि अपने मनको भगवान्‌के साथ जोड़े बिना किसीका अन्त:करण पवित्र नहीं हो सकता। योगियोंका यह कहना है कि बाहर जो होता है सो होने दो, तुम अपने मनको शान्त करके घरमें बैठ जाओ अपनी स्थिति ही अन्त:करणकी शुद्धि है। वेदान्तियोंकी तो तीन लोकसे मथुरा न्यारी है। वेदान्तियोंका कहना यह है कि जो लोग यह कहते हैं कि ज्ञान (विवेक) होनेपर सब ठीक हो जायेगा-भगवान् मिलने पर सब ठीक हो जायेगा यह बात ठीक है; विवेकी और योगीराज भी ठीक कर लेंगे, भगवान् भी ठीक कर देंगे, और एक कर्मी-धर्मी भी सब ठीक कर लेगा, परन्तु (अद्वैत) ज्ञान होनेपर स्वाभाविक ही सब दोष दूर हो जायेंगे और सब सद्‌गुण अपने जीवनमें आ जायेंगे। यह दृश्य है, यह द्रष्टा है-इसका नाम सांख्य विवेक है; यह जगत् है यह ईश्वर है-इसका नाम भक्ति विवेक है; यह अच्छा है यह बुरा है-इसका नाम कर्म-विवेक है; तो विवेक होनेपर वैराग्य आता है और जीवनमें शम, दम, उपरति, तितिक्षा आवेंगे-यह विवेकी पहचान है, परन्तु, तत्त्वज्ञानमें यह कमजोरी है कि वह जबतक नहीं होता है तब तक ही चाहे जो कुछ कर लो-चाहे धर्मानुष्ठान करके अन्त:करण शुद्ध कर लो; उपासना करके ईश्वरका दर्शन कर लो; योगाभ्यास करके द्रष्टाके स्वरूपमें अवस्थित हो जाओ, लेकिन तत्त्वज्ञान होने पर तो प्रयोजन ही पूरा हो जायेगा, अत: उस समय एक अन्त:करणको कैसा बनाना, कैसा रखना-इसकी कोई प्रासङ्गिता नहीं रहती; क्योंकि उस अन्त:करणमें

मैं-मेरा रहता ही नहीं है। यही सबसे बढ़िया चमत्कार तत्त्वज्ञानका है और वह खूब युक्तिसंगत है तथा मजेदार है।

एक सज्जन आये थे हमारे पास, वे कोई वैज्ञानिक खोज करते हैं। उन्होंने सुनाया कि महाराज, हमको वैज्ञानिक खोज करनेमें वैराग्यकी जरूरत पड़ती है-अगर दूसरी ओरसे राग-द्वेष न छोड़ें तो हमसे वस्तुको समझनेमें गल्ती हो जाती है। उन्होंने बताया कि हमको लेबोरेटरीमें बैठकर, प्रयोगशालामें बैठकर जब वस्तुकी शोध करनी पड़ती है तब हमारे मनमें शान्ति (शम) रहनी चाहिए, हमारी इन्द्रियोंमें दम रहना चाहिए, दूसरे कर्मोंसे उपरति होनी चाहिए, हमें सफलता मिलेगी, यह श्रद्धा-विश्वास होना चाहिए, जो दुःख-सुख आवे, सर्दी-गर्मी लगे सब सहना पड़ता है-शोध करनेके लिए कभी ठण्डे कमरेमें जाना पड़ता है और कभी गर्मी बढ़ाकर शोध करनी पड़ती है-गर्मी-सर्दी सहनी पड़ती है और अपने मनको हर तरहसे समाहित करना पड़ता है। तो जब वैज्ञानिक शोध भी शम-दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधानके साथ ही होती है तब यदि हमें परमेश्वरकी शोध करनी है, तो ये अनिवार्य होंगे ही। मतलब यह कि किसी भी वस्तुका सच्चा ज्ञान प्राप्त करनेके लिए हमारा अन्तःकरण राग-द्वेषसे युक्त नहीं होना चाहिए। अगर तुम बाहर क्या हो रहा है इसी चक्करमें पड़े रहोगे तो भीतरकी जो वस्तु है वह समझमें नहीं आवेगी। एक आदमीको बैठाना है अपने द्रष्टा-स्वरूपमें और वह कहे कि हम कर्ता होकर ही बैठेंगे, तो कर्तापन और द्रष्टापन दोनों एक साथ नहीं रहते हैं। यह आपको मालूम होना चाहिए। और उपनिषद्में यही भेद है कि तन्त्र केवल मोक्षका ही साधन नहीं है, भोग-मोक्ष दोनोंका साधन है और उसमें कर्म और ज्ञान दोनोंका सम्मिश्रण है; जब कि उपनिषद् शुद्ध ज्ञानका प्रतिपादन करता है और वस्तुके स्वरूपको लखाता है। तो, ज्ञान होनेपर एक अन्तःकरणमें मैं-मेरा नहीं रहता है इसलिए वह शुद्ध नहीं होता, शुद्ध किया नहीं जा सकता क्योंकि प्रयोजनकी पूर्ति हो जानेसे अन्तःकरण मिथ्या हो जाता है, अन्तःकरण बाधित हो जाता है-अन्तःकरणसे राग-द्वेष भी बाधित (मिथ्या) हो जाते हैं।

इसलिए, तत्त्वज्ञान होनेके पहले ही अन्तःकरणको शुद्ध करनेकी प्रणाली है। हमारे महात्माओंने यह परम्परा चलायी कि अन्तःकरणको पहले शुद्ध करो। समर्थ रामदास लिख रहे थे रामायण। जब रामायण लिख लेते तब हनुमानजीको सुनाते। उन्होंने अशोक-वाटिकाका समाचार लिखा। हनुमानजी गये थे अशोकवाटिकामें। वहाँ भारी सरोवर था। अशोक वृक्षके सामने जानकीजी बैठी हुई थीं। सरोवरमें श्वेत कमल खिले हुए थे। हनुमानजी बोल पड़े कि राम-राम, वहाँ तो सब रक्त कमल थे, श्वेत कमल तो थे ही नहीं। दोनोंमें विवाद हुआ। रामदासका कहना था कि श्वेत-कमल थे और हनुमानजीका कहना था कि रक्त कमल थे! बोले-अच्छा चलो, सीता मातासे पूछ लें! अब सीता-मातासे जब पूछा गया तब उन्होंने कहा कि वहाँ सब श्वेत कमल ही थे-माने रामदासकी बात सही और हनुमानजीकी बात गलत। तो हनुमानजीने कहा कि माँ, मैंने अपनी आँखोंसे देखा था कि वहाँ सब रक्त कमल थे, माँ बोली-हाँ हनुमान, जो तुमने देखा सो भी ठीक है, क्योंकि उस समय तुम्हारे मनमें जो राक्षसोंके प्रति क्रोध था उसके कारण तुम्हारी आँखें लाल हो गयी थीं, तो तुम्हारी आँखोंकी लालिमाके कारण तुम्हें वहाँके श्वेत कमल भी लाल दिख रहे थे। तो, जब हमारा अन्तःकरण लाल-लाल हो जाता है, काला-काला हो जाता है तो सारी दुनिया लाल-लाल दिखने लग जाती है और सारी दुनिया काली-काली दिखने लग जाती है। मैंने किसी अखबारमें पढ़ा था कि एक गायको हरी घास खानेकी आदत पड़ गयी थी, तो सूखी घास जब पीली हो जाये तो वह नहीं खाये। तो मालिकने क्या किया कि गायकी आँखके नापका एक बड़ा-सा चश्मा बनवाया और उसकी आँखपर लगा दिया, तो इससे उसको पीली घास भी हरी-हरी दिखने लगी। एक बार हम मोटरमें बैठकर जा रहे थे दिल्लीमें, तो सारा मुहल्ला ही हरा-हरा दिखे। मैंने पूछा-यह कौन-सा मुहल्ला है, मैंने तो कभी यह देखा नहीं। पता चला-मोटरके जो शीशे हैं वे हरे हैं। तो, असलमें इस दुनियामें जो कुछ दीखता है वह हमारे अन्तःकरणकी बनावटके अनुसार दीखता है। यदि हमें सत्यका दर्शन करना है, परमार्थका दर्शन करना है तो हमारे अन्तःकरणमें जो वासनाके, संस्कारके, राग-द्वेषके रंग चढ़े हुए हैं उनकी शुद्धि करें नहीं तो महाराज सब एक हो जायेगा देखो, यदि मनमें

काम-वासना प्रबल होगी और कोई कहने लगेगा कि सब ईश्वरका रूप है तो पहले यही कहेगा कि जैसे हमारी स्त्री वैसे ही दूसरेकी स्त्री और अन्तःकरण शुद्ध करके देखेगा कि सबमें एक ईश्वर है तो यह आवेगा कि जो ईश्वर हमारे अन्दर है वही दूसरेके तो उसमें कामनाकी आवश्यकता ही कहाँ रही? आप देखो-मैं ईश्वर और तुम ईश्वर-तो कामनाकी आवश्यकता ही नहीं है? एक ही चीज है।

एक सज्जन हमको बताते थे कि स्वामीजी, हमको ब्रह्मज्ञान हो गया, कुछ थोड़ी-सी कसर है! तो मैंने पूछा कि भई, तुम्हारे ब्रह्मज्ञानमें क्या कसर रह गयी? तो उन्होंने बताया कि 'महाराज, इतनी समता तो हमारे अन्दर आ गयी है कि सबकी चीज हमारी है, जरा-सी कसर यह रह गयी है कि जो अपनी चीज है वह सबकी नहीं मालूम पड़ती। तो, हमको इसकी कोई जल्दी भी नहीं है, इस जन्ममें नहीं तो अगले जन्ममें यह कसर भी मिट जायेगी।' तो, वासना-रहित जो ज्ञान होता है उसकी रूप-रेखा बदल जाती है। इसलिए अपने अन्तःकरणको शुद्ध करके ही असलियतका, सत्यका, परमार्थका ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

प्रवचन : 18

दैवी सम्पदा अर्जित कीजिये-1

(अभय, सत्त्व संशुद्धि)

प्रजापतिकी सन्तान दो प्रकारकी हैं-एक देवता और एक दैत्य। ब्रह्माकी सृष्टिमें दो विसर्ग, दो स्वभाव ही हैं-दैव और आसुर। प्रकृतिके अनुसार विकृति होती है और विकृतिसे आकृति बनती है, आकृतिमें संस्कृति होती है और फिर संस्कृतिसे आकृति बनती है। तो जो केवल विकृतिजन्य आकृतिसे ही युक्त होते हैं, जिनकी आकृतिमें संस्कृतिका सन्निवेश नहीं है ये दैत्य हो जाते हैं और जिनकी विकृतिमें संस्कृतिका सन्निवेश होकर आकृति बनती है वे देवता हो जाते हैं। आप देखो कि प्रकृति-सर्गमें यह विकृति और संस्कृतिकी धारा भी अनादि है-विकार और संस्कार, संस्कार और विकार। आप जानते ही हैं कि यदि मूलमें एक वस्तु हो तो बिना किसी क्रिया-प्रक्रियाके इसमें विशेष-विशेष, भिन्न-भिन्न आकृतियोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। जैसे मिट्टी होती है एक, तो जब हवा चलेगी तब उड़ाकर कहीं गड्ढा बना देगी और कहीं टीला बना देगी। तो यह ऊँचा होनेकी आकृति और कहीं नीचा होनेकी आकृति वायुके कर्मके बिना मिट्टीमें नहीं हो सकती। ऐसे ही जल एक है और उसमें तरङ्गें उठती हैं तो कोई-न-कोई उसमें गतिका हेतु होना चाहिए। इसी प्रकार एक ब्रह्ममें जो अनेकताका स्फुरण है, एक प्रकृतिमें जो आकृतियोंका भेद है वह हुए बिना स्वाभाविक विकृति अथवा पृथक् संस्कृतिके नहीं हो सकती। एकके अनेक होनेका कोई-न-कोई निमित्त होना चाहिए। एक उपादान है और उसको अनेक रूपमें दिखानेवाला या बनानेवाला निमित्त होना चाहिए। एक ब्रह्ममें देवता-दानवका स्फुरण क्यों हो रहा है-एक प्रकृतिमें सत्य और तमस्‌का भेद स्फुरण क्यों हो रहा है-एक प्रकारके पंचभूतमें ये लाखों प्रकारकी आकृतियाँ क्यों बनती हैं, तो इसके लिए पूर्व-पूर्व संस्कृति और पूर्व-पूर्व विकृति जो है वही इनके भेदमें हेतु है; और जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता (और तत्त्वज्ञान भी कैसा कि 'अहमेव तत्त्वम्' (=मैं ही तत्त्व हूँ) यह

नहीं कि 'इदं तत्त्वम्' (=यह तत्त्व है)) नवीन-नवीन उत्पत्तिकी प्रक्रिया शान्त नहीं हो सकती। क्योंकि 'इदं'के रूपमें यदि तत्त्व है तो वह कैसा भी है उसको 'अहं'से क्या सम्बन्ध? और सत् सत्यम्-यदि ऐसा ज्ञान होवे कि वह सत्य है तो वह रहे वैसा, उसका 'अहं'के साथ क्या सम्बन्ध? इसलिए तत्त्वका ज्ञान जब 'अहं'के रूपमें होता है-अहमेव तत्त्वं-तब तत्त्वका जो स्वरूप है, जो स्वभाव है वही अहंका स्वरूप और अहंका स्वभाव है-यह ज्ञान हो जाता है और विकृति और संस्कृतिसे वह मुक्त हो जाता है। असलमें मैं विकृति-संस्कृतिसे मुक्त ही हूँ-जैसे तत्त्व विकृति और संस्कृतिसे विनिर्मुक्त दोनोंसे पृथक् है वैसे ही तत्त्वरूप होनेके कारण मैं संस्कृति और विकृतिसे पृथक् हूँ-यह अनुभव, यह बोध आता है।

अब आपको थोड़ी संस्कृतिकी बात सुनाता हूँ-जैसे आप हरिणके बच्चेको देखकर जानते हैं कि इसके माँ-बाप हरिण हैं और गायकी बछियाको देखकर जानते हैं कि इसके माँ-बाप गाय-बैल हैं, उसी प्रकार मनुष्यकी मलिनता रूप जो प्रकृति है उसको देखकर मालूम पड़ता है कि यह कहाँसे आया है-स्वर्गसे या नरकसे। भागवतमें ऐसे प्रसङ्ग अनेक आते हैं। जो लोग समझते हैं कि जीवनमें धर्म-संस्कारकी जरूरत नहीं है, वे जीवनके रहस्यको समझते ही नहीं है। बिना धर्म-संस्कारके विकारकी निवृत्ति नहीं हो सकती-

मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति।
भविष्यत्तस्य राजेन्द्र मनुष्यस्य तथैव च।।

मनुष्यका जो वर्तमान मन है वह इस बातको चिल्ला-चिल्लाकर बताता है कि हम पहले क्या थे-'मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति:'-मनुष्य पहले क्या था इस बातकी चुगली कौन करता है कि मन। यह मनुष्य आगे चलकर क्या हो जायेगा, इसका पुनर्जन्म होगा कि नहीं, इसको कौन प्रकाशित करता है कि मन। यह मनुष्य आगे चलकर जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख प्राप्त करेगा इसको कौन बताता है कि मन। जीवन्मुक्ति आगे होगी कि नहीं इसको आजका मन बताता है। आगे आप कहाँ जायेंगे इसको कौन बताता है कि आपका मन बताता है। आप कहाँसे आये हैं यह कौन बताता है कि आपका मन बताता है।

आपने सुना होगा-दशरथजीसे सात पीढ़ी पहले एक राजा हुए थे और रावणके साथ उनका युद्ध हुआ था। इतना होनेपर भी रावणके मनमें मरनेका ख्याल बहुत भय उत्पन्न करता था। आप रावणके पौरुषकी बात सुनेंगे तो सोचेंगे बड़ा प्रबल था, पर वह बड़ा भीरु था कि कहीं हमको मारनेवाला व्यक्ति पैदा न हो जाय! उसने जब सुना कि दशरथ-कौसल्यासे हमारा मारनेवाला पैदा होगा तो उसने दशरथका और कौसल्याका अपहरण कर लिया। और दोनोंको अलग-अलग पेटीमें बन्द करके पेटियोंकी अलग-अलग नदीमें डाल दिया। अब ऐसा संयोग हुआ महाराज कि दोनों मिल गये और दोनोंका ब्याह हो गया। अब ब्याह होनेके बाद रावण क्या करे? तो उसने यह प्रयत्न किया कि ताड़का ही रामको मार डाले; यह प्रयत्न किया कि धनुष-यज्ञमें ही राम मारे जाँय, यह प्रयत्न किया कि मंथरा कैकेयीको फुसलाकर रामको घरसे निकाल दे, यह सब प्रयत्न किया रावणने और ये सारे-के-सारे प्रयत्न भयमूलक थे। यह प्रयत्न किया कि शूर्पणखा मार डाले; खर-दूषण-त्रिशरा मार डालें रामको। यह प्रयत्न किया कि कबन्ध खा जाय; यह प्रयत्न किया कि बालि मार डाले-सारे प्रयत्न रावणके भयमूलक हो गये। इसका अर्थ यह है कि रावणकी प्रकृतिमें दैवी-सम्पदा नहीं है, आसुरी सम्पदा है क्योंकि 'अभय' दैवी सम्पदाका प्रथम लक्षण है।

प्रजापतिकी सन्तान दो प्रकारकी है, एक दैवी-प्रकृतिकी और एक आसुरी-प्रकृतिकी। भय आसुरी प्रकृतिमें है! क्या हम अपने कर्त्तव्योंका निर्णय भयसे करते हैं? आज ऐसा न हो जाय, आज ऐसा न हो जाय, आज ऐसा न हो जाय? आपको रणछोड़रायका पता होगा? द्वारकानाथ भगवान् ही रणछोड़राय हैं। कैसे कि जब मथुरापर जरासंध और कालयवनने चढ़ाई की तब वे भगे। अब श्रीकृष्ण यदि भयवश भगे तो उनके अन्दर आसुरी सम्पत्ति होनी चाहिए नहीं तो उनके भगनेका हेतु क्या था? आपको शास्त्रकी एक बात सुनाता हूँ-इसका मूल हमारे ग्रन्थोंमें है। पंचायत जुड़ी यदुवंशियोंकी। उद्धवजी भी उसमें आये और उग्रसेन जी भी उसमें उपस्थित हुए-और यह तय हुआ कि कालयवनका मुकाबला करना चाहिए और यह भी हुआ कि जरासन्धपर पहले ही चढ़ाई कर दें और उसको मार डालें-दोनों सलाह

आयी। तो श्रीकृष्ण भगवान्ने क्या कहा सो देखो—वे बोले कि युद्ध या तो तब किया जाता है जब कोई हमारे राष्ट्रपर आक्रमण करे और या तो तब किया जाता है जब वह हमारे सब सिद्धान्तोंका नाश कर रहा हो, क्योंकि सब सिद्धान्त बिगड़ जानेसे राष्ट्रका नाश हो जाता है। युद्ध होगा तो जनताके जन-धनकी अत्यधिक हानि होगी। यह जरासन्ध हमारे ऊपर आक्रमण करता है तो हमारे राष्ट्रको अपने वशमें करनेके लिए नहीं करता है—यह तो हमारे ही राष्ट्रका है; और हमारे सिद्धान्तसे भी उसका मतभेद नहीं है। वह तो उसका हमसे व्यक्तिगत द्वेष है; क्योंकि हमने उसके जँवाई कंसको मार दिया था इसलिए वह हमको नीचा दिखाना चाहता है। हमारे लिए हमारी इतनी जनता मरे मगधसे लेकर मथुरा तक और हजारों-हजारों लोग मरें यह ठीक नहीं है। वह आक्रमण करे और उसका मुकाबला किया जाये यह बात ठीक है पर इससे युद्ध तबतक बन्द नहीं होगा जब तक हम उसको हराते रहेंगे। यह युद्ध तब बन्द होगा जब हम हार जायेंगे। श्रीकृष्णने कहा—यह युद्ध बन्द ही तब होगा जब जरासन्ध एक बार हमको नीचा दिखानेका सुख ले लेगा। तब क्या करना चाहिए? बोले—कि लोक-कल्याणके लिए हम नीचा देखनेको तैयार हैं।—जरासन्ध न मथुराका राज्य चाहता है, न धन चाहता है, न लोगोंको मारना चाहता है, वह केवल यही चाहता है कि जो हमारे जँवाईका दुश्मन है उसको हम नीचा दिखायें। और जब तक हम उसको हराते रहेंगे तबतक वह मानेगा नहीं और हम हार जायेंगे तो वह खुश हो जायेगा। आपको यह बात इसलिए सुनायी कि श्रीकृष्णके भागनेमें भय हेतु नहीं है। देखो—'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि'—यह श्रुतिवचन है। जो श्रीकृष्णका स्मरण करता है वह निर्भय हो जाता है—फिर उनके स्वयंके सम्बन्धमें तो भयकी कल्पना क्या? तो, हम दैवी-परम्परामें हैं—इसका बोध करनेके लिए हमारे अन्दर कितना अभय है—यह परीक्षाकी कसौटी होती है। आप देखो, गीतामें जहाँ दैवी-सम्पदाका वर्णन है वहाँ अभय सबसे पहले है : अभयं सत्त्वसंशुद्धिः (16.1)। पुराणोंमें देवताओंका वर्णन आता है कि इन्द्र ऐसा है, वरुण ऐसा है, कुबेर ऐसा है परन्तु गीतामें देवताओंका वर्णन नहीं है गीतामें दैवी सम्पदाका वर्णन है जिसके द्वारा एक मनुष्य देवता हो सकता है। दैवी-सम्पदा क्या होती है कि आप कोई भी निश्चय अपने जीवनमें करो, किसीसे भयभीत होकर मत करो। अभयं-अभय दैवी-सम्पदा, डरो मत—'कालहूँ डरे न रण रघुवंशी'—रघुवंशी युद्धभूमिमें कालसे भी नहीं डरते हैं। मनुष्य देवता सरीखा हो जाता है उस समय जिस सयम वह अभयमें प्रतिष्ठित होता है—हमारे सब साधनोंका अन्त अभयपदकी प्राप्तिमें है और अन्तमें जिस अभयपदको प्राप्त होना है उसका साधन भी अभयका अभ्यास है। पूर्व-पूर्व जन्ममें जो अभयताके संस्कार हैं वे नैसर्गिक रूपसे मनुष्यके जीवनमें प्रकट होते हैं तब बोलते हैं—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च। (16-6)
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।। (16-5)

मा शुचः—शोक मत करो। देखो, मा शुचः अन्तमें भी है—मोक्षयिष्यामि मा शुचः—मा शुचः, नानुशोचन्ति पण्डिताः—माने जहाँ दैवी सम्पदा है वहाँ भी शोक नहीं है, जहाँ भगवान्की शरणागति है वहाँ भी शोक नहीं है और जहाँ पाण्डित्य या समझदारी है वहाँ भी शोक नहीं है—

मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।

शोक मत करो। यदि तुम पवित्र हो तो शोक करनेका कोई कारण नहीं; भगवान्का सहारा है तो शोक करनेका कोई कारण नहीं और आत्मा-परमात्माकी एकताका ज्ञान है तो भी शोक करनेका कोई कारण नहीं—मा शुचः। तुम्हें दैवी सम्पत्ति मिली है।

दैवी-सम्पत्ति माने क्या होता है? तो सम्पत्ति माने तो आप जानते हैं—हीरा-मोती, सोना-चाँदी, मकान-नोट, जमीन-महल—इनका नाम सम्पत्ति होता है। बोले नहीं, यहाँ हम इस सम्पत्तिकी चर्चा नहीं कर रहे हैं, हम जीवनकी जो सम्पदा है उसकी चर्चा कर रहे हैं—वह है अभय। अभयका अर्थ है कि आपके मनमें कभी डरकी उत्पत्ति न हो। बोले, महाराज, रोज तो ऐसी-ऐसी दस बातें आती हैं सामने। चारों वेदमें एक गायत्री है और महाभारतमें चार गायत्री हैं—उनमेंसे एक आपको सुनाता हूँ—

शोकस्थानि सहस्राणि भयस्थानि शतानि च।
दिवसे दिवसे मूढ आविशन्ति न पण्डितम्।।

पण्डितका और मूर्खका लक्षण क्या है? दिन भरमें हजार बार शोक-

ग्रस्त होना और हजार बार डरना–यह मूढ़का लक्षण है, पण्डितका लक्षण यह नहीं है। यह महाभारतकी एक गायत्री है।

मूढ़के जीवनमें शोक और भय बारम्बार आते रहते हैं और विद्वान्के जीवनमें शोक और भय नहीं आते हैं! यह आवेश है–भूतावेश है। एक दिन हमसे किसीने पूछा कि स्वामीजी आप उदास क्यों हैं? मैंने कहा कि क्या करें भाई, आज हमको जरा गुस्सा आ गया इसलिए हम उदास हैं। उसने पूछा किसके ऊपर आया, क्यों आया, आखिर कुछ बताइये तो सही! मैंने कहा कि देखो, आज तो आया है और कल फिर उतर ही जायेगा–उतरे बिना तो रहेगा नहीं, तो यदि आज हम यह बता देंगे कि हमको किसपर गुस्सा आया है और क्यों आया है तो वह तो हमारा दुश्मन हो जायेगा और फिर कल हमको उसीसे प्रेमका व्यवहार करना है, तो हुआ सो हुआ, जिसने जो कुछ किया सो किया–हम गुस्सा अपना जाहिर करके अपना एक दुश्मन दुनियामें और क्यों बढ़ावें? क्या जरूरत है हमको नाम बतानेकी? तो, देखो, यह तो पक्का ही है कि कल वह गुस्सा नहीं रहेगा, क्योंकि मनुष्य क्रोधमें, गुस्सेमें अपना जीवन नहीं व्यतीत कर सकता। मुस्कान जीवनका सहज स्वभाव है, यह चेतनका स्फुरण है, यह आनन्दका विलास है, यह सत्ताकी आकृति है–इसमें भय बाहरसे आता है, इसमें शोक बाहरसे आता है–ये मेहमान हैं, गुण्डे हैं जो हमारे घरमें घुस आये हैं। तो नारायण! बाहरसे आयी हुई चीज आगन्तुक होती है और भीतर रहनेवाली चीज स्वाभाविक होती है अपनी सत्ता स्वाभाविक है, अपनी चेतना, चेतनापना स्वाभाविक है, अपना आनन्दपना स्वाभाविक है और शोक, भय क्रोध आदि सब आगन्तुक हैं।

इसमें जो भय है, उस भयका सामना करनेके लिए देखो, यदि कोई भी कष्ट आपके जीवनमें आनेवाला मालूम पड़ता हो तो, यदि, आप उसका मुकाबला कर सकते हो तो कर लो और यदि नहीं कर सकते हो तो, तुम इस ढंगसे सोचो कि यह कष्ट यदि हमारे जीवन पर आ ही गुजरेगा तो इससे हमारा क्या बिगड़ेगा? हम जिन्दा तो रहेंगे ही! अर्थात् उसका मुकाबला करनेकी सोचो या उसको सह लेनेकी सोचो, पहलेसे ही उसको सहनेके लिए तैयार हो जाओ। जैसे कि देखते हैं कि बड़े जोरका बादल हो रहा है, आज तो वर्षा होगी। तो फिर क्या करते हैं कि बरसाती या छाता ले लेते हैं, या फिर उस समय घरसे बाहर निकलते ही नहीं हैं। उसी प्रकार यदि कोई बड़ा कष्ट आनेवाला दीखता है तो या उस कष्टका मुकाबला करो या तो उसको सहनेके लिए तैयार हो जाओ, भय करनेसे क्या फायदा? यह जो धड़कन बढ़ती है डरके कारण–यह क्यों? अथर्ववेदमें एक सूक्त है, उसका नाम है 'मा बिभीष' मत डर, बेटा मत डर–अभयं निर्भय चलता रह! जिसने तेरे पाँव टिकानेके लिए धरती बनायी है, आगे बढ़नेके लिए जिसने अवकाश दिया है, जो साँस लेनेके लिए हमारी नाक तक हवा खुद पहुँचा देता है–वह क्या तुम्हारी रक्षा नहीं करेगा? फिर जीवनमें भय क्यों है? तो यही दैवी–सम्पत्ति है। आप देखें–आपका 'बैंक-बैलेन्स' कितना है यह तो आपको मालूम होता है, पर यह 'अभय' की सम्पदा आपके पास कितनी है क्या इसका भी कुछ हिसाब आपके पास है? आप साबुन रखते हैं शरीरका मैल धोनेके लिए, और मनका मैल धोनेके लिए आप अपने पास कोई सम्पदा नहीं रखते! आप समझते हैं कि शरीरमें मैल लगेगा तो सब लोग देखेंगे और मनमें मैल लगेगा तो कौन देखेगा–इसलिए, मनके मैलको धोनेकी कोशिश नहीं करते हैं। तो अभयं–यह कहता है कि बाहरसे भयके जो निमित्त आवें उनका मुकाबला करो–एक सिंहकी तरह अर्थात् उनको सह लेनेका सामर्थ्य अपने जीवनमें चाहिए–यह दैवी–सम्पदा है।

यह तो हुई बात बाहरसे आनेवाले संकटकी, पर, अपने जीवनमें सफलता मिले इसके लिए कौन–सी सम्पत्ति है? वह है सत्त्व संशुद्धि! आपको गीताका नमूना ही तो बताना है ना! गीताका एक–एक शब्द ऐसा है जिस पर आप महीनों तक विचार करते रहिए और उसकी गहराई बढ़ती जायेगी, अब देखो–अभय रहोगे–कैसे रहोगे कि अगर दिलके साफ रहोगे तो निर्भय रहोगे और दिलके मैले रहोगे तो निर्भय नहीं रह सकते। जो मन–का–मैला आदमी है वह निर्भय नहीं रह सकता, वह तो यही पता लगाता रहता है कि हमारे बारेमें कौन क्या बोल रहा है, हमारे बारेमें किसका क्या ख्याल है? अरे, तुम अपने ख्यालको तो खुद पहचानते नहीं हो, दूसरा क्या बोल रहा है उसकी फिक्र करते हो। जो बोलता है सो बोलने दो, उसकी जबान है। तुमको

उसकी जीभ पकड़नेका कोई अधिकार ईश्वरकी ओरसे नहीं प्राप्त हुआ है। जो कोई, जो कुछ करता है उसको करने दो और जो कोई, जो कुछ तुम्हारे बारेमें बोलता है बोलने दो, न तुम उसके जज हो, न तुम उसके पट्टेदार हो, न तुम उसके ठेकेदार हो और न तो तुम उसके जो उसकी जबानमें कोई बात आने देनेसे रोकना चाहते हो? कौन क्या कहता है, कौन क्या करता है-जो किसीकी एकान्तकी बातको सुनना चाहता है वह साँपकी गतिको प्राप्त हो सकता है। 'सत्त्वसंशुद्धि' का अर्थ है-अपने दिलको साफ करो।

'सत्त्व' माने एक तो होता है-सत्ता-'सतोभावः सत्ता-सत्त्वसंशुद्धिः'-सत्ता क्या है इसकी खोज करो-दूसरा माने सत्त्वका होता है-सत्त्वगुण। रजोगुण और तमोगुण तुम्हारे सत्त्वगुणमें मिलने न पावें। एक और 'सत्त्व' माने होता है-अन्तःकरण-तुम्हारे अन्तःकरणमें कोई बाहरका घुसकर बैठ न जावे। अरे महाराज! ये छोकरे और छोकरियाँ जब आकरके दिलमें बैठते हैं, तब माँ-बापके प्रति कपट हो जाता है। श्रीरूप-गोस्वामीने भक्ति-रसामृत-सिन्धुमें मनके इस रहस्यका अन्वेषण किया है कि जब एक लड़कीका लड़केसे राग हुआ और लड़केका लड़कीसे राग हुआ तो दोनोंने अपने माँ-बापसे प्रथम कपट किया-बोले-नहीं भई, यह किसीको मालूम न होने पावे। तो क्या हुआ कि सत्त्वकी संशुद्धिमें यहाँ बाधा पड़ गयी। अब देखो, संसारके जो प्राणी हैं उनमें तुम 'सत्त्व' हो 'सत्त्व' हो माने मनुष्य हो, तो तुम्हारे अन्दर मानवता आनी चाहिए-इसका नाम सत्त्वसंशुद्धि हुआ। यह तो मैंने बताया कि सत्त्व माने सत्ता है, सत्त्वगुण है, अन्तःकरण है, प्राणी है, भाव है-सत्त्व माने भाव भी होता है-अपने भावको शुद्ध करना-लेकिन, हम इसका एक अभिप्राय सुनाते हैं-'क्रियाशुद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे'-जो महापुरुष होते हैं उनकी क्रियाशुद्धि उनके सत्त्वमें बसती है, उपकरणमें नहीं बसती-उपकरण माने सामग्री। जैसे सोनाका होना, धनका होना, प्रजाका अनुकूल होना, बड़ा भारी साम्राज्य होना-यह हुआ उपकरण। लेकिन मनुष्यको अपने कार्यमें सिद्धि बड़ी भारी सामग्री होनेसे नहीं मिलती, वह अपने सत्त्वकी शुद्धिसे होती है। देखो, गाँधीजीके पास क्या सामग्री थी? अकेले ही तो थे। अकेले डट गये सत्त्वके पक्षमें, अहिंसाके पक्षमें, सत्यके पक्षमें-उनको क्रियासिद्धि हुई। उनके सत्त्वसे सामग्री भी आ चलने लगे। क्यों चलने लगे? यह तो आपके कामकी बात है। बड़ा आदमी होता है उसकी बड़ी सफलता होती है, लेकिन सफलता तो सबको प्राप्त करनी पड़ती है। क्रियासिद्धि अर्थात् सफलताका निवास सत्त्वकी संशुद्धिमें है। तो सत्त्वकी संशुद्धि क्या? यदि सत्ताकी शुद्धि कहो तो सत्ता तो शुद्ध ही होती है। यदि सत्त्वगुणकी शुद्धि कहो तो इसका सफलताके साथ क्या सम्बन्ध है? फिर बोले कि 'क्रिया-सिद्धिः सत्त्वे भवति'-अन्तःकरणमें रहती है तो अन्तःकरण तो सबके होता है, प्राणी तो सब हैं। तो फिर 'सत्त्वे भवति'का अर्थ क्या होता है? कि सत्त्वका अर्थ है-धैर्य; जिसके जीवनमें तूफानमें भी खड़ा रहनेका धैर्य है, जो वर्षा भी सह सकता है, धूप भी सह सकता है, तूफानमें भी अडिग रह सकता है-जिसके जीवनमें धैर्य है उसीके जीवनमें सफलता है। धैर्य माने होता है कि विकारके निमित्त उपस्थित रहने पर भी विकार न आने पावे। ऐसा काम किया गया है कि क्रोध आ जाय, ऐसा दृश्य सामने रखा गया है कि कामकी उत्पत्ति हो जाय, ऐसा प्रलोभन है कि लोभ आ जाय-परन्तु फिर भी क्रोध न आये, काम न आये, लोभ न आये तब धैर्य है। तब धैर्य है जब कि एक आदमीने अपमान किया, गाली दी और उसने अपमान सह लिया, गाली सह ली और दिलमें बिगाड़ नहीं आने दिया। तो, असलमें सत्त्वसंशुद्धिका अर्थ है कि विकारोंके सम्मुख पराजित न होना, अपने अन्तःकरणमें अशुद्ध भावनाओंका स्पर्श न होना और यही सफलताका हेतु है! आप अपने जीवनमें यदि सफलता चाहते हैं तो बातके बदले बात मत बोलिये-वही दुःखी है जो बातके बदले बात बोलता है; किसीने यदि हमको टेढ़ी आँख दिखायी तो हम आँख ही निकाल लेंगे-यह मुहावरा आपने सुना ही होगा। अब ऐसे यदि आप आँख निकालते फिरोगे तो किसकी-किसकी आँख निकालोगे? तुम्हारी ही आँख निकल जायेगी। यदि हर पत्थरसे टकराते हुए चलेंगे तो पत्थर तो कभी खत्म होंगे नहीं, तुम्ही खत्म हो जाओगे। हम लोग बचपनमें पहले चलते थे तो रास्तेमें मिट्टीके डले मिलते थे-एक डलेसे दूसरेको मारा, दूसरेसे तीसरेको मारा ऐसे चलते थे; तो हमारे बाबा मना करते थे, डाँटते थे, ऐ, ऐसे मत चलो, कायदेसे चलो, यह क्या करते हो? हर डलेसे यदि टकराते हुए चलेंगे तो

डले तो कभी खत्म होंगे नहीं, हम खत्म हो जायेंगे। आप यह उम्मीद रखते हैं कि हम संसारके सब साँपोंको मार देंगे? आप यह ख्याल रखते हैं कि हम दुनियामें कोई बिच्छू नहीं रहने देंगे, आप यह ख्याल करते हैं कि कोई मच्छर हमारे कानके पास आकर नहीं भिनभिनायेगा? अब मच्छरों पर लगाओ दफा 144 बिच्छू पर, साँप पर, लगाओ कर्फ्यू जिसकी जैसी आदत है वह वैसे बोलेगा, जिसकी जैसी आदत है वह वैसे करेगा, तुम्हें तो अपनेको संभालना है। तो मनुष्यके जीवनमें सफलताकी कुञ्जी यह है कि वह अपनेको ठीक करे।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिः ज्ञानयोग-व्यवस्थितिः

यह दैवी-सम्पदा है-आपके पास यह सम्पत्ति है कि नहीं? आप तौलिये कि आपकी निर्भयता कितने बड़े-बड़े भयके प्रसङ्गोंमें बनी रहती है और आप कितने प्रलोभनोंमें निर्विकार रहते हैं? 'ज्ञानयोग-व्यवस्थितिः'के माने-ब्रह्मज्ञान नहीं बल्कि यह कि आपका निश्चय व्यवस्थित हो, आप संशयमें रहकर कोई काम मत कीजिये। आपका ज्ञान बाहरके आधारपर न बना हो, आपका ज्ञान बाहरका आधार हो और निश्चय बिल्कुल पक्का हो। आप यह देख लो कि आप जीव हैं कि आप ईश्वर हैं कि आप ब्रह्म हैं-कि आप अणु हैं कि आप विभु हैं। यह बात अलग है कि आपका निश्चय क्या है पर होना चाहिए वह पक्का अर्थात् आपका ज्ञान व्यवस्थित हो और योगव्यवस्थितिका अर्थ है कि उसके अनुष्ठानमें आप बिल्कुल लग गये हों। आप निर्भय होकर और जो आपके विपरीत आवे उसमें धैर्य रखते हुए, प्रलोभनोंमें न फँसते हुए, निश्चयके अनुरूप अपने कर्तव्यका पालन करते चलिये-यह आपकी दैवी-सम्पत्ति होगी।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिः ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।

यदि आप सोचते हों कि हम कोई टीका-टिप्पणी गीताकी पढ़ लेंगे और हम उसके रहस्यको पा जायेंगे, तो नहीं, पा सकेंगे; गीताका रहस्य पोथीमें नहीं है, गीताका रहस्य आपके जीवनमें है और आप अपने जीवनके साथ जितना उसको मिलावेंगे उतना उसका रहस्य खुलेगा।

★

प्रवचन : 19

दैवी सम्पदा अर्जित कीजिये-2

(दान, दम, स्वाध्याय)

मनुष्यके जीवनमें दैवी-सम्पदा आनी चाहिए। 'मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव'-भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं कि हे अर्जुन! शोक मत करो, तुम दैवी-सम्पत्तिको सामने रखकर पैदा हुए हो। दैवी सम्पदाका वर्णन करते समय प्रारम्भ किया अभयसे। भय दो तरहका होता है-एक भय आता है बाहरसे और एक भय आता है-अपने संस्कार, अपनी वासनासे। गुण्डा आता है लाठी लेकर मारनेके लिए, यह आता है भीतरसे। ये भयके दो विभाग हुए। इन दोनों भयोंको मिटानेके लिए कैसा करना चाहिए कि अपने मनमें सत्त्वमें जो वासना है उसको धोना चाहिए। तो सत्त्व संशुद्धिका अर्थ कल आपको सुनाया था कि अपने जीवनमें धैर्य होना चाहिए। जो यह समझकर यात्रा करता है कि हमारी मोटर कभी बिगड़ेगी ही नहीं वह धोखा खाता है। मोटरमें 100, 200, 500 मीलकी यात्रा करनेके लिए चले और ख्याल यह बना लिया कि रास्तेमें हमारी मोटर बिल्कुल खराब नहीं होगी, तो ऐसी कल्पना अपने चित्तमें नहीं बैठानी चाहिए, क्योंकि मोटरका बिगड़ना तो संभव ही है? तो, नहीं बिगड़ेगी यह विश्वास करके आप मत चलिये, देख लीजिये-पेट्रोल कितना हैं; पीछे जो एक अतिरिक्त पहिया रखते हैं कि कहीं बिगड़े तो बदल लेते हैं-वह है या नहीं और फिर यह सोचकर चलिये कि कोई रास्तेमें तकलीफ आना सम्भव है और हम उसका मुकाबला करते हुए आगे निकल चलेंगे, उस भयका सामना करनेकी तैयारी अपने पास होनी चाहिए! आजकल जिनके हृदयमें-'ईश्वर जो करता है उसमें हमारा मङ्गल है-ऐसे विश्वासका सम्बल नहीं है और हमारी आत्मा-अजर अमर है और वह सबको पार कर जायेगी'-यह विश्वास जिनके चित्तमें नहीं है वे बीच रास्तेमें ही भयसे ग्रस्त

हो जाते हैं। देहातमें कई बार ऐसा होता है–लोग जब यात्रा करते हैं और रास्तेमें ही अन्धेरा हो जाता है। तो बोलते हैं 'भई, आगे पता नहीं क्या भूत-प्रेत लग जाये–लौट चलो!' कहते हैं कि अब आज आगे नहीं जायेंगे, कल जायेंगे। पर हमारे अध्यात्म शास्त्रका यह कहना है कि आपके मनमें यदि भय आवे तो एक काम कीजिये सचाई क्या है इसका ज्ञान प्राप्त कर लीजिये; क्योंकि सत्यमें भय नहीं है! सत्यके अज्ञानमें ही भय है, सत्यके ज्ञानमें भय नहीं है। तो, जो बाहरसे आनेवाले भय हैं उनकी निवृत्तिके लिए जानकारीकी, ज्ञानकी जरूरत है–ज्ञानव्यवस्थितिः और जो भय भीतरसे निकलते हैं वासनाओंके कारण उनके लिए योग-व्यवस्थितिकी जरूरत है। आप जब-जब भयभीत होते होंगे, आपने देखा होगा, आपका मन उस समय चंचल रहा होगा, दृढ़ता नहीं रही होगी, मलिनता आ गयी होगी। इस प्रकार 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' के साथ 'ज्ञानयोगव्यवस्थितिः'को आप दो भागोंमें बाँट लें : भयको निवृत्त करनेके लिए क्या चाहिए कि व्यवस्थिति चाहिए और सत्त्वके शोधनके लिए क्या चाहिए कि व्यवस्थिति चाहिए और यह व्यवस्थिति दो प्रकारकी होती है–एक–ज्ञानव्यवस्थिति और एक योगव्यवस्थिति। एक तो आपको सत्यकी जानकारी होनी चाहिए और दूसरे आपके चित्तमें स्थिरता–दृढ़ता होनी चाहिए। यदि आपका चित्त स्थिर है, दृढ़ है तो आपको भय नहीं सतावेगा!

आपके जीवनका कोई लक्ष्य है? यदि आपके जीवनका कोई लक्ष्य होगा तब तो आप उसके लिए काम करेंगे और यदि आपके जीवनका लक्ष्य ही कुछ नहीं है अथवा वह पूरा हो गया है तो कर्ममें तत्परता नहीं रहेगी। असलमें जीवनमें जब–एक महान् आदर्श, एक महान् लक्ष्य प्राप्त करनेका संकल्प होता है तब हम अपने साधनमें, योग में व्यवस्थित होते हैं, दृढ़ होते हैं और जब योगमें व्यवस्थित होते हैं तब निर्भय होकर अपने मार्गमें चलते हैं। इसके लिए यदि अन्तःकरणमें यह बात है कि हमारे साथ यह भी चले और हमारे सामने वह न आवें तो जब आप किसी दूसरे को लेकर लक्ष्यकी ओर चलना चाहते हैं तो लक्ष्यकी प्राप्तिका संकल्प ही अधूरा हो जाता है। और जब यह बात रहे कि हमें कोई लक्ष्य पाना नहीं है तो हम कहाँ तक चलेंगे? तो, जब हम किसी आदर्श किसी लक्ष्यसे रहित जीवन व्यतीत करते हैं तो कहाँ हम निवृत्त हो जायेंगे कुछ पता नहीं। एक आदमी काम करता है इसलिए कि वहाँ हमारी एक प्रेयसी आती है काम करनेके लिए–रोज आफिसमें जाता है–अब प्रेयसीका विवाह हो गया, प्रेयसीकी नौकरी छूट गयी, प्रेयसीका आफिस बदल गया–अब उसको आफिसमें जानेमें कोई दिलचस्पी नहीं रही, क्योंकि दिलचस्पी उसकी कोई उत्तम कार्य करनेमें नहीं है, उस प्रेयसीके साथ बैठनेमें है, इसलिए वह कोई महान् काम नहीं कर सकता–अब वह महान् कर्तव्यसे बिल्कुल विमुख हो गया। तो सत्त्व-संशुद्धिका अर्थ होता है कि आप केवल अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए कार्य कीजिये। और फिर सत्त्वसंशुद्धिका अर्थ होता है देहमें अहं भाव मत कीजिये। 'सत्त्वसंशुद्धि'का अर्थ होता है कि जो काम आप कर रहे हैं उससे कोई संसारी वस्तु मत चाहिए, आप अपने महान् लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए कर्म कीजिये। इसके लिए जानकारी और साधन–दोनों चाहिए। 'ज्ञानयोग-व्यवस्थिति'में–ज्ञान माने जानकारी और योग माने साधन।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्। (16.1)

दान कीजिये। हम संसारी लोग जिस दृष्टिसे करते हैं उसको जब देखते हैं, तो कभी-कभी दया आती है, कभी-कभी हँसी आती है! लोग सोचते हैं कि गाँवमें यह गुण्डा रहता है, यदि ठीक-ठीक इसको देते नहीं रहेंगे तो यह उपद्रव करेगा तो यह जो भयमूलक तुष्टिकरण है किसीसे डरकर जो हम उसको खुश रखनेके लिए उसको कुछ देते हैं वह दान नहीं है। एक बात सुनाते हैं–हम भयसे देते हैं–"अमुक धर्माध्यक्षोऽहं–अमुक सरकारी कर्मचारी अहं, अमुक फर्मका मालिक अहं और अमुक ओहदे पर बैठे हुए सरकारी कर्मचारीको यह ब्लैक मार्केटोपार्जित द्रव्य, अमुक लाइसेन्स प्राप्त करनेके लिए दान कर रहा हूँ'–इस दानमें ऐसे संकल्प करते हैं। जब तक मिनिष्टरका हाथ न हो तबतक 'दान' कैसा? माने इस 'दान'का दृष्टिकोण क्या है–विज्ञापन है, यश है। यशकी प्राप्ति दूसरी चीज है, व्यापारका विज्ञापन एक दूसरी चीज है अब हम जरा धर्मके दानकी थोड़ी चर्चा कर देते हैं–भोगकी प्राप्तिके लिए दान, अर्थ प्राप्तिके लिए दान, यशकी प्राप्तिके लिए दान–इनकी चर्चा न करके हम दानकी जो एक दूसरी दिशा है उसपर आपका ध्यान खींच रहे हैं।

'दानं दमश्च यज्ञश्च'-धन कमानेमें जो दूसरोंको तकलीफ हुई है उससे हमें हिंसा-दोषकी प्राप्ति हुई है जो दूसरेके हिस्सेका धन आया है, उस दोषको मिटानेके लिए धर्मका दान होता है। एक बार मैं वृन्दावनमें था तो एक चिकित्सकने हमको एक दिन भोजनके लिए आमन्त्रित किया। भोजन कर आया। थोड़े दिनों बाद फिर बुलाया। तो हमारे सन्त कोकिल साईं थे, उन्होंने मुझसे कहा-स्वामीजी, आप इनके यहाँ बार-बार रोटी मत खाइये-मैंने पूछा क्यों? तो वे बोले कि देखो, यह दवा बेचनेमें भी बेईमानी करता है और रोगियोंकी दवा करनेमें भी बेईमानी करता है-फीस ज्यादा लेता है और दवा गलत देता है, तो उसके पास जो रोगियोंसे बेईमानी करके पैसा इकट्ठा हुआ है वह आपके शरीरमें जब आयेगा तब आपके शरीरमें रोग पैदा करेगा। इस बातको दुनियादार लोग बहुत कम समझते हैं-उनका ध्यान इधर बहुत कम जाता है कि हमारे पास पैसा आनेमें जो दूसरोंको तकलीफ पहुँचती है और अपनी तरफसे न्यायके विरुद्ध आचरण होता है, वह दोष धनके साथ आता है। तो पर-पीड़ा-कारक अन्यायोपार्जित द्रव्यके साथ जो दोष आया है हमारे धनमें, उस दोषकी निवृत्तिके लिए हम दान करते हैं-यह एक संकल्प होता है। अब यदि आपका यह विश्वास हो कि आपके घरमें जो पैसा आया है, इससे किसीको तकलीफ नहीं पहुँची है या यह विश्वास हो कि बिल्कुल ईमानदारीसे हमने इसको कमाया है तो हम आपसे कुछ नहीं कहते, आप मत कीजिये दान। परन्तु, यदि उपार्जनकी प्रणालीमें कहीं न्यायका विरोध है और दूसरेके लिए पीड़ा है तो वह द्रव्य आपके घरमें आकर सुखकी सृष्टि नहीं कर सकता! तो, दानका अर्थ होता है कि उस धनके साथ जो दोष तुम्हारे घरमें आया है उस दोषको मिटाना।

आपको सुनाया होगा मैं कभी-न-कभी दिल्लीमें एक बाबू साहब थे, जिन्होंने रातके बारह बजेके समय देखा कि खजानेमें रोशनी हो रही है, बड़ा कौतूहल हुआ। जाकर देखा-खजांची बैठा हिसाब लगा रहा था। पूछा क्यों भई, बारह बजे रातको क्या कर रहे हो? सब लोग तो चले गये। बोला-हिसाबमें कुछ गड़बड़ी हो गयी है। उन्होंने कहा-कल ठीक कर लेना। फिर पूछा-बढ़ गया है कि घट गया है? कितना घटा? घटा है तो माफ कर दो और बढ़ा है तो कल कर लेना। बोला-घटा नहीं है, बढ़ गया है और हम आज ही हिसाब इसलिए लगा रहे हैं कि पता नहीं किस गरीबका हक हमारे सरकारी कर्मचारियोंने अन्यायसे छीन लिया है। उसकी आहसे हमारे खजानेमें आग लगे, उसके पहले ही हम उसका हिस्सा अलग कर देना चाहते हैं-यह एक बात हुई।

तो दानका अभिप्राय क्या है कि धनके साथ आनेवाले दोषकी निवृत्तिके लिए अथवा धन-शुद्धिके लिए, द्रव्य-शुद्धिके लिए दान किया जाये। परन्तु, यह दृष्टिकोण धर्म-दृष्टिसे बहुत स्थूल है-बहुत मोटा-मोटी बात है! पण्डित मदनमोहन मालवीयजीने एक बात सुनायी थी-बड़े प्रभावशाली वक्ता थे, उनकी वाणीमें जैसे जादू था-कि एक ब्राह्मण आया राजाके पास कि हमें अपनी लड़कीकी शादी करनी है, हमें कुछ धन चाहिए। राजाने कहा कि महाराज, आज तो हमारे पास धन नहीं है, आपको कल हम देंगे। रातको राजा गुप्तवेशमें निकला और जाकर उसने भड़भूँजेके पास भाड़ झोंकी, मजदूरीमें चार पैसे मिले, ले आया घरमें और दूसरे दिन जब ब्राह्मण आया तो उसने वह चार पैसा उसको दे दिया! संकोचके कारण ब्राह्मणने कुछ नहीं कहा वही लेकर घर चला गया और घर जाकर अपनी पत्नीको दे दिया। पत्नीको झुंझलाहट आयी और उसने फेंक दिया पैसोंको। ऐसे वे सुनाते थे कि वे पैसे जहाँ गिरे वहाँ एक वृक्ष हो गया-उसमें हीरे-मोती फलने लगे। इस प्रकार अपनी कमाईका धन दान करना है चाहे कम हो या ज्यादा हो।

अब देखो, धर्मकी दूसरी बात आपको सुनाते हैं-श्रेय प्राप्त्यर्थ दान, धनदोषनिवृत्यर्थ दान और परिग्रह-जन्य दोष निवृत्यर्थ दान-धर्मका फल बाहर नहीं है-यह जो समझते हैं कि हमने इस सभामें भाषण किया, हम इस सभाके प्रेसीडेंट हैं, हमारा अखबारोंमें बहुत ज्यादा नाम छपेगा और दान कैसे करते हैं-जैसे किसीके पास सरोवर भरा हो-बड़ा भारी सरोवर और उसमें-से एक दूब भींगोकर दूबके द्वारा 2-5 बूँद पानी छिड़क दे-अपनी सम्पदाके हिसाबसे इतना भी दान नहीं करते हैं! कहावत है-

चोरी करें निहाय की करैं सुईको दान।
ऊपर चढ़कर देखते केतिक दूर विमान।।

अच्छा तो दानकी बात देखो अब-जहाँ आप किसीको एक गिलास पानी पिलाते हैं और खुश होते हैं कि मैंने एक प्यासेको एक गिलास पानी पिलाया और उपकारी होनेका अभिमान आपके चित्तमें आया कि हमने एक प्यासेको पानी पिलाया-आपको सच बतावें-यह धर्मका फल नहीं है। बल्कि यदि आप एक गिलास पानी किसीको पिलाओ और आपके मनमें आवे कि दुनियामें कितने प्यासे लोग हैं, कितने नङ्गे लोग हैं, कितने भूखे हैं, कितने उपेक्षित हैं, कितने बेकार हैं और हमारी सेवा कितनी छोटी है! इस तरह यदि आपको आपकी सेवाका छोटापन भासता है तब तो आपको धर्मका फल प्राप्त हुआ- अहं-भावकी निवृत्ति प्राप्त हुई और यदि आपको ऐसा लगता है कि आज हमने एक प्यासेको पानी पिला दिया हमारे बराबर कौन है! वह अभिमानकी वृद्धि आपके दुःखका हेतु बनेगी। अभिमान बढ़नेसे दुःख बढ़ता है। यह जो दिन भरमें 17 बार अपमानका अनुभव होता है-अपमान नहीं होता-अपमानका अनुभव होता है-वह होता है अभिमानकी वृद्धिके कारण और यदि एक गिलास पानी पिलाकर अभिमान करते हैं कि हमने यह किया, तो आप अपने लिए दुःखकी सृष्टि करते हैं और जिसका फल दुःख हो वह धर्म नहीं होता, वह तो अधर्म ही होता है। अधर्मका फल दुःख है और धर्मका फल सुख है। अच्छा जी, तो दानकी चर्चा आपसे करनी है-वस्तुकी प्रधानतासे दान होता है-चल-वस्तुका दान, अचल-वस्तुका दान, चल-दानमें सोना-चाँदीका दान, गाय-भैंसका दान, घोड़े-हाथीका दान, मकानका दान, भूमिका दान-यह वस्तुकी दृष्टिसे दान है-और काशीमें दान, प्रयागमें दान, हरिद्वारमें दान, बद्रीनाथमें दान-यह स्थानकी दृष्टिसे दान है और ग्रहणके दिन दान, संक्रान्तिके दिन दान, एकादशीके दिन दान-कालकी दृष्टिसे दान है और सत् पात्रको दान!

देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्। (17.20)

सबसे बढ़िया देश और सबसे बढ़िया काल दानके लिए कौन-सा होता है कि 'सत्पात्रं यत्र लभ्यते'-जिस दिन, जिस जगह आपको सत्पात्रकी प्राप्ति हो जाये! तो, इसकी भी दो दृष्टि हैं, एक धार्मिक और एक आध्यात्मिक। आजकल लोग आधिभौतिक दृष्टिसे दान करते हैं, आधिदैविक दृष्टि नहीं है। धर्मकी उत्पत्तिके लिए आधिदैविक अथवा आध्यात्मिक दृष्टिकी जरूरत पड़ती है, आधिभौतिक दृष्टिसे जो दान है उसका काम दूसरा है। तो आधिदैविक दृष्टि पहले बताते हैं-'सत्पात्रं यत्र लभ्यते'-जहाँ आपकी भगवद्बुद्धि हो जाये-आज इस गरीबके रूपमें, एक विद्वान्के रूपमें, एक महात्माके रूपमें साक्षात् भगवान् हमारे सामने आये हैं-जिस समय आपकी बुद्धिमें भगवद्भाव हो जाये वही समय सबसे श्रेष्ठ है और वही व्यक्ति सर्वश्रेष्ठ है और वही काल सबसे श्रेष्ठ है। असलमें दानके पात्र साक्षात् भगवान् हैं-इसीको आधिदैविक दृष्टि बोलते हैं। अच्छा, इस आधिदैविक दृष्टिकी क्या विशेषता है? आपको इसकी विशेषता बताते हैं-यह आपके अन्तःकरणको कैसे शुद्ध करती है-इसका गणित होता है, यह कोई भेड़िया-धँसान नहीं है। देखो, संसारका मालिक कौन है? ईश्वर। संसारकी सारी चीज किसकी है? कि भगवान्की है। तो फिर-'तेरा तुझको सौंपते क्या लागत है मोर'-जब ईश्वरको अर्पित करेंगे तब अपनेमें दातापनेका अभिमान नहीं आवेगा!

मेरा-मेरा कुछ नहीं जो कुछ है सो तोर,
तेरा तुमको सौंपते क्या लागत है मोर।

ईश्वर-दृष्टिसे समर्पण-यह दानका समर्पण-रूप है। एक ब्राह्मणको जब दान करते हैं तब क्या दृष्टिकोण होता है कि अपनी ममताको तोड़ना और दूसरेकी ममताको पैदा करना। अच्छा, ईश्वरको दान करनेमें-वस्तु मेरी नहीं है ईश्वरकी है, ईश्वरकी है, तो ईश्वरकी बुद्धिसे किसीको भी दे देना-यह समर्पण हो गया और वस्तु मेरी है और अब यह मेरी नहीं रही ब्राह्मणकी हो गयी-यह दान हो गया। और अब एक बात दानकी और सुनाते हैं आपको-मेरी नहीं है यह वस्तु परन्तु किसकी है-ईश्वरकी है कि प्रकृतिकी है कि किसी औरकी है यह हमको नहीं मालूम है पर मेरी नहीं है-यह दानका त्याग-रूप हो गया। आपको इनमें फर्क मालूम पड़ता है कि नहीं? दान माने अपनी ममता हटाकर दूसरेकी ममता पैदा करना; यह नहीं कि श्राद्धके दिन रसोइया महाराज़को बुलाया और उनको भोजन कराया, पाँच रुपये दिये और एक धोती दी और बोले कि महाराज, हमारे तो आप ही कुल-पुरोहित हो, जरा रसोई बनाते समय ध्यान रखना। यह दान दूसरा होता है-यह दान

बिलकुल गलत ढंगका है। दो तरहसे दान नष्ट होता है-एक तो अश्रद्धा आजाय देनेमें और दूसरे अपने स्वजनको, अपने ममतास्पदको दिया जाय। ब्राह्मणोंमें ऐसी रिवाज है कि जब कुछ काम करना होता है तब अपने बहनोईको या अपने जँवाईको बुला लेते हैं और बोलते हैं कि भई, ब्राह्मण हैं ये! तो ब्राह्मण तो हैं ही हैं, फिर कहते हैं कि चलो इन्हींको हम हमेशाके लिए पुरोहित बना लेते हैं-जिसको बेटी ब्याहते हैं उसीको पुरोहित बना लेते हैं-तो, यह दानकी रीति नहीं है। अच्छा, दानकी एक और रीति आपको सुनाते हैं-अपनी ममता हटाकरके दूसरेकी ममता पैदा करना और मेरी चीज नहीं है ईश्वरकी है तो अपनी भूल-भरी ममताको हटा लेना-गरीबको हम देते हैं उसके ऊपर उपकार नहीं करते हैं, ईश्वरकी वस्तु ईश्वरके बेटेको दी गयी तो उसमें मेरा क्या?

अब देखो, एक और दृष्टि दानके बारेमें देखो। यह वैराग्यकी दृष्टि है। योग-वासिष्ठके वैराग्य-प्रकरणमें यह बात है भगवान् रामचन्द्रजीके पास एक गरीब आया, बोला-हमको कुछ धन दो महाराज! बोले-भैया, तू धन क्यों चाहता है? धनमें तो बड़ी आपत्ति-विपत्ति है, मैं इसको सँभालते-सँभालते परेशान हूँ, तू यह परेशानी क्यों मोल लेता है? अच्छा, ले जा, हम तो इस परेशानीसे मुक्त हो जायेंगे।

यह वैराग्यका दृष्टिकोण है; एक धर्मका दृष्टिकोण था, एक भक्तिका दृष्टिकोण था। एक तत्त्वज्ञानका भी दृष्टिकोण होता है-दूसरी कोई वस्तु नहीं है तो क्या-अपना, क्या-पराया? यह तत्त्वज्ञानकी बात आपको इसलिए कह दी कि आपको तत्त्वज्ञानकी आदत पड़ गयी है ना, वहाँ तक बातको नहीं पहुँचावें तो आपका पेट नहीं भरेगा।

अच्छा, आओ आपको दानकी और बात सुनावें। दानपर विचार करनेके लिए जैसे कानूनके मोटे-मोटे पोथे होते हैं वैसे ही-संस्कृत-भाषामें हेमाद्रिका दान-खण्ड है-एक पुस्तक 'इतिकृत्य-कौमुदी' है और भिन्न-भिन्न-पुराण हैं-भविष्य-पुराणमें, गरुड़-पुराणमें, स्कन्द-पुराणमें दानके पृथक्-पृथक् विभाग हैं। आप देखो, हमारे चित्तमें ममताका एक क्षेत्र है। समझो कि तीन हजार फुट 'एरिया'का फ्लैट है, तो तीन हजार फुट लम्बी-चौड़ी औसतन आपकी ममता है। तो दानका अर्थ क्या होता है कि आपकी जो तीन हजार फुटपर ममता है वह दो हजार नौ सौ निन्यानबे फुटपर ममता रह जाये और एक फुट उसमें-से किसीको दे दें। तो, दान हुआ कि एक फुट आपकी ममता घट गयी। यह ममता ही दुःख देती है-पैसा दुःख नहीं देता है। आदमी मरकर दुःख नहीं देता है, मकान जलकर दुःख नहीं देता है ममता ही दुःख देती है।-बेच देनेके बाद जब मकान जल जाता है तो दुःख नहीं होता है। जब कोई चीज टूट-फूट जाती है तब पहले ही पूछते हैं-बीमा कराया था कि नहीं? बीमा कराया था तो दुःख कम होता है।-बीमाकी भी एक बात याद आगयी, आपको सुना दें-कुम्भ मेलेकी बात है। गीताप्रेसकी दुकान लगी थी। मैं भी गया था वहाँ उस मेलेमें, और गीताप्रेसकी दुकानपर ही ठहरा था। पर मैं तो अपना सामान लेकर आ गया था स्टेशनपर और पीछे दुकानमें लग गयी आग और वह दुकान बिलकुल जल गयी। गीताप्रेसकी ओरसे बीमा कम्पनीपर 'क्लेम' किया गया और उसके चौदह हजार रुपये आये। सेठ जयदयालजीने पूछा कि यहाँसे कितनेकी किताब भेजी गयी थीं तो बताया चौदह हजारकी। फिर पूछा-क्या सब जल गयीं? पहले कुछ बिकी नहीं थीं? बोले-बिकी थी, सात हजारकी। पूछा-उनका पैसा जल गया कि घरमें आया? बताया-पैसा तो शहरमें रखते थे, दुकानमें रखते ही नहीं थे। सेठजी बोले-तो चौदह हजारका 'क्लेम' क्यों किया? सात हजारकी तो बिक ही गयी थीं। फिर सात हजार रुपया गीताप्रेसने बीमा कम्पनीको वापस किया।

अच्छा, तो भई, अब हम धर्मकी बात सुनाते हैं-धर्म वह होता है जो हमारे अन्तःकरणको शुद्ध करे। बात बनाना दूसरी बात है, अखबारमें नाम छपना दूसरी बात है, यश होना दूसरी बात है और हमारे दिलमें मलिनता छिपी हुई है उसका मिटना एक दूसरी बात है।

एक आदमी बड़ा दाता था। एक दिन हमने किसीसे तारीफ की कि फलाँ आदमी बड़ा दाता है, तो सामनेवाले आदमीमें 'असूयावृत्ति' होगी यह भी हो सकता है या सच्ची बात भी हो सकती है-उसने कहा कि महाराज, यह इतना बदमाश आदमी है कि अपनी बदमाशीको छिपानेके लिए ही उदारताका ढोंग करता है-लोगोंको खूब देता है और खूब बदमाशीके काम करता है, बुरे-बुरे काम करता है, और उन बुरे-बुरे कामोंको छिपानेके लिए

उसने यह दान करनेका एक परदा रखा है। तो, अन्तःकरणकी शुद्धि दानका फल है—हमारा हृदय निर्मल हुआ कि नहीं, हमारा हृदय ईश्वरके सामने झुका कि नहीं, हमें विषयोंसे वैराग्य हुआ कि नहीं, हम स्वावलम्बी होनेके योग्य हुए कि नहीं?

दान कौन कर सकता है कि जिसके जीवनमें दम है वही कर सकता—

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्। (16.1)

प्रजापतिके पास, ब्रह्माजीके पास उनके तीनों बेटे गये—देवता, दानव और मानव—यह कथा ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें आती है! प्रजापतिसे उन्होंने प्रार्थना की पिताजी, उपदेश करो! दानवोंसे प्रजापतिने कहा बेटा, तुम लोग हमारे बड़े बेटे हो—'द-द-द' समझे? असुरोंने कहा—समझ गये, आप कह रहे हैं कि तुम बड़े क्रूर हो, लोगोंको मारते-फिरते हो, हृदयमें 'दया' धारण करो। देवताओंसे पूछा—तुमने समझा? बोले, हाँ समझे, आप कहते हैं कि तुम लोग बड़े भोगी हो, अप्सराओंके साथ रहते हो-सो आप कहते हैं कि 'दाम्यध्वम्'-दम करो, दम करो। मनुष्योंसे पूछा-तुमने कुछ समझा? बोले, हाँ समझे। आप कहते हैं कि तुम लोग बड़े लोभी हो, इतना संग्रह और कोई नहीं करता है, न देवता, न दानव—दानवोंके पास संग्रह होता है वह हथियार बनानेमें खत्म हो जाता है और देवताओंके पास जो संग्रह होता है वह अप्सराओंको खिलाने-पिलानेमें लग जाता है यह मनुष्य है जो संग्रह करता है उससे न स्वार्थ, न परार्थ—उसकी सारी जिन्दगी उसको छिपानेमें ही बीत जाती है! तो मनुष्योंने कहा—हमने समझ लिया महाराज कि आप कहते हैं कि 'दान करो'!

एक अद्भुत बात है! मैं इसको प्रमाणित रूपसे कह सकता हूँ कि ऐसी बात दानके बारेमें और किसी धर्ममें नहीं कही गयी है। वह कौन-सी बात है ?

श्रद्धया देयं, अश्रद्धया देयं, भिया देयं, ह्रिया देयं, संविदा देयं।

श्रीमद्भगवद्गीताके सत्रहवें अध्यायके अट्ठाइसवें श्लोकमें कहा गया है कि अश्रद्धासे दिया गया दान असत् है। गीतामें तो मना कर दिया 'अश्रद्धया हुतं दत्तं' और इसीके अभिप्रायसे उपनिषद्की इस बातकी व्याख्या करनेमें लोगोंने गड़बड़ी की—पर ऐसा करनेका कोई कारण नहीं है—श्रद्धासे दो, अश्रद्धासे दो, भयसे दो, समझ-बूझकर दो, नासमझीसे दो—दान जो है वह कैसे भी दो-दो अवश्य। हमारे बड़े-बड़े भाष्यकारोंने श्रद्धया देयं को 'अश्रद्धया अदेयं' कर दिया है, परन्तु यहाँ इसका यह अर्थ नहीं है अश्रद्धासे भी दो, कैसे भी दो, यही अर्थ है। परन्तु दान किसका सफल है? दमश्च। दमश्च—अपनी इन्द्रियोंका दमन करो, अपनी इन्द्रियोंको काबूमें करो—मैं एक सज्जनके घर गया, तो वे सिर्फ दो ही चीज खाते थे—या तो रोटी-दाल खायें या तो खिचड़ी और एक सब्जी खायें। जब मैं गया तो कई चीज बनीं। उन्होंने कहा, हम भले ही दो चीज खाते हैं आपको दो चीज खिलाकर हमें खुशी नहीं होगी—यह अनुचित होगा! अब यह देखो—स्वयं तो अपनी इन्द्रियोंका दमन करें और जीभको आगे न बढ़ने दें, हाथको आगे न बढ़ने दें परन्तु दूसरेको खिलावें, दें, किसी-किसीका मन बहुत उदार रहता है, अब हम हरिश्चन्द्रकी बात आपको नहीं सुना रहे हैं—हरिश्चन्द्र कितने उदार दाता थे यह हमको मालूम है—हमने ऐसे-ऐसे उदार व्यक्तियोंको देखा है जिसकी कोई हद नहीं—एक सज्जन थे चिड़ावामें वे दही जमाते समय दूधमें गिन्नी डाल देते—2 गिन्नी, 4 गिन्नी 5 गिन्नी डाल देते और भेज देते। अब जब घरमें जाता तो लोग समझते दही आया है और निकलती उसमेंसे गिन्नी। जिसको अपने लिए भोग चाहिए, अपने लिए धन चाहिए, जो अपनी मुट्ठी बाँध कर बैठा हुआ है उसकी मुट्ठी कभी खुलती थोड़े ही है। जो अपने लिए दमन—इन्द्रियोंका दमन करेगा वही दूसरोंको दे सकता है। 'दानं दमश्च यज्ञश्च।'

दान होता है दूसरी दृष्टिसे, अपनी इन्द्रियोंका संयम होता है दूसरी दृष्टिसे—यज्ञका स्वरूप बड़ा विलक्षण है।

हमारे यहाँ मूर्तिपूजा होती है—माने रामकी, कृष्णकी मूर्त्ति बनाकर उसकी पूजा करते हैं—पर भागवतके अनुसार ही दूसरे देश ऐसे हैं जहाँ मूर्तिकी पूजा नहीं होती कि तब क्या होता है? कि जलकी पूजा होती है, अग्निकी पूजा होती है, वायुकी पूजा होती है, सूर्यकी पूजा होती है, आकाशकी पूजा होती है—अच्छा इस पूजाका फल देखो—जब हम यज्ञ करते हैं तो जो सुगन्ध फैलती है, जो वायुकी पवित्रता आती है, जो वेदका उच्चारण करनेसे आकाश शुद्ध होता है, जो विद्याजीवियोंकी जीविका

चलती है–अग्नि प्रज्ज्वलित होनेपर जो गर्मी लगती है–वह वस्तुओंका आदान–प्रदान, वह जो नियमसे रहना पड़ता है, वह यज्ञ केवल एक व्यक्तिके लिए नहीं और केवल जिसको दिया जाता है उसके लिए नहीं–वह पशुओंके लिए, वह पक्षियोंके लिए, वह कीड़े–मकौड़ोंके लिए, वह लताओंके लिए, वृक्षोंके लिए और सारे वातावरणके लिए वह दान होता है और इसका नाम है–दैवी–सम्पदा–इसको यज्ञ बोलते हैं। यह उसको बोलते हैं जिसमें पानी, आग, वायु, आकाश, पशु–पक्षी, लता–वृक्ष, कीड़े–मकौड़े सबके लिए हमारी सम्पदाका दान होता है, उसमें देना भी होता है, नियम भी होता है–दानं दमश्च यज्ञश्च–अपनी इन्द्रियोंको काबूमें रखो और दूसरेको खिलाओ और दूसरेको खिलानेमें केवल मनुष्य नहीं, केवल ब्राह्मण नहीं–हवाको भी अच्छी चीज खिलाओ, सूर्य–चन्द्रमाको भी अच्छी चीज खिलाओ–यह धर्मका दृष्टिकोण है–आकाशको भी अच्छे शब्दोंसे–वेदोच्चारणसे भर दो और नारायण! प्रकाशको फैलावो, अग्निकी आराधना करो, जलकी आराधना करो। यह है यज्ञ। न केवल यज्ञ करो बल्कि अपना अध्ययन भी करो–स्वाध्याय करो!

'स्वाध्यायस्तप आर्जवम्'–यह मनुष्यके दैनिक जीवनकी आवश्यकता है। विज्ञानका दावा करनेवाला आजका मनुष्य क्या करता है कि पशुओंके साथ अपना मेल मिलाता है–बन्दर ऐसे रहता है तो मनुष्यको ऐसे रहना चाहिए, सुअर ऐसे रहता है तो मनुष्यको ऐसे रहना चाहिए–गधा ऐसे रहता है तो मनुष्यको ऐसे रहना चाहिए–वह पशुओंकी जो रहनी है और उसके शरीरका जो तत्त्व है उससे अपनी तुलना करता है!

प्रवचन : 20

दैवी सम्पदा अर्जित कीजिये-3

(स्वाध्याय, नातिमानिता)

गीतामें जो दैवी–सम्पत्तिका वर्णन है वह सिर्फ साधुओंके लिए नहीं है बल्कि मनुष्य–मात्रके लिए है। इसकी एक पहचानपर आप ध्यान दें–भक्त होना दूसरी बात है, ज्ञानी होना दूसरी बात है, योगी होना दूसरी बात है और एक साधारण मनुष्यके रूपमें ठीक–ठीक जीवन व्यतीत करना–यह दूसरी बात है। होता यह है कि जब कोई थोड़ी–सी उपासना करता है तो चाहता है कि सब उपासक बन जायें और वह उपासनाके बीचमें ही प्रचार करने चला जाता है, तो उसकी उपासना तो छूट ही जाती है, दूसरा कोई उपासक बने कि नहीं बने! ऐसे ही जब योगी चलता है योग साधनेको तो, थोड़ा मजा आता है उनको योग–साधना करनेमें तो सोचता है कि सबको योगी बना दें। ऐसे ही जो थोड़ा बहुत विचार करने लग जाते हैं, थोड़ा विचार–सागर पढ़ते हैं, थोड़ा ज्ञानका मजा आता है तो वह स्वयं ज्ञान प्राप्त करनेकी जो आकांक्षा होती है वह तो धूमिल पड़ जाती है और अपना ज्ञान लोगोंमें जाहिर करनेके लिए उसका प्रचार करने लगते हैं। पर ऐसे लोगोंकी न उपासना सिद्ध होती है, न योग सिद्ध होता है और न ही ज्ञान सिद्ध होता है। वे पहले आते हैं परोपकारी–वर्गमें और बादमें स्वार्थी बन जाते हैं। तो, भक्तिका, योगका ज्ञानका जो मार्ग है वह विशेष प्रतिपत्तिके लिए है, कोई विशिष्ट–वस्तु प्राप्त करनेके लिए है जबकि मनुष्यका जो साधारण जीवन है वह दोषसे मुक्त रहकर सद्गुण–

सम्पन्न होकर औरोंको हानि पहुँचाये बिना और स्वयं अपने-आपमें खुश रहनेके लिए होता है। तो, ये जो हमारे प्राचीन शास्त्र हैं वे केवल भक्ति करनेके लिए नहीं हैं और न केवल योग करनेके लिए हैं और न केवल ज्ञान प्राप्त करनेके लिए हैं, उनमें तो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-चारो पुरुषार्थोंका वर्णन है और चारोंका समन्वय है।

अब, आप देखो यह दैवी-सम्पदा-एक होती है। लौकिक-सम्पदा, दैवी सम्पदा और एक होती है आसुरी सम्पदा। तो आसुरी सम्पदा उन लोगोंके लिए होती है जो केवल इन्द्रियोंमें ही रमते हैं-असुर शब्दका अर्थ संस्कृत-भाषामें यही होता है-जो ऐन्द्रियक-भोगमें ही सुख मानते हैं उनका नाम असुर होता है। वे शान्तिको सुख नहीं मानते हैं उनका नाम असुर होता है। वे शान्तिको सुख नहीं मानते हैं, वे सदाचारको सुख नहीं मानते हैं! एक बात आपको सुनावें-यह धर्म जो है वह लौकिक सुख है-आप इसको उल्टे अर्थमें मत लेना; जैसे धनकी प्राप्तिसे सुख होता है जैसे भोगकी प्राप्तिसे सुख होता है ऐसे ही धर्माचरणसे भी सुख होता है। यह बात किसी-किसी भाग्यवानको और अन्तर्दर्शीको ज्ञात होती है कि एक अच्छा काम करनेके बाद उसका अन्तःकरण कैसा निर्मल और प्रसन्न होता है। धर्म केवल स्वर्गकी प्राप्तिके लिए नहीं होता है, धर्म केवल अगला जीवन सुधारनेके लिए नहीं होता है, धर्म इसी जीवनको निर्मल करके और परमानन्दको प्रकट करनेके लिए होता है। नहीं तो धर्म पुरुषार्थ नहीं होता! पुरुषार्थ वह होता है जिसको हम चाहते हैं-'पुरुषैः अर्थ्यते इति पुरुषार्थः'। हिन्दीमें पुरुषार्थ शब्दका प्रयोग बिगड़ गया है, संस्कृतमें पुरुषार्थ शब्दका अर्थ होता है-जिसको मनुष्य चाहता है वह पुरुषार्थ है-जैसे मोक्ष पुरुषार्थ है, जैसे अर्थ पुरुषार्थ है, जैसे भोग पुरुषार्थ है, वैसे ही धर्म भी पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ है माने वाञ्छनीय है, जैसे आपको जब धनका लाभ होता है तब सुख मिलता है, जैसे आपको जब भोग मिलता है तब तृप्ति होती है, वैसे ही धर्म करते समय आपके अन्तःकरणमें एक प्रसादका, एक तृप्तिका अनुभव होना चाहिए, नहीं तो धर्म पुरुषार्थ नहीं होगा, धर्म साधन तो होगा, धर्म करेंगे तो अगला जन्म सुधरेगा; धर्म करेंगे तो स्वर्गमें सुख मिलेगा-तो धर्म सुखका साधन तो होगा परन्तु स्वयं पुरुषार्थ नहीं होगा। जो अन्न बाँटते समय सुख आता है, जो पाँच आदमियोंको खिलाते समय आनन्द आता है, जो कपड़ा देते समय आनन्द आता है, जो विद्या-दान करते समय आनन्द आता है, जो आनन्द एक डाक्टर-वैद्यको एक गरीबकी चिकित्सा करते समय मिलता है-वह सुख बिल्कुल प्रत्यक्ष है, इसी लोकमें मिलता है। तो, धर्मको परलोकमें सुख देनेवाला बनाकर फेंक देना, यह न तो धर्म पुरुषार्थ माननेवालोंके मतमें ठीक है और न तो मोक्ष पुरुषार्थ माननेवालोंके मतमें ठीक है। क्योंकि मोक्ष-मतमें आपको वेदान्तियोंकी बात सुना देते हैं-मोक्ष-वादियोंके मतमें धर्मका फल अदृश्य नहीं है, माने मरनेके बाद, परलोकमें या अगले जन्ममें नहीं है धर्मका फल इसी जन्ममें है-अन्तःकरणकी शुद्धिके रूपमें-माने कामको मिटाना, क्रोधको मिटाना, लोभको मिटाना, मोहको मिटाना। तो, धर्मसे जो काम-क्रोधादि विकारोंकी निवृत्ति होती है, अन्तःकरण निर्मल होता है, उसमें जो एक आत्म-प्रसादका उदय होता है वही पुरुषार्थ है। यदि ऐसा नहीं होता-धर्म करते समय ही धर्म करनेका सुख नहीं मिलता तो धर्मको कोई चाहता ही नहीं! तो धर्मवादियोंके मतमें धर्म पुरुषार्थ है और मोक्षवादियोंके मतमें धर्म परम-पुरुषार्थ तो नहीं है परन्तु अन्तःकरण शुद्धिके द्वारा इसी समय, विचार-निवृत्तिके द्वारा हमको सुख देनेवाला है! तो, हमारे जीवनमें धर्मका तिरस्कार न हो। कभी-कभी हम भयवश धर्मका तिरस्कार कर देते हैं-हम काशीमें रहते थे। पहले तो कभी-कभी हिन्दू-मुस्लिम दंगा होता था। हम तो हिन्दू-मुहल्लेमें रहते थे। हे भगवान, हिन्दू लोग कहते कि आज मुसलमानोंने हमारे ऊपर आक्रमणकी तैयारी की है और रातको वे आक्रमण करेंगे और हमारे मुहल्लेमें आग लगावेंगे-यह अफवाह आयी है कहींसे-तो बोले कि हम लोगोंको तैयार हो जाना चाहिए। कैसे तैयार हों? कि सब लोग कीर्तन करें-लाठी-वाठीसे सुसज्जित होकर कीर्त्तन करें और जागते रहें। अब बारह बज गये कीर्त्तन करते-करते, कोई मुसलमान तो आया नहीं हमला करने, तो यह हुआ कि ऐसे कबतक हम जागेंगे? एकने कहा कि देखो, वे लोग बिल्कुल चार बजे आक्रमण करनेवाले हैं, हमको उनकी योजना मालूम है। पर, जब वे हमारे घरमें आग लगावेंगे, तो हमारा बड़ा नुकसान होगा, इसलिए चलो उनके आनेसे पहले ही जब तक वे गफलतमें हैं तब तक हम ही उनपर आक्रमण

करके उनका नाश कर दें–और कर दिया ऐसे ही! पर, यह मनोवृत्ति हम हिन्दुओंकी ही नहीं सुनाते हैं–मुसलमानोंकी भी ऐसी ही थी परन्तु, मनमें जो भय होता है, हो जाता है, मनुष्यको निर्भय रहना चाहिए, आगेके लिए भयकी कल्पना करके अपने वर्तमानका नाश न करे, जहाँतक हो सके अपने अन्तःकरणमें सद्भाव रखे और अपने निश्चयके अनुसार, अपनी दृढ़ निष्ठापर चलना चाहिए–'ज्ञानयोगव्यवस्थिति' का यही अर्थ है–ज्ञान माने अपना निश्चय और योग माने परिनिष्ठित जीवन–जैसा अपने निश्चयके अनुसार परिनिष्ठित जीवन व्यतीत कीजिये।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्–

यथा शक्ति, यथा श्रद्धा–यह तो बिल्कुल मालूम है कि आप जिसके लिए इकट्ठा कर रहे हैं उसके काम आवेगा! आपको मालूम नहीं है कि यदि आप अपने ही बुढ़ापेके लिए इकट्ठा कर रहे हैं तो बुढ़ापा आवेगा कि नहीं! पहले तो इसका ही पता नहीं और यदि बुढ़ापा आ भी जाय तो आपका इकट्ठा किया हुआ आपके काम आवेगा इसमें भी संदेह है और दूसरोंके लिए जो कर रहे हैं उसकी तो बात ही जाने दीजिये। इसलिए धनका तिरस्कार नहीं करना चाहिए।

करमध्यकपोतः को मयूरः।

कल हमको एक मोर मिलेगा और आज कबूतर मिल रहा है, तो दोनोंमें कौन–सा आपको पसन्द करना चाहिए? आजका कबूतर छोड़कर कलका मोर? कि नहीं–नहीं–यह गलत है–कलके मोरसे आजका कबूतर अच्छा है। तो, संशय–ग्रस्त राज्यसे आजका पाँच रुपया भी अच्छा है। आप धनका आनन्द अभी लीजिये; आप धर्मका आनन्द अभी लीजिये और यह लेनेकी आदत पड़ जायेगी तब आगे भी आप धर्मात्मा होंगे और यदि धर्मका आनन्द आपके जीवनमें विकसित ही नहीं होगा तो आगे भी आप धर्मात्मा नहीं हो सकेंगे! आज यदि धर्मका रस उदय हो जाये तो आप कल भी धर्मका रस लेंगे। पर, आज तो धर्मका रस आप नहीं ले रहे हैं, कलके लिए टाल रहे हैं, तो धर्मके रसका अभ्यास नहीं होने से टल जायेगा। तो, धर्म एक पुरुषार्थ है और उसको अर्थ और कामसे समन्वित करके ही उसका अनुष्ठान करना चाहिए। यह सार्वजनिक धर्म है, सामान्य धर्म है।

एक कथा आयी है पुराणोंमें–कि एक बार राजा पुरुरवा इन्द्रलोकमें गये–पहले राजाओंमें यह सामर्थ्य होता था कि वे लोक–परलोकमें अप्रतिहत गतिसे विचरण कर सकते थे कहीं उनके लिए रुकावट नहीं होती थी। धर्मात्मा राजाके लिए तो शरीर सहित स्वर्गमें भी जानेमें रुकावट नहीं थी–यह पुराणमें कथा है। जब पुरुरवा इन्द्रलोकमें गये तब उनको सब देवताओंके दर्शन हुए–धर्म–देवता, अर्थ–देवता, काम–देवता तीनों स्वर्गमें मूर्तिमान होकर रहते थे। तो पुरुरवाने जब तीनों देवताओंका दर्शन किया तब धर्मको तो प्रणाम किया और अर्थ–देवता और काम–देवता दोनोंको तुच्छ समझकर उनका तिरस्कार कर दिया! अब दोनों बड़े नाराज हुए महाराज! बड़े लोगोंको यदि सलाम न बजायी जाये तो वे नाराज हो ही जाते हैं–उनको तो कुछ–न–कुछ चाहिए ही! तो, वे दोनों नाराज हो गये और नाराज होकर उन दोनोंने पुरुरवाको श्राप दे दिया–कामने कहा कि तुम काम भ्रष्ट हो जाओ और अर्थने कहा कि अर्थ भ्रष्ट हो जाओ। अब? उर्वशी प्रसन्न हुई पुरुरवा पर और पुरुरवा मुग्ध हुए उर्वशी पर, परन्तु, पुरुरवाको भोगका सुख, कामका सुख नहीं मिला क्योंकि काम–देवताने रुष्ट होकर जब श्राप दिया तब पुरुरवाकी मनोवृत्ति कैसी हुई कि वह राजा तो था–सप्तद्वीपवती पृथ्वीका, परन्तु, अर्थ देवताके श्रापका यह फल हुआ कि उसके मनमें लोभ बढ़ गया और यह लोभ–बढ़ना अर्थ–देवताका अभिशाप है–यह पुराणकी कथा है। और जब लोभ बढ़ गया उसके मनमें तब उसने सबका धन समेटकर अपने हाथमें ले लिया और बोला कि सब सरकारी खजानेमें–से लेकर खायें, अपने पास कोई कुछ नहीं रखे। माने उसने चातुर्वण्यको अर्थसे रहित कर दिया! इससे यह हुआ कि यज्ञ–याग होना बन्द हो गया–अब तो राजा ही यज्ञ करे तो करे, दूसरा तो कोई यज्ञ करे कहाँसे, किसीके पास पैसा नहीं। अपना धर्म करनेके लिए किसीके पास धन नहीं रहा। इससे ब्राह्मणोंको आया क्रोध और उन्होंने भी उसको श्राप दे दिया कि तुम अर्थ–भ्रष्ट हो जाओ! तो, जो बहुत लोभी होता है वह धनके देवताको अपना दास बनानेकी कोशिश करता है, अपने अधीन करनेकी कोशिश करता है और धनके देवता उसके ऊपर नाराज हो जाते हैं। हम यह व्याख्यान जंगलमें रहनेवाले साधुओंके लिए नहीं दे रहे हैं, गृहस्थोंके बीचमें

बोल रहे हैं कि आपके जीवनमें यदि आपका काम धर्मके लिए नहीं होगा और धर्मसे प्रेरित नहीं होगा और आपका अर्थ धर्मके लिए नहीं होगा और धर्मसे अनुप्राणित नहीं होगा और आपका धर्म यदि अर्थ और कामका विरोधी होगा और आप यदि इतना भोग करेंगे कि सारा धन ही नष्ट हो जाये, इतना धन कमावेंगे कि जीवनमें कुछ भोग ही न हो, इतना धन कमावेंगे इतना भोग करेंगे कि धर्मकी ओर ध्यान ही न जाय तो आपका जीवन कभी सुखी, कभी शान्त नहीं हो सकता! आपके पास धन रहे परन्तु धर्मसे मेल करके रहे, आपके पास धन रहे, परन्तु जीवन-निर्वाहके लिए रहे; आप भोग करें परन्तु उससे धर्म और अर्थका नाश न हो; आप अर्थ कमायें परन्तु धर्म और भोगका नाश करके नहीं। तो, जीवन समन्वित होना चाहिए-यह दैवी-सम्पदा जो है यह समन्वित-जीवनका उदाहरण है। त्यागमें और दानमें अन्तर होता है! त्याग भी जीवनमें होता है और यह भी दैवी-सम्पत्ति है और दान भी जीवनमें होता है और यह भी दैवी-सम्पत्ति है। दानमें वस्तुका महत्त्व अपनी बुद्धिमें रहता है-यह बड़ी कीमती चीज है, बड़ी प्यारी चीज है-यह हम आपको दे रहे हैं-यह हुआ दान और यह चीज किसी कामकी नहीं है इसको हम छोड़ रहे हैं-यह हुआ त्याग! त्याग जो होता है वह वस्तुके प्रति अनादर बुद्धिसे होता है उसमें महत्त्व नहीं है, मूल्य नहीं है, तुच्छता है और दान जो होता है, वह मूल्यवान वस्तुका उत्तमोत्तम वस्तुका होता है। तो यह जो मनुष्यका जीवन है पशुका जीवन नहीं है। आप देखो, बच्चे तो मनुष्यके भी होते हैं और पशुओंके भी, परन्तु, पशुके यह भेद नहीं है कि यह अपनी पत्नी है कि दूसरेकी। उसके जीवनमें भेद नहीं है, नियन्त्रण नहीं है, उसका पति-पत्नीका और पिता-पुत्रका सम्बन्ध भी नहीं है, थोड़े दिनों तक रहता है और फिर टूट जाता है, उसकी वंश वृद्धिकी कोई योजना भी नहीं है कि हमारा-वंश चलता रहे। पशुके अन्दर न कोई धर्म है, न कोई योजना है, न कोई सम्बन्ध है, न कोई नियन्त्रण है और न तो पशुके अन्दर कोई सात्त्विक वृत्ति है, लेकिन मनुष्यका जीवन पशुके जीवनसे बिल्कुल निराला है।

आप यह जानते हैं कि यदि आप भक्त होना चाहेंगे तो आपको 'निर्मानमोहा' होना पड़ेगा। गीता पन्द्रहवें अध्यायका पाठ करते ही हैं-

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।। (15.5)

अच्छा, लेकिन यदि आप ज्ञानी होना चाहें, परब्रह्म परमात्माका ज्ञान प्राप्त करना चाहें, तो क्या करना पड़ेगा? तो बताया कि-

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसाक्षान्तिरार्जवम्।' (13.7)

'मान' छोड़ना पड़ेगा। अच्छा, यदि आप न ज्ञानी होना चाहते हैं और न भक्त होना चाहते हैं परन्तु, एक सत्पुरुषके रूपमें, एक सज्जनके रूपमें अपना जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, तो आपको न निर्मान होना है, न अमान होना है। बल्कि आपको अतिमानसे बचना है: दैवी-सम्पदामें आपको याद है न-

अहिंसासत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।
तेजःक्षमाधृतिःशौचमद्रोहो नातिमानिता। (16-2,3)

आपको अमानित्वं-से नातिमानितामें कुछ फर्क मालूम पड़ता है? निर्मान, अमान और नातिमान-वहाँ अमानिता तो है पर बीचमें अति जुड़ा हुआ है-मान करो पर अति मान मत करो-इसका अर्थ यह होता है-आपको यदि सज्जनके समान जीवन व्यतीत करना है तो अतिमान नहीं करना चाहिए। अब यह अतिमान क्या है? एक साधु थे, लोगोंने उनसे कहा कि महाराज, एक यज्ञ हो रहा है। आप चलिये। वे गये। यज्ञशालाके पास चले गये, परन्तु न यजमान उठकर खड़े हुए, न पुरोहित उठकर खड़े हुए, वे तो अपने स्वाहा-स्वाहामें लगे रहे। यज्ञका एक यह भी धर्म है-चाहे आप ईश्वरकी पूजा कर रहे हों, चाहे आप परमेश्वरकी पूजा कर रहे हों, परन्तु यदि विशिष्ट अतिथि सामने आवे तो उठकर उसका स्वागत करना चाहिए-वह तो यज्ञाराध्य नारायण आये हैं-अतिथिके रूपमें और वह सब यज्ञोंसे बड़ा है, सब मन्त्रोंसे बड़ा है, सब पुरोहितोंसे बड़ा है। आप देखो, भागवतमें ही ऐसा वर्णन है कि राजा निमिका यज्ञ हो रहा था; जब नवयोगेश्वर आये तब निमि राजा उठकर खड़े हुए, ब्राह्मण उठकर खड़े हुए और वे अग्निको भी

हाथमें लिये और अग्निकुण्ड लेकर गये नौ योगेश्वरोंका सत्कार करनेके लिए।

मनुष्यसे बड़ा कोई देवता-दानी नहीं होता है, मनुष्यके भीतर परमात्मा प्रकट है! अब वे महात्मा गये यज्ञके पास तो पुरोहित मन्त्र बोलते रहे और यजमान भी स्वाहा-स्वाहा करते रहे, तो वे महात्मा वहाँसे थोड़ी दूर जाकर गंगा किनारे बैठ गये। बैठ गये तो लोगोंने कहा कि महाराज, यह आपने क्या किया कि यज्ञमें आये और भीतर नहीं गये लौटकर इधर चले आये, आप तो मान करते हैं, सज्जन पुरुषको मान नहीं करना चाहिए और आप तो मान करते हैं। उन्होंने कहा कि देखो भाई, दैवी-सम्पदामें नातिमानिता है-अतिमान नहीं करना चाहिए-अतिमानका अर्थ है कि अपने अन्दर इतना बड़प्पन नहीं आना चाहिए कि दूसरेका तिरस्कार हो जाय, परन्तु थोड़ा मान तो रहना ही चाहिए-यह भी तो एक मर्यादा है न! मर्यादा तो रहनी ही चाहिए। देखो, हम आपको बता रहे है कि जीवनमें अर्थकी भी आवश्यकता है, जीवनमें कामकी भी आवश्यकता है, जीवनमें मानकी भी आवश्यकता है! बिना कामके जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता, बिना अर्थके धर्म नहीं हो सकता; बिना धर्मके अर्थ टिकाऊ नहीं हो सकता, बिना धर्मके काम नियन्त्रित नहीं हो सकता और जो मर्यादाएँ हैं उनकी रक्षा बिना किञ्चित् मानके नहीं हो सकती। तो वह मान क्या है-'नातिमानिता'-अतिमान मत करो, लेकिन अपने देशका मान, अपने धर्मका मान, अपनी जातिका मान, अपने परिवारका मान, अपने सौजन्यका मान, तो यह सब मान रहना चाहिए।

अमानित्वंका अर्थ होता है-विवेक और नातिमानिताका अर्थ होता है व्यवहार। भला अमानित्वंमें क्या विवेक है? अमानित्वंमें यह विवेक है कि एक होता है मान और एक होता मानी और एक होता है मानित्व और तीनोंका निषेध कर देने पर जो अमानित्व है वह अद्वितीय ब्रह्म है। मान क्या है? मान तीन तरहका होता है-देशसे मान,-मैं साढ़े तीन हाथका शरीर हूँ; कालसे मान-माने मेरी उम्र ८० वर्षकी है, मेरे सामने तुम बच्चे क्या होते हो? और वस्तुसे मान-माने हम पहलवान हैं और हमारा शरीर इतना बलिष्ठ, इतना वजनदार है-यह तीन मान है और फिर इस शरीरसे हमने ये-ये काम किये हैं-यह क्रियाका मान होता है, अपनी तपस्याका मान होता है, विद्याका मान होता है, बुद्धिका मान होता है, समाधिका मान होता है कि ये दुनियादार लोग हमारी बराबरी क्या करेंगे, हमको समाधि लगती है-समाधिका अभिमान होता है और क्या सुनावें-निरभिमानिताका भी अभिमान होता है-एक सज्जन हैं, वे सत्सङ्गमें जाते हैं। उनसे कहो कि आप कुर्सी पर बैठ जाओ तो कहेंगे कि महाराज, सत्सङ्गमें आकर कुर्सीपर क्या बैठें? अच्छा, तो दरीपर बैठो। कि नहीं, नहीं आपलोगोंकी पंगतमें बैठने लायक नहीं हैं। तो फिर कहाँ बैठोगे? कि हम तो आप लोगोंके जहाँ जूते हैं वहाँ बैठेंगे! तो जाकर जूतेमें बैठते हैं और जूतेमें जाकर बैठनेके बाद अपने मनमें क्या सोचते हैं कि ये सारे अभिमानी हैं जो दरी पर बैठते हैं और मैं कितना निरभिमानी हूँ कि जूतोंमें बैठता हूँ-यह होता है निरभिमानताका अभिमान। यह आध्यात्मिक अभिमान जो है वह अत्यन्त सूक्ष्म होता है-लोग कहते हैं कि हमको भगवान् मिल गये, हमको समाधि लग गयी, हमको इतनी विद्या आ गयी, इतनी बुद्धि आ गयी-सब मानकी धुरी पर नाचता है। तो पहली बात यह है कि जब हम देश-परिच्छेदको स्वीकार कर लेते हैं कि हम ऐसे, हम ऐसे, हम ऐसे और दूसरा कोई नहीं-तब हम बन गये मानी और इस मानीपनेका जो हृदयमें भाव है उसका नाम है मानित्व। अब अमानित्वका अर्थ होता है-विवेक कर दो-कि हमारे अन्दर मानित्व नहीं है, न मान है, न मानी है, न मानित्व है; जो जब यह नहीं है तब तुम क्या हो? कि उस समय तो बिलकुल ब्रह्म हो-जो मानी होता है वही नरक-स्वर्गमें जाता है, जो मानी है वही जन्मता-मरता है, जो मानी है उसीको पशु-पक्षी आदि योनियोंमें जाना पड़ता है और जहाँ मान ही नहीं है, वहाँ न आना है न जाना है, न जन्मना है, न मरना है, न पशु-पक्षी होना है। तो अमानित्वका अर्थ होता है कि विवेक-पूर्वक मानित्वसे अलग होकर अपने स्वरूपमें बैठना-अज्ञात-ब्रह्मसे एक होकर बैठना ब्रह्मज्ञान नहीं है, परन्तु विवेक है-

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तं अज्ञानं यदतोऽन्यथा। (13.11)

फिर क्या होगा? कि–

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते। (3.12)

अब ब्रह्मज्ञान, कहेगा कि अरे, यह जो तुम मानित्व छोड़कर बैठे हुए हो–यह मानित्व छोड़ देनेके बाद तो तुम ब्रह्म हो, इस मानित्वके अत्यन्ताभावके अधिष्ठान होनेसे और इस मानित्वके अत्यन्ताभावके प्रकाशक होनेसे। कल मैं एक सज्जनकी पुस्तक देखने लगा, तो उसमें लिखा था। जगत् मिथ्या नहीं है। अस्थायी है, परिवर्तनशील है और आत्मा स्थायी है और सत्य है। असलमें द्रष्टा और दृश्यका जब विवेक होगा तब स्थायी और अस्थायी दोनों दृश्य हो जायेंगे और जो आत्मवस्तु है वह अस्थायी जगत्से भी विलक्षण है और अस्थायीके अत्यन्ताभाव स्थायीसे भी विलक्षण है और वह ब्रह्म है! तो अमानित्व जो है वह ब्रह्मका साक्षात्कार साधन है और नातिमानिता व्यवहारका साधन है और यह सद्गुण आपके जीवनमें होना चाहिए। आप देखो, जरा-सा जब आप चलते हैं, बाजारके लिए निकलते हैं तब देख लेते हैं कि हमारे कपड़े कैसे हैं, हमारे बाल कैसे हैं, चेहरेपर कोई दाग तो नहीं है। व्यवहारके लिए निकलते हैं तो स्थूल शरीरका कितना ध्यान रखते हैं। साधु लोग भी महाराज, सबेरे उठकर शरीर-ब्रह्मकी सेवा करते हैं। आपने देखा होगा–कैसी भस्म लगाकर अपनेको तैयार करते हैं–वह भस्म तैयार करनेमें बहुत समय लगता है। यह नहीं है कि उपलेकी राख उठाकर अपने शरीरमें लगा लेते हैं। बेलपत्र लाते हैं फिर उसको दूधमें पकाते हैं, सुखाते हैं, फिर उसका भस्म बनाते हैं तब वह आपके पाउडरसे भी ज्यादा चमकता है और वही वे अपने शरीरमें लगाते हैं। हमने देखा–एक साधु थे, वे सबेरे उठकर पहले शीशेमें अपना मुँह देखते और ललाटपर जो बाल होते उनको कैंचीसे काटते जिससे उनका ललाट खूब बड़ा दिखे और लोग उनको बहुत सिद्ध महात्मा समझें, क्योंकि लोग तो सन्तका माथा ही देखते हैं। तो शरीरकी आप सेवा करते हैं जब आपको लोगोंको दिखाना होता है, लेकिन आपके कपड़ोंके भीतर जो शरीर रहता है उसकी सफाईका ध्यान नहीं रखते हैं। इस शरीररूपी कपड़ेके भीतर जो आपका सूक्ष्म शरीर है उसका आप कितना ध्यान रखते हैं? बाहरसे बड़ा बढ़िया कपड़ा पहनते है, बाल सँवारते हैं, स्नो-पाउडर लगाते हैं; लेकिन भीतरका जो शृंगार है–आपका मन कैसा है, आपका सूक्ष्म-शरीर कैसा है, उसका आप कितना ध्यान रखते हैं? आपको मालूम है कि आप रहें और आपके प्यारे मर जायें तो कितना कष्ट होता है। आप रहेंगे और आपका यह प्यारा शरीर नहीं रहेगा। तो यदि आप इस स्थूल शरीरसे बहुत मुहब्बत करेंगे, बहुत प्रेम करेंगे तो आपको एक दिन यह बहुत रुलायेगा–आप रोनेकी तैयारी कर रहे हैं दूसरे शब्दोंमें आप जितना स्थूल शरीरसे प्रेम करते हैं उतना ही अपने रोनेकी सामग्री जुटा रहे हैं। आप अपना भला नहीं कर रहे है। वेदका कहना है–

'प्रियं त्वाम् रोत्स्यति'–यह तुम्हारा प्यारा तुम्हें रुलावेगा। तो नारायण, यह सूक्ष्म शरीर रहेगा और स्थूल शरीर छूट जायेगा! यमराजके सामने यह स्थूल-शरीर नहीं जाता, सूक्ष्म-शरीर जाता है। ईश्वरके सामने आपका स्थूल-शरीर नहीं जाता, सूक्ष्म-शरीर जाता है। यदि आप सूक्ष्म-शरीरको बढ़िया-सुन्दर लेकर नहीं जायेंगे घटिया लेकर जायेंगे–छल है, कपट है, बदमाशी है, अनाचार है, व्यभिचार है, ये यदि आपके सूक्ष्म-शरीरमें निवास करते हैं तो ये आपको बहुत तकलीफ देंगे। इन दोषोंकी निवृत्तिके लिए–दोषापनयनके लिए और गुणाधान–माने स्थूल शरीरमें और सूक्ष्म शरीरमें सद्गुणोंकी स्थापनाके लिए दैवीसम्पदा है यह दैवी सम्पदा है कि नातिमानिता–अति मान मत करो।

एक अखबारमें एक दिन पढ़ा था कि अभिमान और अहंकारमें क्या भेद है? बोले कि 'तुम मुझे क्या समझते हो'–यह हुआ अभिमान; और मैं 'तुम्हें कुछ नहीं समझता हूँ' यह है अहंकार तो जहाँ हमारा धन, हमारी विद्या, हमारी बुद्धि, हमारी सुन्दरता दूसरोंके तिरस्कारका कारण बनती है वहाँ हमारे अन्दर आसुरी-सम्पत्ति आ जाती है। हम शरीरसे मनुष्य होनेपर भी असुर हो जाते हैं। नातिमान क्या होता है–उसका उदाहरण देखो–एक गाँवमें कोई एक मुकदमा लड़ रहा था, तो गाँवनें जो बड़े-बूढ़े सज्जन थे उनके पास मुद्दई (वादी)–जिसने दावा किया था, आया और बोला तुम हमारे मुकदमेमें गवाही दे दो। वे बोले कि भाई, हम तो कुछ जानते ही नहीं हैं, गवाही कैसे देंगे? उसने कहा कि सब, तुम्हारे हाथमें है सब, हम तुम्हारी शरण लेते हैं। ये शरण लेनेवाली बड़ी गड़बड़ करते हैं। आप सब लोगोंको

इसका अनुभव शायद न हो, हमें इसका बड़ा अनुभव है। बोलेंगे—महाराज, हम आपकी शरणमें हैं, बस दस हजार रुपया हमको किसीसे दिलवा दो, हमारी लड़कीका ब्याह करवा दो, हम आपकी शरणमें हैं। यह शरण ग्रहण करनेवाले जो हैं वे शरण ग्रहण नहीं करते हैं, वे शरण ग्रहण करवाते हैं। हमारी सेवा करो, हमारा काम कर दो—हम आपकी शरणमें हैं आप हमारा मुकदमा बना दो, आप चाहोगे तब बन जायेगा। थोड़ा-सा आपको झूठ बोलना पड़ेगा, तो इसमें क्या रखा है? उस बुड्ढेने महाराज, फटकार दिया उसको। हमारे बाल-बच्चे हैं, हमारा धर्म है, हमारी इज्जत है हम ब्राह्मण होकर तुम्हारे मुकदमेंमें झूठ बोलनेके लिए जायेंगे? अब देखो, उसने ब्राह्मणपनेका अभिमान तो किया; परन्तु किसलिए? झूठसे बचनेके लिए। तो झूठसे बचनेके लिए जो ब्राह्मणपनेका अभिमान आया वह नातिमान है—दैवी-सम्पदा है और रास्तेमें एक आदमी जाता हुआ मिला। बोले—ऐ, तुम कौन हो? महाराज, आपके सेवक हैं। कैसे सेवक हो? तुम शुद्र हो, हटो हमारे रास्तेसे। तुम्हारी परछाईं पड़नेसे हमको नहाना पड़ेगा। यह क्या है? कि यह नातिमान नहीं है, अतिमान है। जहाँ ब्राह्मणत्वके बलपर शुद्रका तिस्कार होता है वहाँ अतिमान है और जहाँ ब्राह्मणत्वके बलपर झूठका तिरस्कार होता है वहाँ नातिमान है। जहाँ हमारा अभिमान भी हमें सद्गुणी बनावे, सत्यका प्रेमी बनावे, अहिंसक बनावे वहाँ हमारा अभिमान भी हमारा हितैषी हो जाता है। तो यह दैवी-पुरुषका जो वर्णन है यह साधुओंके लिए नहीं है, यह जिज्ञासुओंके लिए नहीं है, यह भक्तोंके लिए नहीं है—यह एक सज्जन पुरुष व्यवहारमें जैसा रहता है वैसा जीवन व्यतीत करनेके लिए है।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।

मनुष्य जब पैदा होता है तब ऋण लेकर पैदा होता है—ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण। आपके ध्यानमें यह बात जरूर आती होगी—पर आप ध्यान नहीं देते हैं, आपकी बुद्धि कहीं और लगी हुई होगी—आप म्युनिसिपैलिटीको हाऊस-टैक्स देते हैं। आपके नलमें पानी आता है तो उसका बिल चुकाते हैं, आपके घरमें बिजलीकी रोशनी आती है तो उसका बिल चुकाते हैं, पंखा हवा देता है तो उसका बिल चुकाते हैं अब आप देखो,

आप केवल घरमें ही नहीं रहते हैं बाहर भी तो निकलते हैं न—तो देखो, सूर्य-चन्द्रमाकी रोशनी आपको मिलती है, साँस लेनेको हवा आपको मिलती है, ऊष्माके लिए आप अग्निसे काम लेते हैं—गर्मीसे अपने जीवनको सुरक्षित रखते हैं, आप पानी पीते हैं, वर्षाके पानीका उपयोग करते हैं—आपने कभी इनका बिल चुकाया? वायु-देवताका बिल आपने कभी नहीं चुकाया, अग्नि-देवताका बिल आपने कभी नहीं चुकाया, जल-देवताका बिल आपने कभी नहीं चुकाया, पृथिवीका बिल आपने कभी नहीं चुकाया। तो प्रत्येक मनुष्यके ऊपर सूर्यका ऋण रहता है, अग्निका ऋण होता है, वायुका ऋण होता है, जलका ऋण होता है—इसको देवताका ऋण बोलते हैं। अच्छा, आप कहीं आसमानसे टपके हो? खुद आये हो? कि नहीं, पिता-माताके द्वारा आये हैं। माताके गर्भमें आप नौ महीने रहे हो। अब बहू लेकर अलग हो गये। तो उसके पेटमें जो 9-10 महीने रहे हो उसका किराया चुकाओ, भरो बिल उसका। तो, माताका ऋण होता है, पिताका ऋण होता है—जिसके मूल बीजसे तुम्हारी उत्पत्ति हुई है। किसानने खेती की, पर जिससे बीज लाकर खेतमें बोया था उसका बीज वापस नहीं दिया, तो यह ऋण है न, उसके ऊपर, कर्ज बाकी रह गया। अच्छा यह जो आप बोलते हैं—कोई भी एक शब्द बताओ जो आपका बनाया हुआ हो, अगर शब्द आपका बनाया हुआ भी होगा तो अक्षर आपके बनाये हुए नहीं होंगे! तो इसको ऋषि-ऋण कहते हैं। एक-एक अक्षर आपने जो माँ कहना सीखा है, 'क' कहना सीखा है, 'ब' कहना सीखा है, 'अ' कहना सीखा है, वह भी पूर्व परम्परासे प्राप्त ही तो है न! आप ऋषि-ऋण लेकर आये हैं आपने कौन-सा ऋण चुकाया? आपने देवताओंका ऋण चुकानेके लिए कौन-सा यज्ञ किया? जिससे पृथिवीमें सुगन्ध बढ़े, जिससे जलका रस बढ़े, जिससे अग्निका सत्कार हो, जिससे सूर्यका सत्कार हो। आपने देवताओंके लिए क्या किया? तीन प्रकारसे मनुष्यकी उत्पत्ति होती है—माता-पिताके रज-वीर्यसे, देवताकी आराधनासे और ज्ञानकी प्राप्तिसे। आप आध्यात्मिक मनुष्य तब बनेंगे जब ज्ञान प्राप्त करेंगे, आधिदैविक मनुष्य तब बनेंगे, जब देवताकी आराधना करेंगे और आधिभौतिक मनुष्य तब बनेंगे जब माता-पिताकी सेवा करेंगे—पिता-माताकी सेवाके बिना

आधिभौतिक मनुष्यता पूर्ण नहीं होती है और देवताकी सेवाके बिना आधिदैविक मनुष्यता पूर्ण नहीं होती है और ज्ञान प्राप्त किये बिना आध्यात्मिक मनुष्यता पूर्ण नहीं होती है–यह दैवी सम्पदा अपने जीवनमें धारण करनेकी है। स्वाध्याय–आप स्वाध्याय करते हैं? स्वाध्याय माने ऋषियोंने आपके जिम्मे एक स्वाध्यायका हिस्सा कर दिया है। आप इतनी वस्तु जरूर पढ़ना, जरूर पढ़ना। ठीक है, आपने एक शास्त्र भी नहीं पढ़ा। ठीक है, गायत्री पढ़ते हैं? 'गायत्रीमात्रसारोपि परममित्रः'–स्वाध्याथ माने जप होता है, स्वाध्याय माने गायत्री, स्वाध्याय माने वेदकी वह शाखा–हम तो समझते हैं कि आज तो बहुत लोगोंको मालूम ही नहीं होगा कि वेदमें कितनी शाखा होती है। अपनी शाखाका नाम आपको मालूम है कि आप वेदकी किस शाखाकी जिम्मेदारी लेकर पैदा हुए हैं? पातञ्जलि शाखा है आपकी? कौशिकी-शाखा है? आपकी कौन-सी शाखा है और आप किस शाखाके हैं? क्या आप कात्यायन या काण्व-शाखाके हैं? तो प्रत्येक मनुष्यपर अपनी शाखाका जो वेदाध्ययन है उसकी जिम्मेदारी हमारे ऋषियोंने डाली हुई है! हम आपको बोलते हैं क्या स्वाध्याय करते हैं? अच्छा छोड़ो इस बातको, क्या आपने कभी यह स्वाध्याय किया–स्व माने अपना, अध्याय माने अध्ययन–आप हड्डी-मांस-चामके पुतले हो कि आप काम-क्रोध-लोभ विकारोंके पुतले हो कि आप शान्ति-दान्तिके पुतले हो कि आप शुद्ध चैतन्य हो? तो स्वाध्याय करना एक दैवी सम्पदा है वह मनुष्यके जीवनमें अवश्य-अवश्य रहना चाहिए, तब आप सच्चे मनुष्य बनेंगे–मनुष्यके भीतर जो शक्ति है वह तब ही प्रकट होगी।

प्रवचन : 21

दैवीसम्पदा अर्जित कीजिये-4

(स्वाध्याय, तप और आर्जव)

भगवान् श्रीकृष्णने यह बात बतायी कि अपने अन्दर जो कुछ दोष आ गये हैं उनका इस ढंगसे निवारण करो ताकि बाहरसे आकर लगी हुई जो चीजें है वे अपने आप ही छूटकर गिर जायें और दूसरे–अपनेको इतना विशाल, इतना विशाल अद्वितीय रूपमें जान लो कि कहीं किसीसे राग-द्वेष न रहे। नारायण! जो अपना स्वरूप है वह तो कभी छोड़ा नहीं जा सकता और जो बाहर से आकर लगा है वह अवश्य ही छूट सकता है, क्योंकि वह लगा नहीं है, लगा हुआ-सा मालूम पड़ता है। एक बात पर आप ध्यान दें–सोते समय आपको जो कुछ छोड़कर सोना पड़ता है वह सब यदि जाग्रत अवस्थामें आपको छोड़ देना पड़े तो आपको क्या आपत्ति है? इसके लिए यदि आप तैयार हैं तो आपको दुःख कभी छू नहीं सकेगा। बस, एक ही तैयारी चाहिए और वह यह तैयारी है कि जितनी चीजों व सम्बन्धों तथा भावनाओं एवं मान्यताओंको छोड़कर आप निद्रामें चले जाते हैं उतना ही छोड़कर आप परब्रह्म परमात्मामें स्थित हो सकते हैं, इससे ज्यादा और कुछ छोड़नेकी जरूरत नहीं है। मतलब यह है कि ये वेदान्ती लोग जो त्यागकी, वैराग्यकी बात करते हैं वह कोई इतने बड़े त्यागकी, वैराग्यकी बात नहीं है जो आप नहीं कर सकते हैं, वह तो उतने ही त्याग और उतने ही वैराग्य की बात है जितना आप रोज करते हैं–उनको छोड़कर आप जाग्रत्में अपने स्वरूपमें बैठ जाइये। और उस समय यह अनुभव हो जाता है कि जिसको छोड़कर आप आये हैं, जिसको आप अपना मानते रहे हैं, जो आप पर हावी रहा है, उन सब वस्तुओंकी ऐसी कीमत नहीं है कि वे आपको दुःख दे सकें। वेदान्त यही बात कहता है। दुःख एक मानसिक कल्पना है और उसके सम्बन्धमें मोटी-सी-मोटी बात यह है कि यदि आप मनुष्य हैं और दुःखको

मिटानेका आपके अन्दर सामर्थ्य है और वह दुःख मिटाने योग्य है तो आप साधनके द्वारा उसको मिटा दीजिये; और यदि वह दुःख मिटाने योग्य नहीं है तो आप उसका सामना कीजिए, उसको स्वीकार कर लीजिये और आप देखेंगे कि स्वीकार करते ही आपकी सारी बेचैनी दूर हो जायेगी—यह उसकी विशेषता है। हमने तो एक अमेरिकनकी पुस्तक पढ़ी थी—हमको उसकी बात बहुत अच्छी लगी—उसमें लिखा है कि अच्छे-से अच्छेकी आशा करो और बुरे-से-बुरेके लिए तैयार रहो।

हमारे एक भारतीय महात्माने कहा है कि भविष्यके लिए सावधान रहो और जो हो जाय उसके सामने सिर झुकाओ—यह भगवान्‌की लीला है। तो, मनुष्यको सुखी रहनेके लिए ये योगी लोग सिखाते हैं कि सत्‌में तुम्हारी स्थिति हो जायेगी तो असत् तुमको दुःख नहीं पहुँचा सकेगा। भक्त लोग सिखाते हैं यदि आनन्दमें तुम्हारी स्थिति हो जायेगी तो दुःख तुमको नहीं छू सकेगा। बात असलमें यह है कि यदि हम अपने चेतनत्वको गौण करके सत् या आनन्दके साथ सम्मिलित हो जायँ—तो दुःखकी निवृत्ति हो जाती है। योगकी समाधिमें अपनी चेतनताको गौण मानकर हम सत्तासे मिल जाते हैं; और भक्तिमें हम अपनी चेतनताको गौण करके आनन्दसे मिल जाते हैं। परन्तु यह चेतनता हमेशाके लिए गौण नहीं हो सकती; क्योंकि इसके बगैर न सत्ता भासती है और न आनन्द भासता है। इसलिए वेदान्तियोंका कहना है कि अपने चेतन प्रकाशमें अवस्थित हो जाओ। माने वह तो आपका अपना स्वरूप ही है। उसकी दिक्‌कालसे अपरिच्छिन्नताको, ब्रह्मताको जान लो; तब कोई खण्ड वस्तु तुमको दुःखी नहीं कर सकेगी। इस तरह से बहिरंग कर्मका नाम धर्म है और अन्तरंग कर्मका नाम योग है; अन्तरङ्ग प्रीतिका नाम भक्ति है और परमान्तरङ्ग प्रीतिका नाम योग है। परन्तु तत्वज्ञान न बहिरंग है, न अन्तरंग है, न परमान्तरंग है। फिर यह क्या है कि यह परमार्थ स्वरूप है, असंग आत्म-स्वरूप है, यह आध्यासिक नहीं है।

इसलिए हमारे जो गीता-वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि आप सुखी कैसे होना चाहते हैं—हम गीतामें-से आपको एक श्लोक सुनावेंगे—क्या आप नशा कर-करके सुखी होना चाहते हैं? क्या अपने आपको मोहमें डालकर, अपने आपको सम्मोहित करके सुखी होना चाहते हैं? हम टी० बी० अस्पताल (वृन्दावनमें) कई बार गये। तो जिनके पास हम गये उनको ऐसी आशा थी कि थोड़े दिनोंमें वह अच्छे हो जायेंगे और वर्ष दो वर्ष के बाद बड़ा भारी व्यापार करेंगे। वह अपने जीवनसे इतना सम्मोहित था, इतना आशान्वित हो गया था कि उसको यह नहीं लगता था कि उसको इतनी प्रबल टी० बी० हो गयी है और वह अधिक दिन नहीं जी सकेगा, मर जायेगा। (उसी रातको उसकी जिन्दगी खतम भी हो गयी)। माने, एक रात भी उसकी जिन्दगी खतम होनेमें नहीं थी और वह अपने लिए मानता था कि हम अभी बहुत दिनों तक जिंदा रहेंगे—इसीका नाम आत्म-सम्मोहन है। देखो, दुर्योधनने अन्त तक बात नहीं मानी। भीष्म मर गये, द्रोण मर गये, कर्ण मर गये और दुर्योधनके मनमें यह आशा बनी रही कि शल्य महाभारत युद्धमें विजय प्राप्त करेगा। इसी तरह हम भी अपने शरीरके सम्बन्धमें, अपने सम्बन्धियोंके सम्बन्धमें अत्यधिक सम्मोहित हो जाते हैं—वैसे होती है वह हमारी इच्छा और हम कर बैठते हैं वैसी आशा, फिर मान बैठते हैं उसीको सत्य और इतने भ्रान्त होते हैं कि वह वस्तु हमको दुःख देकर जाती है—

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्।। (18.39)

पहले और पीछे 'यदग्रे चानुबन्धे च'—दोनों जगह केवल मोह-जन्य सुख है। कब तक मोहमें रहोगे? कब तक अन्धकार बना रहेगा! बोले—हमको कोई देखता नहीं है हम सुखी हैं। कब तक कोई नहीं देखेगा? कि हम आँख बन्द करके बैठे हैं, हम बाहर देखेंगे ही नहीं, तो हमेशा सुखी रहेंगे। बिल्कुल गलत बात है। अब बोलो कि नहीं, हम विषय और इन्द्रियोंका संयोग रखकर सुखी होंगे—हम हमेशा अपनी श्रीमतीजीको देखते रहेंगे, अपने श्रीमानजीको देखते रहेंगे, अपने पिताजीको देखते रहेंगे, अपने पुत्रजीको देखते रहेंगे। तो जहाँ विषय है कि हमको हमेशा यह खानेको मिलेगा तो क्या हमारी जीभ ऐसी ही बनी रहेगी? आपको मालूम है कि नहीं कि यह सोचना कि यह भोग हम हमेशा करते रहेंगे और सुखी रहेंगे और यह मानना कि यह चीज हमेशा हमारे पास रहेगी और यह व्यक्ति हमेशा हमारे पास रहेगा, इनके संग्रहमें

कोई बाधा नहीं पड़ेगी, यह सोचना कि यह-यह-यह हमको जरूर मिलेगा—सही नहीं है। विषयोंका संग्रह, वस्तुओंका संग्रह, विषयोंका भोग, व्यक्तियोंके बारेमें मनोराज्य और एक बात जो है वह थोड़ी-सी कड़वी है पर बोल देते हैं, जिससे थोड़ा संस्कार रहेगा आपके मनमें—जो आप सोचते हैं कि हम माला फेरते-फेरते मर जायेंगे—माला हमारे हाथमें चलती रहेगी, जीभ हमारे मुँहमें फिरती रहेगी यह सबका सब आत्म-सम्मोहन है। आपको इसके बारेमें ऐसी जानकारी होनी चाहिए या ऐसी साधना होनी चाहिए कि यदि मृत्युके समय जीभ न चली, यदि मृत्युके समय माला न हिली, यदि मृत्युके समय ध्यान न हुआ तब भी हमारे परमार्थकी प्राप्तिमें कोई बाधा नहीं पड़ेगी! तो आप केवल आभिमानिक जीवन मत व्यतीत कीजिये कि हमारे पास इतना है और यह-यह है, यह वस्तु है, यह आदमी है, वस्तुका तो कोई ठिकाना नहीं; क्योंकि चोर हैं, डाकू हैं, राजा है, पुलिस है, इनकम-टैक्स है, तरह-तरहके कानून हैं; और जो व्यक्ति हैं उनका अपना-अपना प्रारब्ध है—कोई दूसरेके प्रारब्धसे पैदा नहीं होता, कोई दूसरेके प्रारब्धसे जिन्दा नहीं रहता, हर कोई अपने साथ अपना पालन-पोषण लेकर आता है! आगेके लिए जो आप मनोराज्य करते हैं वह चींटीकी चाल है, कभी सीधी चली, कभी उल्टी चली और कभी गिर गयी। और जो आदतें आप अपने जीवनमें डाल रहे हैं कि ये आदतें हमेशा हमारा साथ देंगी तो वह तो जब तक हाथ-पाँव आपके काबूमें हैं तब तक हैं—आप चाहे सूर्य-नमस्कार कीजिये, चाहे शीर्षासन कीजिये—वह तो जब तक आपके शरीरमें ताकत है तब तक ही साथ देगा। ऐसी ही स्थितिमें संसारकी वस्तुओंके संयोगसे, भोगसे, तद्विषयक मनोराज्यसे और अपनी आदतोंसे जो आप चाहते हैं कि हम दुःखसे बच सकेंगे तो वह दुःखसे बचनेका सच्चा उपाय नहीं है।

अच्छा, तो आपका ध्यान तीन प्रकारके सुखोंकी ओर मैंने खींचा—एक मोहन-सुख जो आप अपनेको सम्मोहनमें डालकर सुखी हो रहे हैं। दूसरा, जो आप विषयों और इन्द्रियोंके संयोगसे सुखी हो रहे हैं। और तीसरा जो आप अपनी आदतोंके अनुसार वस्तुएँ मिलने पर सुखी हो रहे हैं, या क्रिया करने पर सुखी हो रहे हैं—पर ये जो सुख हैं वे टिकाऊ नहीं हैं। गीताके मतमें जो सच्चा सुख है वह हमारे भगवान् श्रीकृष्ण हमारे लिए बताते हैं। देखो वे क्या बताते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।।
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।।

(6-21,22,23)

सुख अभ्यासजन्य होगा तो जब आपका अभ्यास छूट जायेगा, तब वह सुख भी छूट जायेगा—इसलिए उसको आत्यन्तिक बताया। जो सुख देशान्तरमें होगा या अन्तर्देशमें होगा और तदाकार बुद्धिसे मिलता होगा तो जब बुद्धि छूट जायेगी तो वह भी छूट जायेगा। अतः सच्चा सुख तदाकार वृत्तिजन्य नहीं है—बुद्धिग्राह्यम्। जो सुख इन्द्रिय और विषयके संयोगसे उत्पन्न है वह नाशवान होगा। अतः सच्चा सुख अतीन्द्रियम् है। अतीन्द्रियम्—इन्द्रियोंसे जो सुख मिलता है उसमें विषय भी नाशवान है और इन्द्रियोंकी शक्ति भी सीमित है। तो अतीन्द्रियम्—सुख ऐसा होना चाहिए जिसमें विषय और इन्द्रियोंके संयोगकी अपेक्षा न हो। माने यह खानेको मिलेगा, यह पहननेको मिलेगा, यह भोगनेको मिलेगा—ऐसी स्त्री होगी, ऐसा पुरुष होगा तब हम सुखी होंगे, ऐसा नहीं। आपने अपनी कल्पनाके जालमें स्वयंको ऐसा उलझा लिया है कि आप फँस गये हैं आपका सुख इन्द्रिय और विषयके संयोगसे विलक्षण होना चाहिए। राजसी सुखसे विलक्षणता अन्तीन्द्रियम्में है और बुद्धिग्राह्यमें मोहन सुखसे विलक्षणता है। आपकी समझ बिल्कुल जागती रहनी चाहिए; और आध्यात्मिक सुखसे विलक्षणता, सात्त्विक सुखसे विलक्षणता सुखमात्यन्तिकम्में है। अतीन्द्रियम्से नाशवानसे विलक्षणता बतायी; जो पैदा होगा सो मरेगा—आज मरे कि कल मरे।

तो भगवान् श्रीकृष्ण आपको कैसा सुख देना चाहते हैं कि जो इन्द्रिय और विषयके संयोगके बिना हो, जो तदाकार वृत्तिके बिना हो,

और जो अभ्यासके बिना हो। सत्त्व-रज-तम इनसे जो सुख होता है वह आभ्यासिक होता है, श्रीकृष्ण आपको जो सुख देना चाहते हैं वह तीनोंसे विलक्षण है। तो देखो, अगर आपको ऐसा लगता है कि आप बना सकते हैं उसको तो, आप बना लीजिये और उस खेल-खिलौनेको भी देख लीजिये। लेकिन, यदि यह लगता है कि हम नहीं बना सकते हैं तो फिर उधरसे मन हटानेके सिवाय और कोई उपाय नहीं है और मन ऐसा है कि यह हुकुम देनेसे नहीं मानता है, क्योंकि आपने बचपनसे अबतक मनका हुकुम माना है, अपना हुकुम मनपर नहीं चलाया है। आपने अपने गुरुकी आज्ञा नहीं मानी, अपने मनकी मानी; आपने शास्त्रकी आज्ञा नहीं मानी, अपने मनकी आज्ञा मानी; आपने ईश्वरके वचन नहीं माने, अपने मनके वचन माने; आपने समाजकी नहीं सुनी अपने मनकी सुनी; आपने धर्मकी नहीं सुनी, अपने मनकी सुनी और इस तरह आपने अपने मनकी आदत ऐसी बिगाड़ ली कि अब यदि आप कभी अपने मनको आज्ञा देते हैं तो आपका मन आपकी आज्ञा नहीं मानता है, वह कहता है कि जिन्दगी भर तो तुमने हमारी आज्ञा मानी आज हमको आज्ञा देनको चले हो, कौन होते हो तुम आज्ञा देनेवाले: देखो, बात ऐसी है—आजकलके विज्ञान-विशारदों-को तो अच्छी नहीं लगेगी, लेकिन हम अपने हृदयकी पीड़ा आपको सुनाते हैं—यह हमारे हृदयकी वेदना है—मनुष्यके जीवनका, साधकके जीवनका सबसे बड़ा सौभाग्यपूर्ण क्षण है जब उसका मन किसीकी आज्ञाके अनुसार चलता है जब हमारा मन किसीके अनुशासनमें चलता है, वासनाके अनुसार नहीं चलता है, शासनके अनुसार चलता है।

तो, यह देखो हमारा मन कितनी आज्ञाएँ हमको देता है कि मानो हम उसीके गुलाम हैं, हमें अपने मनको स्वस्थ व आज्ञाकारी बनाना पड़ेगा और उसके लिए हमको अपने जीवनमें दैवी-सम्पदा धारण करनी पड़ेगी।

दैवी-सम्पदा धारण करना क्या है कि आप अपने बारेमें सोचिये—स्वाध्याय कीजिये! आप दूसरेके बारेमें सोचते हैं कि वह चोर है, पर, आप अपने बारेमें तो सोचिये कि आपके मनने अब तक क्या-क्या चोरी की है—सोचिये! आप दूसरेके बारेमें सोचते हैं कि वह व्यभिचारी है, आप अपने मनके बारेमें भी सोचिये! स्वाध्याय माने अपना अध्ययन। एक शास्त्रमें लिखा है कि मनुष्य बुड्ढा क्यों होता है? लोग होना तो नहीं चाहते; लेकिन होते क्यों है? वहाँ बताते हैं मनुष्य जीर्ण इसलिए होता है कि एक बार खाया हुआ जीर्ण होनेसे पहले ही वह दुबारा खा लेता है। आया ध्यानमें? और बिल्कुल जीर्ण हो जानेके बाद भी—माने वह भोजन किया हुआ कबका पच गया और भूख लगी है और भी बहुत देर तब नहीं खाया, तो इससे भी बुड्ढा होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि गीता माता, भगवान् श्रीकृष्ण जैसा हमको कहते हैं कि हित-मित भोजन करना चाहिए, वैसा हमारा भोजन होना चाहिए। आप अपने भोगके बारेमें अध्ययन कीजिये, आप अपने कर्मके बारेमें अध्ययन कीजिये—आप क्या कहते हैं, क्या बोलते हैं? क्या आप देवताका सत्कार करते हैं? छोटी-छोटी बात आपको सुनाते हैं। पहले सत्संग करनेके लिए स्वर्गाश्रम जाया करते थे। गंगा स्नान करते थे, बहुत लोग आबदस्त गंगामें ही ले लेते थे, बहुत लोग गंगा-किनारे टट्टी हो लेते थे, वहीं मूतते थे, वहीं थूकते थे, वहीं दातुन करते थे, फेंकते थे। सेठ जयदयालजीको रोज दस मिनट इस विषयपर व्याख्यान देना पड़ता था कि आप गंगाजीसे थोड़ी दूर लघुशंकाके लिए जायँ, थोड़ी दूर टट्टी जायँ, दातुन वहाँ नहीं फेकें। देखो तो, आप चलते-चलते रास्तेपर जब कहीं थूक देते हैं—नई रोशनीके लोग भी ऐसा करते हैं—तो क्या धरती माताका इससे सत्कार करते हैं? यह धरती देवता है, आप दिन-रात सूर्यकी रोशनीका उपयोग करते हैं; लेकिन उसके प्रति सत्कारका प्रतीक दो अंजलि कि तीन अंजलि पानी आपको देना पड़े तो नहीं देते हैं। आपके मनमें सूर्यके प्रकाशको लेनेकी तो इतनी आतुरता है; परन्तु देनेवालेके प्रति बदलेमें कुछ देनेकी भावना नहीं है। छोड़ो इस बातको कि सूर्य लेता है कि नहीं लेता है-लेकिन आप जिससे रोशनी लें उसको तीन अंजलि जलकी क्यों नहीं दे सकते, इसीलिए कि उस अंजलिको देनेके लिए थोड़ा सबेरे उठना पड़ता है, आप अग्निसे कितना काम लेते हो, पर आप होम नहीं कर सकते। हमारे गीताके भगवान् हमको कहते हैं कि देवताका आदर करो, क्योंकि उनसे आपकी इन्द्रियोंको शक्ति मिलती—पृथिवी गन्ध देती है, जल आपको रस

देता है, अग्नि आपको तेज देता है, सूर्य आपको प्रकाश देता है, चन्द्रमा आह्लाद देता है, वायु आपको साँस देता है; जिनसे आप कुछ लेते हैं उनको यदि कुछ देनेकी आदत आपको नहीं पड़ेगी तो आप मनुष्योंके साथ भी ऐसा ही बर्ताव करेंगे–कहेंगे कि इनका तो हमको खिलाना धर्म था, इनका कर्तव्य है कि इन्होंने खिलाया। एक छोटी–सी कहानी आपको सुनाते हैं। बहुत छोटी-सी है, पर आपको कहानी पसन्द न हो तो भी ऊबना मत। इन्द्रको मालूम हुआ कि कर्णके पास ऐसा कवच है कि उसपर किसीका अस्त्र-शस्त्र नहीं लगता। तो उन्होंने सोचा कि हमारा बेटा अर्जुन उसको मारेगा कैसे? तो, ब्राह्मण बनकरके कर्णके सामने इन्द्र आये! कर्णका यह नियम था कि स्नान-पूजाके बाद कोई भी ब्राह्मण या और कोई भी आकर उससे कुछ माँगता तो उसको वह जरूर देता। तो इन्द्रने ब्राह्मण बनकर उसका कवच माँगा! कवच उसके शरीरके साथ जन्मसे ही पैदा हुआ था, फिर भी कर्णने स्वयं चाकू लेकर जगह-जगहसे अपना चाम काटा और वह कवच निकाला और निकालकर उसने इन्द्रको दे दिया। हे भगवान्! इन्द्र जब वह कवच लेकर चले तो उनका पाँव धरतीमें जम गया, उठे ही नहीं। अब तो इन्द्र व्याकुल हो गये–आये थे बेटाकी जीत कराने कवच माँगकर और यहाँ तो खुद ही हार गये। अब क्या करें? आकाशवाणी हुई कि इन्द्र तुमने कर्णसे लिया बहुत है और उसको दिया कुछ नहीं है। तो, जबतक तुम उसको कुछ दोगे नहीं तुम्हारी गति अवरुद्ध रहेगी, तुम आगे नहीं बढ़ सकते। जिससे लेते हैं उसको देना पड़ता है यह सिद्धान्त है, तो जब तुम दोगे, तब तुम आगे बढ़ सकोगे। तब इन्द्रने कर्णको एक शक्ति दी कि तुम इसका प्रयोग जिसके ऊपर करोगे वह मर जायेगा और तब इन्द्रको अपनी गति फिरसे मिली! हमें कहना क्या है कि आप देवताओंसे इतना लेते हैं, पंचभूतोंसे इतना लेते हैं, उनको देते क्या हैं? इसपर विचार करो!

हम अपने जीवनको बड़ा श्रेष्ठ मानते हैं–आहा हमारे सरीखा साफ-सुथरा, हमारे सरीखा सूट-बूटवाला, हमारे सरीखा बोलनेवाला भला कौन है? यह कृतघ्न मनुष्य, जो समष्टिसे इतना लेता है, समष्टिको देता क्या है? वह थूक देता है, वह विष्ठा देता है, वह मूत्र देता है, वह बाल देता है, वह जहाँ जाता है वहाँ धरतीको गन्दा करता है, प्रकाशको गन्दा करता है, वायुको गन्दा करता है, जलको गन्दा करता है। जिससे इतना लेता है उसको देता है गन्दगी और अपने जीवनको कितना श्रेष्ठ समझता है!

देखो, द्विज है। द्विजसे संस्कार मिलता है–आहार शुद्ध होना चाहिए, धर्मानुकूल आहार होना चाहिए। वेश्यासे सन्तान होगी तो क्या उसका गर्भाधान-संस्कार होगा? धर्मानुकूल सन्तानकी उत्पत्ति हो इसके लिए संस्कार होता है। जिसे हम संस्कार बोलते हैं उसका आदर करना चाहिए। गुरुसे हमको परमार्थका मार्ग मिलता है, उसका आदर करना चाहिए, प्राज्ञसे, बुद्धिमानसे हमें बुद्धि प्राप्त होती है, जीवनमें हमें सलाह मिलती है, उससे हम सलाह लेते हैं, तो उनका सत्कार करना हमारा धर्म है-जिनसे कुछ मिलता है उनका यदि सत्कार करोगे तो तुम्हें उसके बदलेमें और-और बुद्धि प्राप्त होगी।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम् (17.14)

यह हुआ दूसरोंके प्रति कर्तव्य। अब अपने प्रति कर्तव्य क्या है? कि अपने तन और मनको पवित्र रखो। और अपने अहंकारके प्रति कर्तव्य है कि 'आर्जवम्'-सरल रहो, कपट मत करो। अपने गृहस्थ-धर्मके अनुसार ब्रह्मचर्य रखो, दूसरेको दुःख मत पहुँचाओ। यह देखो-'स्वाध्यायस्तप-आर्जवम्'-आपके जीवनमें तपस्याका आविर्भाव हो। यह जो है-'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्'-यह भी तपस्या है। हमारे दैनिक जीवनके साथ इस बातका सम्बन्ध है। जिसने इतना संस्कार दिया, उस द्विजातिके प्रति, जिसने इतनी शक्ति दी उस देवताके प्रति, जिसने परमार्थका मार्ग बताया उसके प्रति, जो संकटके समय हमारी बुद्धिको ठीक रास्ता बताता है उस बुद्धियोगीके प्रति आदर नहीं-तो हमारा जीवन सुखी कैसे हो? हमारे जीवनसे दुःखकी निवृत्तिके लिए इसकी आवश्यकता है।

अब देखो, कि बोलना कैसे? एक सज्जन हैं, वे अपने बच्चोंको बहुत संभालते हैं, बड़ा संस्कारी बनाना चाहते हैं! एक बार वे अपने बच्चेको छोड़कर आठ दिनके लिए कहीं बाहर चले गये। बच्चा नीचे छोटे लोगोंमें खेलने लगा। जब लौटकर आये तो उस बच्चेने गाली देना शुरू कर दिया। बोले, अरे यह कहाँसे सीख लिया रे भाई! आप जरा अपने वचनपर भी ध्यान दीजिये, आप क्या बोलते हैं, कैसे बोलते हैं? आपकी वाणीमें-से

आपके भीतर जो आनन्द है वह जाहिर होता है कि आप दूसरेको उद्विग्न करते हैं? कई ऐसे लोग होते हैं महाराज कि कहते हैं कि आज ऐसा डंडा मारा कि एक ही डंडेमें चूर-चूर हो गया-यह हिंसक मनोवृत्ति है। फिर कई कहते हैं कि आज ऐसी बात कही है बच्चूको कि-तिलमिला गया! हमें तो कृष्ण भगवान्, जैसे माँ बोलना सिखाती है बच्चेको, वैसे बोलना भी सिखाते हैं-

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।

(17.15)

जरा अपनेको तपाओ भाई! दूसरेको तकलीफ देनेकी कोशिश क्यों करते हो? दूसरेको तकलीफ देनेवाला स्वयं तकलीफ पाता है। एक आयुर्वेदाचार्य कहते हैं कि यदि आप अपना बोलना सुधार लें तो आपके शरीरमें रोग नहीं हो! जैसे जहाँसे बिजली गिरती है वहाँ भी तो अपना कुछ असर छोड़ती है। वैसे ही जब आप दूसरेको दुःख पहुँचानेके लिए उग्र वाग् धाराको शब्दोंका रूप देते हैं तो इस प्रक्रियामें आपका हृदय भी जलता है-यह नहीं है कि आप सुखी-सुखी दूसरेको सताते हैं-आप अपने दिलमें आग लगाकर, अपनी जीभ जलाकर, अपना शब्द जलाकर तब दूसरेको जलाते हैं-तो, बोलना कैसा चाहिए?

यह हमारे आयुर्वेदके मूल विद्वानोंका कहना है कि सत्य बोलो। वे बोलते हैं कि झूठको छिपानेके लिए शक्तिका बहुत बड़ा अपव्यय होता है, एक बार आप झूठ बोलो तो उस झूठको बनाये रखनेके लिए सत्तर झूठ बोलना पड़ता है, उसमें बड़ी शक्ति व्यय होती है! मत बोलो-ऐसा चल सकता है, क्योंकि आप सत्य बोलनेके लिए बाध्य नहीं हैं। बोले-कि नहीं, हम तो सत्य-सत्य बोलेंगे ही तो यह आवश्यक नहीं है। मनुस्मृतिमें लिखते हैं कि किसी अविवाहिताको यदि पेटमें बच्चा आ गया हो तो भरी सभामें उसके पिताको यह मत कहिये कि मैं सत्य बोलता हूँ-तुम्हारी लड़कीके पेटमें बच्चा है! आपने सत्य तो बोला पर बोलकर जो उस आदमीकी बेईज्जती की, जो लोगोंमें उसकी बदनामी फैलायी, जो उसके दिलको क्लेश दिया उसमें हिंसा आ गयी। आप सत्य बोलिये, परन्तु हिंसाके साथ सत्य मत बोलिये; मुँहफट होनेका नाम सत्यभाषी नहीं है। सत्य बोलिये, झूठ तकलीफ भी बहुत देता है, परन्तु यदि सत्य बोलनेसे दूसरोंको तकलीफ पहुँचती हो तो आप वह सत्य बोलकर हिंसा मत कीजिये! एक ओर सत्य बोलनेका गुण है तो दूसरी ओर दुःख पहुँचानेका पाप भी है!

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।

यह मनुजीका श्लोक है! किसीकी कुँआरी कन्याको गर्भ रह गया है-यह बात किसीको कहनेकी नहीं होती है। तो देखो, यह बात आपको आयुर्वेदके आचार्य बताते हैं कि आप यदि सत्य बोलेंगे तो बीमार नहीं पड़ेंगे। हितकारी बोलिये-किसीसे यदि बात करनी हो तो उसकी भलाईकी हो तो बोलिये, अपने स्वार्थके लिए बोलना-यह कोई बोलनेका ढंग नहीं है। एक सज्जन आये एक बार हमारे पास। इटावेमें बड़े भारी विद्वान हैं, वकील हैं। उन्होंने हमसे पहले भूत-प्रेतकी बात की। पर, जब देखा कि हमारी रुचि उसमें नहीं है तो फिर इधर-उधरकी चर्चा की, ब्रह्मकी चर्चा की और तीन घंटे तक मैं संकोचके मारे उनसे बात करता रहा-मानो हमारे तो कोई काम ही नहीं है, हम तो निकम्मे रहते हैं-तीन घण्टे तक मुझसे बात करते रहे और फिर जानेका प्रणाम कर लिया, उठकर दरवाजे तक चले भी गये, पर फिर लौटकर आये-आ हा-हा-स्वामीजी, एक बात तो रह ही गयी। कि क्या बात रह गयी? बोले कि जहाँ हमारा घर है वहाँ जे. के. वालोंकी 2-3 बीघेकी जमीन पड़ी है-यदि यह हमारेको दे दें तो हमारा बड़ा काम हो जायेगा! आप जरा उनसे कह दीजिये! मैंने कहा-तुम यह बात भूल गये कहना? यह तो तुमको पहले ही कह देना था, पन्द्रह मिनटमें हमारी बात तय हो जाती, यह इतना भूत-प्रेत और यन्त्र-तन्त्र वह सब तुमने काहेको किया, सीधा ही बोल देते! तो, देखो अपना जरा-सा हित करानेके लिए हमारे तीन घण्टे खराब किये।

सत्य बोलो, प्रिय बोलो, हित बोलो और मित बोलो-मित बोलो माने थोड़ा बोलो और अवसरोचित बोलो। एक माता है वह हमारे पास कभी-कभी भोजनके समय आती है, तो वह मुझे क्या बताती है कि 'हमारी नानीका और मौसीका फलां-फलां और फिर बताती है कि हमारे बेटेने

शराब पीली थी तो उसको वह कै हुई कि'-अब देखो, हमारा तो भोजनका स्वाद ही बिगड़ जाता है-अरे भई, जिस बातसे हमारा कोई प्रयोजन नहीं है उसको क्यों बोलते हैं? तो सत्य बोलना, प्रिय बोलना, हित बोलना और मित बोलना और अवसरोचित बोलना-माने समयके अनुसार बोलना और कहना आवश्यक हो तब कहना-यदि उसको कहे बिना सामनेवालेका कोई नुकसान होता हो, अपना कोई नुकसान होता हो या दूसरेका नुकसान होता हो तब तो कहना और नहीं तो नहीं बोलना- *'बोलिये तो तब जब बोलिये की रीति जानो'*-हमारे आयुर्वेदाचार्य कहते हैं कि कोई भी विवादास्पद बात-जिसके बारेमें अभी तुम्हींको ठीक-ठीक नहीं मालूम है कि यह सच है कि झूठ है मत बोलो। एकने आकर कहा कि एक हवाई जहाज गिर गया और सौ आदमी मर गये। तो, अभी जबतक तुमको ठीक नहीं मालूम है तबतक ऐसी बात कहनेकी कोई जरूरत नहीं। जब तुमको ठीक-ठीक मालूम हो जाये तब बता दो कोई हर्ज नहीं है, पर जिससे विवाद हो वह बात नहीं करनी चाहिए। इससे क्या होता है कि इससे मनुष्यकी आयु बढ़ती है, इससे मनुष्य स्वस्थ रहता है, उसके शरीरमें रोगकी उत्पत्ति नहीं होती है! आयुर्वेदके विद्वानोंका कहना है कि वाणीमें-से ऐसी आवाज न निकले जो हमारे शरीरको, हमारी आँखोंको रोग देनेवाली हो-'अनुद्वेगकरं वाक्यं'-ऐसा मत बोलिये जिससे दूसरेको उद्वेग हो, दूसरेको घबड़ाहट हो। बोलना कैसे कि जो सत्य हो, प्रिय हो। बोले कि महाराज क्या करें जीभ नहीं मानती है, आदत पड़ी हुई है कि अच्छा, आदत पड़ी हुई तो स्वाध्यायका अभ्यास करो, जरा तपो! अपने दैनिक जीवनमें कितने लोगोंको ठीक-ठीक बोलनेका अभ्यास है? करना क्या चाहिए, यह बात अलग है, खाना क्या चाहिए यह बात अलग है-खानेमें तो बाहरसे लेना है, करनेमें परिश्रम होता है और बोलनेमें तो बाहरसे कुछ लेना भी नहीं है और ज्यादा परिश्रम भी नहीं है; लेकिन यह बात जरूर सीखें-स्वाध्याय करना-स्वाध्यायका अभ्यास कीजिये-स्वाध्याय माने अपने लिए जो अध्ययनकी जरूरत है। स्वाध्याय माने हमको क्या बोलना चाहिए, क्या करना चाहिए। आप गीतामें-से सीखिये ना! बस, एक बातका ध्यान रखिये-मुस्कान आपके होठोंको न छोड़े-आपकी चितवन और मुस्कान दोनोंमें दोस्ती हो जाये, आँख और मुस्कान दोनों दोस्ती कर लें आपसमें और हर समय मुस्कुराती रहें-यह मुस्कान क्या है? कि यह मुस्कान यह है कि हमारे मनमें जो उत्तम भाव है, निर्मलता है वह हमारी आँखों व मुस्कानसे प्रकट होती है। वर्णन आता है कि जब कोई आता था तब श्रीरामचन्द्र क्या करते थे? कि मुस्कुराकर पहले ही बातचीत शुरू कर देते थे, यह नहीं कि सिर खड़ा किये और आँख नीची किये बड़े गम्भीर बनकर बैठे हैं कि ये पहले हमको नमस्कार कर लें। वे तो पहले ही आइये-आइये बोलते और बोलते-बहुत दिनोंमें आप मिले, इतनी देर क्यों की आपने हमारे पास आनेमें? पूर्वाभिभाषी थे वे-पहले वे बोलते थे और मुस्कुराकर बोलते थे। तो, यह हमारे बोलनेका ढंग होना चाहिए।

भागवतमें ऐसी-ऐसी चर्चा है कि बोलना कैसा? कि इसके लिए- सार सुष्ठु मितं मधु-एकदम देहाती भाषामें बोलने पर नागरिकोंकी अरुचि हो जाती है और एकदम संस्कृत भाषा बोलने पर साधारण लोग समझते नहीं। इसलिए भाषा कैसी बोलनी चाहिए कि वह बिलकुल देहाती भी न हो और बिलकुल क्लिष्ट भी न हो, मध्यम हो। आप हमेशा मुस्कराकर बोलिये और अपने मनको हमेशा निर्मल रखिये, किसीके प्रति छल-कपट-द्वेषका भाव अपने मनमें न हो-मन:प्रसाद। सौम्यत्वं-सरल भावसे सबसे बात कीजिये, ठगनेके लिए नहीं; जैसे व्यापारी लोग आपके सामने आकर कहते हैं कि आइये बैठिये और थोड़ा स्वागत-सत्कार किया, थोड़ा कोका-कोला पिला दिया और उसके बाद आपके पर्सका पैसा निकलवा लिया। तो यह व्यापारियोंकी जो सरलता है, सौम्यता है वह ठगीके लिए है, वह आपके जीवनमें न हो! जैसे वाणीसे मौन होता है वैसे ही मनसे भी मौन होता है, आपके मनकी शक्ति बेमतलब जाया होती रहती है-यह सोच लेते हैं कि अरे! अभी वह यह कर देगा, वह यह कर देगा, अमेरिका यह कर देगा और रूस यह कर देगा-अब वे क्या करेंगे यह तो आपको मालूम नहीं है, और अपने मनको बेमतलब घुमाते रहते हैं। तो, अपने मनको एक लक्ष्यमें लगाइये और भाव हमेशा शुद्ध रहे।

✯

प्रवचन : 22

दैवी सम्पदा अर्जित कीजिये-5

(अहिंसा, सत्य, अक्रोध, अद्रोह)

आप देखो, जरा दैवी-सम्पत्ति पर ध्यान दो। आप देखो-अद्रोह, अक्रोध, अहिंसा तीनों एक ही जगह हैं-

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।

(16-2,3)

आप ध्यान दो-अद्रोह क्या है, अक्रोध क्या है और अहिंसा क्या है! जैसे बनिया लोग अपनी दुकान पर रखी हुई चीजोंकी 'क्वालिटी' पहचानते हैं कि यह कपड़ा किस सूतसे बना है, वह कपड़ा किस सूतसे बना है, यह कौन-सी डिजाईन है, कौन-सा रङ्ग है और सूतको देखकर एक कपड़ेकी कीमत बहुत ज्यादा होती है और एक कपड़ेकी कीमत बहुत कम होती है-सामान्य ग्राहक उस बातको नहीं पहचान सकता। आप दैवी सम्पदाके ग्राहक हैं तो आपको पहचानना पड़ेगा कि अद्रोह क्या है, अहिंसा क्या है, अक्रोध क्या है, फिर हम 'यम' की बात आपको सुनाते हैं।

सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह-ये पाँच यम हैं। यहाँ है-'अहिंसा सत्यमक्रोधः'-आप अपनेको जाँच लीजिये कि आप सत्यके कितने प्रेमी हैं तो परमात्माके प्रेमी कैसे हो सकते हैं? आपका मन ही सबसे बड़ी वस्तु नहीं है? अच्छा देखो; झूठसे बचनेके लिए सत्य है; क्रोधसे बचनेके लिए अहिंसा है; दूसरेका माल उसकी इजाजतके बिना लेनेसे बचानेके लिए अस्तेय है; कामकी पराधीनता मिटानेके लिए ब्रह्मचर्य है; और अपने हकके नाम पर बहुत-सा इकट्ठा करके रख लें-इससे बचानेके

लिए अपरिग्रह है। अब देखो, इसमें हुआ क्या कि चोर तो हैं पाँच-झूठ, हिंसा, चोरी, काम और अनावश्यक संग्रह। इन पाँच दोषोंसे बचानेके लिए ये पाँच यम हैं। परन्तु इसमें चोरी और संग्रह वास्तवमें एक ही लोभ नामक दोष है। यह लोभ दोष इतना पहलवान है कि उसके सामने दो पहलवान भेजने पड़ते हैं-लड़नेके लिए। लोभके दो रूप-एक दूसरेका धन ले लेना और दूसरा अपने पास बहुत धन इकट्ठा कर लेना, किसीको न देना। इन दोनोंकी निवृत्तिके लिए पाँचमें-से दो पहलवान अस्तेय और अपरिग्रह अकेले लोभके सामने खड़े किये गये हैं। हमारे जीवनमें अस्तेय और अपरिग्रह दोनों आने चाहिए, तब हम दैवी-सम्पदाकी ओर चलते हैं।

अब, एक अक्रोधकी बात भी आपको सुना देता हूँ। अद्रोह, अक्रोध, अहिंसा-आपको क्रोध आता है, क्रोध हिंसापर्यन्त जाता है और हिंसा द्रोहपर्यन्त जाती है। मूलमें अहंकार और अहंकारके आश्रित हैं द्वेष और फिर द्वेषसे आता है क्रोध, क्रोधसे आती है हिंसा और हिंसा द्रोहका रूप धारण करती है-

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।

अपना जो बड़प्पन है, अपना जो मैं है, वह सबके बीचमें घुस जाता है! और यह तो आप जानते ही हैं कि परब्रह्म परमात्माके अज्ञानसे ही यह मैं-पना है। अज्ञान और भ्रान्ति वेदान्तोंमें दो चीज हैं। यह जो पोथी रखी है आपके सामने इसको न जानना अज्ञान है और रखी हुई पोथीको दूसरी चीज जान लेना-कपड़ा जान लेना-यह भ्रान्ति है। तो, अपनेको परमात्मा न पहचानना अज्ञान है और अपनेको जीव मानना यह भ्रान्ति है; और जीवके साथ रहता है राग। और जब एकसे होता है राग तो दूसरेसे होता है द्वेष। द्वेष क्या चीज है कि ज्वलनात्मक वृत्तिका नाम द्वेष है, जब किसीको देखकर, किसीकी बात सुनकर, किसीकी रहनीसे अपने दिलके भीतर जलन होने लगे तब समझना कि द्वेष आ गया। द्वेष आता है तब मनमें क्रोध आता है। क्रोध क्या है कि यह सुखके सारे दरवाजेको बन्द कर देता है। जिसके मनमें किसीके प्रति भी क्रोध हो, जितनी देर तक क्रोध रहेगा उतनी देर तक उसको सुख व शान्ति नहीं मिल सकती-'अशान्तस्य कुतः सुखम्'-जिसके भीतर अशान्ति भरी हुई है उसको सुख

कहाँसे मिलेगा। आप जरा देखो-क्रोध जब वाणीमें आता है, जब हाथमें आता है, जब दूसरेको मारनेकी योजना बनती है तब उसका नाम हिंसा हो जाता है और जब दूसरोंको भी वही काम करनेके लिए उकसाते हैं कि हमारे दुश्मनको मारनेके लिए तुम भी चलो तब द्रोह हो जाता है। जब दूसरोंको उकसाते हैं तब द्रोह, जब स्वयं हाथ चलाते है, दूसरोंको दुःख पहुँचानेके लिए तब हिंसा और उससे पहले जो जलन हुई तो द्वेष और यह सब हुआ अहंकारमें और अहंकार हुआ भ्रान्तिसे और भ्रान्ति हुई परमात्माके अज्ञानसे।

अब देखो आप, आपके कलेजेमें जो पोथी लिखी है-जिसकी किताब आपका कलेजा है, आपका दिल है उसके पन्ने उलटिये! वही हम आपको सुनाते हैं। एक हिंसाका प्रताप देखनेमें आया। अभी थोड़े दिनों पहले काशीसे कहीं जा रहे थे-काशीसे भी बहुत ऊपर जाकर तब नाव मिलती है। तो उसपर जाकर बहुत लोग बैठ गये। पुलिस वाले आये। उन्होंने कहा-उतरो, उतरो नाव डूब जायेगी। दो साधु भी थे। उन्होंने कहा कि हम सबसे पहले आकर बैठे थे जब नाव बिलकुल खाली थी, तबसे आकर बैठे हैं इसलिए हमारा पार जानेका अधिकार है, हम नहीं उतरेंगे। अब महाराज, पुलिसवालेको आया गुस्सा। उसने 2-4 चपत एक बाबाजीको रसीद कर दिये, दो में-से-एक बाबा तो चुप बैठे रहे और एक बोलते थे। तो जो चुप बैठे थे उनको 2-4 चपत लगा दी। बाबाजी कुछ बोले नहीं, उतरे भी नहीं। आखिर उनकी जिद्द पूरी हुई, नाव चली। नाव चली तब दूसरे (बोलनेवाले) साधुने न बोलनेवाले साधुसे कहा कि बाबाजी, इसने आपको अन्यायसे मारा है तो आप भी इसको कुछ कह दीजिये। आपको मारनेके बदलेमें दो बात तो कह दीजिये। वह साधु कुछ बोला नहीं। सिर्फ मुस्कुरा दिया वह और चुपचाप बैठा रहा। साधुके स्वभावमें क्षमा होती है-क्षमा! यह दैवी-सम्पत्ति है। अपराधीके प्रति जो सत्पुरुषका व्यवहार है उसका नाम क्षमा है और जो ढेलेके बदलेमें ढेला मारता है और जो शब्दके बदले शब्द मारता है, वह तो आसुरी सम्पदाका ही लक्षण है, यह कोई दैवी-सम्पदाका लक्षण नहीं है। कोई हमारा बुरा चाहता है तो हम भी उसका बुरा चाहने लगे, तो जो दोष हमने दूसरेमें देखा वही तो हमारे अन्दर आ गया ना? अब नाव पर कोई 100 आदमी होंगे, उनके देखते-देखते ऐसा हुआ कि नाव जाकर रामनगर किलासे टकराई और वहाँ लोहेके सींकचे लगे हुए थे, तो एक सींकचा ऐसा धँसा उस सिपाहीके पेटमें कि वह वहीं सूली पर टँग गया और नाव आगे बढ़ गयी-

साधु अवज्ञा कर फल ऐसा,
जरइ नगर अनाथ कर जैसा।
साधु अवज्ञा तुरत भवानी,
कर कल्याण अखिल कै हानी।।

उसकी जो अहिंसा थी वह उसके हृदयमें तो अहिंसा बनी रही लेकिन, प्रकृतिमें वह अहिंसा नहीं रही, प्रकृतिके राज्यमें जाकर वह हिंसा बन गयी। तो देखो, द्रोह होता है तब जब हम दूसरेको उकसाते हैं कि इसका विरोध करो, हिंसा होती है तब जब हमारे हाथ-पाँव-मुँह सब दूसरेके विरोधमें क्रियाशील हो जाते हैं और क्रोध होता है तब, जब चित्तवृत्ति तिलमिला उठती है। आपको दैवी-सम्पदा धारण करनी है तो आप क्या चाहते हैं कि इन दोषों पर, दुर्गुणों पर हम विजय प्राप्त न करें? कि जो होता है सो होने दो। आराम-कुर्सी पर आरामसे एयर-कण्डीशनमें बैठे हैं और फिर यह बोलें कि मनमें जो आता है सो आने दो तब तो चल सकता है, लेकिन व्यवहार-भूमिमें आप उतरें और कहें कि जो होता है सो होने दो तो ऐसे नहीं चलेगा! व्यवहारमें यदि आपको जाना होगा तो जैसे आप यात्रा करते हैं कहींकी तो थोड़ी-सी पूँजी, थोड़ा-सा पैसा अपने हाथमें लेकरके जाते हैं वैसे ही तब आपके पास दैवी-सम्पदा होनी चाहिए। कहीं आप यात्रा करें तो 10-15 रुपया आपके पास होना चाहिए। इसीका नाम सम्पदा है-कहीं मोटर खराब हो जाती है, कभी कुछ खाने-पीनेकी जरूरत पड़ जाती है, कभी किसीको कुछ देनेका, किसीकी मदद करनेका मन हो जाता है। अपने पास 10 रुपया जरूर होना चाहिए। तो, जब आप व्यवहारमें जाते हैं तब यह जो सौजन्यकी सम्पत्ति है-दैवी-सम्पत्ति है-दैवी-सम्पत्ति माने सुजनताकी जो सम्पत्ति है उसको लेकरके व्यवहारमें उतरेंगे। लोग कहेंगे कि हमारा मन, हमारा मन, हमारा मन-तो मनकी पूजा करने लगेंगे और भगवान्की पूजा बिलकुल छूट जायेगी। कहीं अपने मनको दबाना पड़ता

है-पर, यह भी एक सीखनेकी बात है। फिर बोले-भाई, हमारे मनमें आया और हमने कह दिया, हमारे मनमें आया कि गाली दें तो दे दिया। तो आप निश्चित समझो इसीको पागल कहते हैं-हमारे मनमें यह चीज खानेकी आयी और हमने खा ली; हमारे मनमें गाली देनेकी आयी और हमने दे दी। तो, जो मनमें आवे सो ही करना-पागलका लक्षण है, सत्यके प्रेमीका लक्षण नहीं है। मनको अनुशासनमें रखना ही चाहिए।

देखो, आपके मनमें क्रोध क्यों आता है? तो मूलमें तो अज्ञान है ही है। अज्ञान-मूलक भ्रान्ति, भ्रान्तिसे अहंकार, अहंकारसे द्वेष, द्वेषसे क्रोध, क्रोधसे हिंसा, हिंसासे द्रोह। तो, आपके मनसे क्रोध क्यों आता है? कि क्रोध इसलिए आता है कि आपके मनके मुताबिक नहीं हुआ-काम ही क्रोधका हेतु है। यदि आपके मनमें यह नहीं होता कि यह बच्चा ऐसे करे, यह स्त्री ऐसे करे, यह पड़ोसी ऐसे करे-आप स्वयं दूसरोंकी कामनाके अनुसार नहीं चल सकते, अपनी कामनाके अनुसार दूसरोंको चलाना चाहते हैं। आपके मनमें काम बढ़ गया है, इसलिए क्रोध आता है। एक बात और है-ये तपस्वी लोग जो क्रोधी हो जाते हैं-वे भी अभिमानके कारण ही होते हैं। हमारे एक सज्जन हैं, उन्होंने 24-24 लाख गायत्रीका अनुष्ठान कई बार किया, पर उनको गुस्सा ऐसा आता है कि पास-पड़ोसके, १०० मील तकके लोग उनको दुर्वासाजी बोलते हैं-उनका नाम ही दुर्वासा पड़ गया-ब्रह्मचारी हैं वे। यह ठीक है, गायत्रीका अनुष्ठान किया वह भी ठीक है, किसीमें कुछ गड़बड़ नहीं है, पर कहते हैं कि मैंने 24-24 लाख गायत्रीका अनुष्ठान किया है-इतना बड़ा मैं महात्मा और मेरी बात न मानी जाये, ऐसा कैसे होगा और वे तुरन्त नाराज हो जाते हैं। तो, अपनी कामनाकी जब प्रधानता होती है तब उसमें बाधा पड़नेपर क्रोधकी उत्पत्ति होती है। आपने गीतामें पढ़ा ही है-

कामात् क्रोधोऽभिजायते। (2.62)

क्रोधके बापका नाम क्या है? बोले-काम। असलमें कामनापूर्ति जब होती है तब उससे दो सन्तान पैदा होती है। कामकी दो सन्तान हैं-अगर कामनाकी पूर्ति हो गयी तब तो लोभ नामक सन्तान पैदा होती है और यदि पूर्ति न हुई तो क्रोध नामक सन्तान पैदा होती है-दोनों कामके बेटे हैं-लोभ और क्रोध; और यह काम जो है सो रक्तबीज है। जितनी-जितनी इसका रक्तक्षरण होता है उतनी-उतनी इसकी परम्परा चलती है। तो, असलमें बाहरकी अनेक कामनाओंको जब मनुष्य मिटा देता है या छोड़ देता है तब भीतर बहुत सारी कामनाएँ पैदा होती है तब उनके पूरी न होनेपर क्षोभ-क्रोधका उदय होता है। क्रोध शब्दका अर्थ संस्कृतमें है-'क्रोधः कस्मात् ? कं सुखं एनत्ति-इति' क्रोधको क्रोध क्यों कहते हैं कि हमारे हृदयमें जो सुखकी धारा बारम्बार टपाटप-टपकती रहती है-वह, जब क्रोध आता है तब क्षीण पड़ जाती है-सुषुम्णाका संचार बन्द हो जाता है। जब राग और द्वेष दोनोंका तराजू विषम होता है तब वह छिद्र बन्द हो जाता है। जब इडा और पिंगलाके संचारमें बाधा पड़ती है तब यह छिद्र बन्द हो जाता है! वह छिद्र क्या है? कि ब्रह्म-रन्ध्रसे जो एक छिद्र निकलता है उसमें-से टपाटप-टपाटप अमृत झरता रहता है, 'रस गगन गुफामें अजर झरै' गगन गुफामें बारम्बार रस झरता रहता है। पर, जहाँ क्रोध आया और क्रोध ग्रहण करके तराजूका पलड़ा टेढ़ा हुआ कि वह छिद्र बन्द हो गया-क्रोधी, मनुष्यको सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती और इसका वंश भी अच्छा नहीं है, कामके वंशमें यह पैदा हुआ है। खानदान खराब है और आते ही सुखका बंटाधार करता है। आनेके बाद और क्या करता है क्रोध? आप लोगोंको शायद कभी क्रोध न आया हो पर हमको ऐसा क्रोध आया है कि पाँव भी थर-थर काँपता था। गुस्सेमें आप किसीको घूँसा भी नहीं मार सकते, गुस्सेमें बल ही नहीं रहता है। किसीसे कुश्ती भी लड़नी होती है तो धैर्यसे लड़नी होती है, क्रोधसे नहीं लड़ सकते। हमारे एक बड़े भारी विद्वान् ठाकुर साहब थे गाजीपुर जिलेके! सामनेवाले वकीलने देखा कि जिरहमें इनको हराना शक्य नहीं है। तो उसने कई बार कोशिश की कि इनको गुस्सा आ जाय। पर, बड़े धैर्यशाली-गुस्सा ही न आवे। बड़े सरल चित्तसे सब काम करनेवाले और उस समय उनके सरीखा विद्वान् कोई दूसरा नहीं था-गाजीपुरके चेयरमैन, बनारसके भी चेयरमैन, विधान-सभामें भी रहे, मैनेजर भी रहे कई कम्पनियों पर बिल्कुल सीधे-सादे। ऐसा मालूम पड़े कि गाँवका कोई भोला-भाला आदमी है। पर अदालतमें जब उसने बहुत जिरह की तब

एक बार उनको गुस्सा आ ही गया और आ गया तो बोले कि ऐ, क्या जिरह करता है मुझसे, मैं तेरे जैसेको अभी 10 वर्ष पढ़ा सकता हूँ-बड़े भारी कानूनके विद्वान् थे। अब तो जाकर वकील बैठ गया कि बस, यही नोट कर लिया जाय कि वे इतने विद्वान्-बुद्धिमान् वकील हैं कि अभी हमको 10 वर्ष पढ़ा सकते हैं तो ये जो बात कहना चाहते हैं उसको कहे बिना, उसको सिद्ध किये बिना रह नहीं सकते! गुस्सा जब आता है तब विद्वान् मूर्ख हो जाता है; ये पहलवान लोग जब लड़ते हैं तब गुस्सा आ जाता है तो हाथ-पाँव काँपने लगते हैं और तब उनको जाकर अलग बैठना पड़ता है; वकील लोग जब बात करते हैं तब उनको पाँच मिनट चुप हो जाना पड़ता है—यह क्रोध आकरके रक्तमें ऐसा उबाल पैदा करता है कि उस समय मनुष्य-मनुष्य नहीं रहता है।

क्रोध पर कैसे विजय प्राप्त करना—एक बात है कि यह जो बात-बातमें अपना 'इनसल्ट' हो जाता है ना—यह शब्द पहले हम नहीं जानते थे, आप लोगोंके बीचमें आनेसे ही हमको पता चला—यही क्रोधका मूल है। एक रिटायर्ड जज ट्रेनसे यात्रा कर रहे थे इलाहाबाद जानेके लिए-एक दूसरा व्यक्ति डिब्बेमें आया, उसने कहा कि जरा अपना विस्तरा सिकोड़ो, हम भी यहीं अपना बिस्तर लगायेंगे। दोनोंमें बहस हो गयी। तो, नया आया था उसने कहा-तुमको मालूम नहीं है मैं जज हूँ? उस रिटायर्ड जजने कहा-तुमको मालूम नहीं है कि मैं जजका बाप हूँ। जब इलाहाबाद स्टेशन आया, तब सचमुच उसका लड़का जो इलाहाबाद कोर्टमें जज था-बापको लेने आया था, फिर दोनों जजोंमें बूढ़ेने परिचय कराया और दोनोंमें बड़ा प्रेम हो गया। फिर बोले कि देखो मैंने झूठ नहीं कहा था—तुम नाराज होकर बोले मैं जज हूँ तो मैंने तुमको बताया कि मैं जजका बाप हूँ और मेरे ऐसा कहनेसे तुम और नाराज हो गये, पर मैंने बिल्कुल सच कहा था मैं जजका बाप हूँ! तो, क्रोध जो है उसको रोकनेकी सबसे बढ़िया बात तो यह है कि आदमीको ब्रह्मज्ञान हो जाय-एक परब्रह्म परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है-यहाँ यों भी वाह-वाह है, यहाँ त्यों भी वाह-वाह है-जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख लीजिये-सबसे बढ़िया तरीका तो यही है। अब दूसरी बात देखो-आपके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति आ जाय और सबमें भगवान् दीखने लग जायँ-यह देखो श्याम, यह देखो श्याम, यह देखो श्याम! तीसरी बात यह लो कि यह सारी सृष्टि प्रकृतिके पराधीन है कि ईश्वरके पराधीन है कि परिस्थितिके पराधीन है कि अपने अन्तःकरणके पराधीन है। अब एक गुलाम आदमी, एक पराधीन आदमी जब उलट-पुलटकर कुछ उल्टी बात कह देता है तो उसको माफ ही करना चाहिए, उस पर क्रोध नहीं करना चाहिए।

एक सज्जन थे, उनको कोई रोज गाली दिया करता था। वे खुद तो सज्जन थे, इसलिए गाली नहीं दे सकते थे। तो, उन्होंने एक गाँवके गुण्डेको बुलाया और उससे कहा कि हम तुमको 10 रुपये रोज देंगे, तुम इसकी गालीका जबाब दो। अब वह गुण्डा आदमी जब आया गालीका जबाब देनेके लिए, तब सामनेवालेने कहा कि यह तो गुलाम गाली देता है और गुलामको हम मुँह नहीं लगाते। तो, इस दुनियामें लोग प्रकृतिके परतन्त्र हैं, ईश्वरके परतन्त्र हैं, अपने प्रारब्धके परतन्त्र हैं, अपने कर्मके परतन्त्र हैं, संस्कारके परतन्त्र हैं-ये यदि कोई गड़बड़ करें तो इनके ऊपर क्रोध करनेका कोई कारण नहीं है-यह हुई एक दृष्टि। ब्रह्म-दृष्टि, ईश्वर-दृष्टि, परिस्थिति-दृष्टि, कर्म-दृष्टि, प्रारब्ध-दृष्टि-ये सब दृष्टियाँ हैं। अब धर्म-दृष्टिकी बात देखो। जरा अपनेको देखिये, अपनेको तौलिये, दूसरेको मत तौलिये कि वह धर्मानुसार आचरण क्यों नहीं करता है, आप अपनेको तौलिये कि आपका आचरण धर्मानुसार है कि नहीं है, धर्मका सार-सर्वस्व है-

न तत् परस्य संदिग्धं प्रतिकूलं यदात्मनः।

जो काम अपने लिये दुःखदायी होता है-वह दूसरोंको भी दुःखदायी अवश्य होगा, इस विषयमें कोई संदेह नहीं है। हमको कोई गाली देता है तो दुःखदायी होता है अतः हम किसीको गाली देंगे तो उसको भी दुःख होगा; हमारा पैसा जब कोई ले लेता है तो हमको दुःख होता है तो जब हम किसीका पैसा ले लेंगे तो उसको भी तो दुःख होगा? तो-

न तत् परस्य संदिग्धं प्रतिकूलं यदात्मनः।
श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधीयताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।।

जब हमारा कोई बुरा करता है, हमको गाली देता है, हमसे कोई झूठ बोलता है, हमारी बहन-बेटीके साथ जब कोई बुरा आचरण करता है तब हमको बुरा लगता है, तो जो चीज हमको बुरी लगती है वह चीज जब हम दूसरेके साथ करेंगे तो उसको भी तो बुरा लगेगा ना? हम भी तो बुरे हो जायेंगे ना? यह तो जो बच्चे-कच्चे वेदान्ती हैं उन्हींको शोभा देता है। कच्चे वेदान्ती कैसे होते हैं, उनका नमूना देखो-वे कहते हैं कि हम चाहे जो करें, हम तो वेदान्ती हैं, ज्ञानी हैं, हमको पाप-पुण्य नहीं लगता है, लेकिन यह तो अकर्ता है, यह तो अभोक्ता है, यह तो अज्ञानी है इसको यह हक नहीं है कि यह ऐसे बोले-इसीका नाम कच्चा-बच्चा वेदान्ती है। तो, आप देखो, यदि आपको क्रोधपर विजय प्राप्त करनी हो तो धर्मकी दृष्टि यह है कि यदि आप यह चाहते हैं कि हमारे मनके खिलाफ कोई दूसरा काम न करे तो आप भी दूसरेके मनके खिलाफ काम मत कीजिये; यदि आप चाहते हैं कि पति हमारे मनके अनुसार चले तो आप भी पतिके मनके अनुसार चलिये और फिर देखियेगा कि लड़ाई-झगड़ेकी कोई जरूरत ही नहीं रहेगी, क्रोधकी कोई जरूरत ही नहीं पड़ेगी।

तो भाई, यदि आप चाहते हैं कि आपकी मानी जाये तो उनकी भी तो आप मानिये। आप अपने पतिके साथ छह घंटे गप्प हाँक लीजिये पर सासके पास भी तो घण्टे भर बैठ जाइये, उससे भी तो थोड़ी गप्प हाँक लीजिये। तो, कहनेका अभिप्राय यह है कि अपना-ही-अपना मनसे जो लोग कराते हैं उनके मनमें जलन होती है असलमें भगवान् जो भी करते हैं उसमें मङ्गल होता है, वह तो हम अपनी वासनाके कारण, अपने मोह-ममताके कारण उसको पहचान नहीं सकते हैं। एक सज्जन कल कि परसों आये थे। बोले-महाराज! आप समझाइये कि ईश्वर कृपालु है, मेरी समझमें नहीं आता है। शायद यहाँ बैठे ही हों, क्या पता है, बहुत लोग हैं, शायद वे भी हों। तो यदि हम चाहते तो एक, दो, दस युक्ति देकर उनको समझाते कि असलमें तुम यह चाहते तो कि ईश्वर हमारी वासनाका गुलाम हो, जो-जो हम कहें सो-सो वह करे। करे ईश्वर और अक्कल हमारी हो। माने ईश्वर हमारी बुद्धिके अनुसार चले और वह जब तुम्हारी बुद्धिके अनुसार नहीं चलता है अब तुम कहते हो ईश्वरके पास बुद्धि नहीं ही कृपा है और हमारे पास बुद्धि है कृपा नहीं है, तो हमारी बुद्धिके अनुसार ईश्वर कृपा करते रहें। यही चाहते हो ना तुम? ऐसा हम चाहते तो उनसे कह सकते थे, लेकिन मैंने उनसे कहा कि देखो, हमलोग तो सब निर्गुणी आदमी हैं, हमारे लिए इसका ज्यादा आग्रह नहीं है कि ईश्वरमें कृपा है कि नहीं है, तो हम काहेको तुम्हारे साथ गलगुच्चन करें? तुम्हारे अपने महाराज आये हुए हैं, गीताके बड़े भारी विद्वान् हैं, उनसे जाकर पूछो, वे इस बातका बहुत बढ़िया उत्तर तुमको दे सकते हैं-वे ईश्वरके न्याय और कृपा दोनोंको समझा सकते हैं। उसने कहा कि महाराज, मैं तो उनके पास एक वर्ष पहले ही गया था। परन्तु जब मैंने उनसे थोड़ा तर्क किया तब बोले कि जाओ, क्या हमने कोई ठेका लिया है ईश्वरकी कृपालुता समझाने का? इसमें महात्माका कोई दोष थोड़े ही है!

अच्छा अब क्रोधकी बात देखो। क्रोध तो ईश्वरपर भी आता है। अभी एक माता परसों ही मिली थी, बता रही थीं कि कोई काम उनके मनके खिलाफ हो गया। तो एक दिन वे ऐसे, ऐसे-ऐसे कर रही थीं, उनकी बेटीने देखा, पूछा-यह क्या कर रही हो? बोली-मैं ईश्वरको मार रही हूँ। उलाहना दे रही हूँ कि तुमने मेरे मनके मुताबिक क्यों नहीं किया? काम बहुत बुरा हुआ था और बादमें सुधर भी गया-ईश्वरको शायद घूँसा लगा-ईश्वरने सुधार दिया उस कामको, पर कहना यह है कि आदमीको जब क्रोध आता है तब वह ईश्वरको भी मारना चाहता है। तो देखो, एक तो यह जिद्द है कि हमारे मनमें जो चीज जँचती है, वही ठीक है बिल्कुल गलत है-तुम्हें पूर्वजन्मका मालूम नहीं है, तुम्हें भविष्यका मालूम नहीं है, तुम्हारी अन्तरात्माके भीतर क्या है सो तुमको मालूम नहीं है और तुम सोचते हो कि हमारे मनमें जो बुद्धि आयी सो ठीक है-तो यह कामना ही मनुष्यको क्रोध देती है-'कामात्क्रोधोऽभिजायते'। अब देखो, यदि आपको क्रोध आनेवाला हो तो मौन हो जाइये; आप भगवान्‌का नाम लेने लग जाइये, एक गिलास शर्बत पी लीजिये। एक बार हमारे आश्रममें रसोइयेने हड़ताल कर दी। 5-6 रसोइये थे, सबने सलाह करी और हड़ताल कर दी। अब साधु लोग खाँये क्या? इतनेमें ही वृन्दावनके एक दूसरे महात्मा आ गये। उनको जब यह मालूम हुआ तो उन्होंने कहा कि आज सबसे पहले सारे रसोइयोंको ठण्डाई

बनाकर पिलाओ। आगके सामने रहते-रहते उनके दिमागमें गर्मी चढ़ जाती है, इसलिए उनको गुस्सा आता है। यह स्त्रियोंको भी ज्यादा गुस्सा इसीलिए आता है कि एक तो वे रसोई बनावें और आप मौजसे आकर खानेके लिए बैठें और फिर बोलें कि आज नमक कम है कि अच्छा नहीं बना है। कि जरा बनाकर दिखा तो दो, खुचर निकालनेके लिए तो जो चाहे सो आ जाये। हाँ, तो एक गिलास पानी पी लो, दो गिलास पानी पी लो; भगवान्‌का नाम ले लो! हमारे एक सेठ आये। उन्होंने कहा-महाराज, हमको बहुत गुस्सा आता है। मैंने उनसे कहा कि तुम अपने ऊपर जुर्माना करो कि एक बार गुस्सा आयेगा तो दस रुपया नौकरको देंगे। अब यह कुछ दिन तक तो ठीक चला-जब गुस्सा आवे तब दस रुपया नौकरको दे दें। पर, कुछ दिनमें नौकर लोग यह बात ऐसी समझ गये कि दिन भरमें चार दफा, छह दफा गुस्सा दिला दें कि हमको दस-दस रुपये मिलेंगे। यहींकी बात है, बम्बईकी ही। बम्बईमें मैं अबसे नहीं आता हूँ, बम्बईमें मैं सन् 35-36 से आता हूँ, उस समय आता था तो सिंहानिया-बाड़ीमें ठहरता था, अब इस बातको 35-36 वर्ष हो गये। एक बार तो मैं यहाँ आया तो मुझे 14 दिन तक बिल्कुल जैसे गुप्त रूपसे रखा गया, बादमें मगनलाल जोशीको जब मालूम हुआ तब वे मुझे ले गये। हाँ, तो आप अपने ऊपर जुर्माना करो, पर ऐसा जुर्माना मत करो कि खाना छोड़ दो! खाना मत छोड़ना, गुस्सा करनेवालेको खाना नहीं छोड़ना चाहिए, कोई मीठी चीज छोड़नी चाहिए-शहदकी एक छोटी शीशी अपने पर्समें, पाकेटमें रखनी चाहिए और जब लगे कि गुस्सा आनेवाला है तो दो बूँद शहद अपने जीभपर डाल लो। और जुर्माना यह रखो-कि एक बार गुस्सा आवेगा तो एक सप्ताह तक चाय-दूध बन्द कर देंगे, एक सप्ताह तक नमक नहीं खायेंगे, एक सप्ताह तक शक्कर नहीं खायेंगे। नमक-शक्कर तो खाते ही हैं पर गुस्सा आनेपर बिना नमक-शक्करके खानेका भी स्वाद लो। इससे आपका गुस्सा उतर जायेगा! जिस समय गुस्सा आनेवाला होगा उस समय शक्करकी याद आवेगी तो गुस्सा ही उतर जायेगा और जिस समय आपको गुस्सा आवे उस समय यदि घरमें बड़ा आईना हो तो उसके सामने जाकर खड़े हो जाइये और देखिये जरा गौरसे कि आपकी भोंह कैसी हो जाती है; आँख कैसी लाल हो रही है और होठ कैसे तमतमा रहे हैं-और अगर रोज आप गुस्सा करेंगे तो चेहरा बिल्कुल काला पड़ जायेगा। यह गुस्सेकी जो लाली चेहरेपर आती है वह बादमें चेहरेको काला बना देती है और फिर 'ब्यूटी-हाऊस' में जानेपर भी आपके चेहरेको नहीं सुधारा जा सकता। यह रोज-रोजका गुस्सा चेहरेको काला बना देता है, तो अपने चेहरेको ठीक रखनेके लिए भी गुस्सा नहीं करना चाहिए और ऐसा प्रायश्चित रखना चाहिए कि इतनी दूर पैदल चलेंगे, इतनी माला जपेंगे। और हाँ, यह शीशा देखनेवाली जो बात है ना, इसमें एक जो खतरा है उससे आपको सावधान कर देते हैं-वह क्या है कि आपको गुस्सा आ रहा हो तो जाकर शीशा देखना और उससे चेहरेमें जो खराबी आ रही है उसपर गौर करना, लेकिन किसी दूसरेको गुस्सा आ रहा हो-आपकी सासको आ रहा हो तो, आपके पतिको आ रहा हो, पत्नीको आ रहा हो तो उनको ले जाकर शीशा मत दिखाना, वे शीशा उठाकर तुम्हारे मुँहपर ही दे मारेंगे-शीशा किसी दूसरेको नहीं दिखाना चाहिए, अपने आपको दिखाना चाहिए। अभी हम आपको सब सुनावेंगे-क्रोधके साथ हमारा व्यवहार कैसा हो, कामके साथ कैसा हो, लोभके साथ कैसा हो, मोहके साथ कैसा हो? हम कहते हैं कि यदि ईमानदारीसे आप लोभ छोड़ना चाहते हैं तो आपको हम ऐसा नुस्खा बता सकते हैं कि आपका लोभ छूट जाये, परन्तु हम जानते हैं कि वह दवा थोड़ी कड़वी है, वह चिरायता है, वह पित्त-पापड़ा है। पर, इस तरह जब दैवी-सम्पदा लेकरके हम व्यवहारमें उतरेंगे तब हम सुखी रहेंगे और दूसरोंको भी सुखी करेंगे।

प्रवचन : 23

दैवी सम्पदा अर्जित कीजिये-6

(शान्ति, अपैशुन और अचपलता)

मनुष्यका धर्म है–मनुष्यत्व माने वह कोई ऐसा काम न करे जो उसको मनुष्यसे पशु बना दे। क्रोध, हिंसा, लोभ, द्वेष–ये सब पशुत्वके भग्नावशेष हैं–खण्डहर हैं। और जो पूर्व जन्मोंके पशुताके संस्कार अन्त:करणमें पड़े हुए हैं, वे कभी–कभी अपने जीवन में जग जाते हैं पर, वे स्थायी नहीं रह सकते! आप थोड़ा–सा ध्यान दीजिये–क्या कोई मनुष्य लगातार 24 घण्टे–अच्छा! 24 घण्टेकी बात छोड़ देते हैं 18 घण्टे (नींदका समय छोड़ देते हैं)–क्रोधमें रह सकता है? काममें रह सकता है? मनुष्यके लिए यह सम्भव ही नहीं है। अच्छा, क्या कोई मनुष्य चौबीस घण्टे झूठ बोल सकता है? सोता हो और कहे कि चल रहे हैं तब झूठ होगा! और चल रहा हो और कहे कि सो रहा हूँ तब झूठ होगा! और यदि वह हमेशा चलनेको सोना और सोनेको चलना कहने लगेगा तो वही सच हो जायेगा–ऐसा नाम रख लिया इसलिए बोलता है। तो इसका मतलब है कि हमारे जीवनमें जो दोष–दुर्गुण हैं वे स्वाभाविक नहीं हैं। मनुष्यत्वका अर्थ है कि–झूठसे बचकर हम चौबीस घण्टे रह सकते हैं, पर झूठ बोलते हुए चौबीस घण्टे नहीं रह सकते; क्रोधसे बचकर हम चौबीस घण्टे रह सकते हैं, पर क्रोध में चौबीस घण्टे नहीं रह सकते; कामसे बचकर हम चौबीस घण्टे रह सकते हैं; परन्तु कामके आवेशमें चौबीस घण्टे नहीं रह सकते। तो, यह बात साफ जाहिर है कि ये काम–क्रोध–लोभ–झूठ–हमारे जीवनके अङ्ग नहीं हैं, ये बाहरसे आये हुए हैं और कभी रहते हैं और कभी नहीं रहते।

अच्छा, अब आप किसको छोड़ना आसान है इसपर ध्यान दें जरा–काम छोड़ना आसान है, ब्रह्मचर्य छोड़ना आसान नहीं है; क्रोध छोड़ना आसान है, अक्रोध छोड़ना आसान नहीं है; अहिंसा छोड़ना आसान नहीं है; हिंसामें हम चौबीस घण्टे नहीं रह सकते हैं; क्रोधमें हम चौबीस घण्टे नहीं रह सकते; सत्यमें चौबीस घण्टे रह सकते हैं; असत्यमें चौबीस घण्टे नहीं रह सकते तो अपने जीवनमें इन बातोंकी ओर ध्यान देना चाहिए और थोड़ा सावधान रहना चाहिए। वैसे कई लोग अपनी कुर्सीकी दुहाई दे करके क्रोध करते हैं–कि भई, हम अब बड़े हो गये हैं, हम गाली दे सकते हैं–हमको अधिकार है गाली देनेका; परन्तु वे नहीं जानते कि विश्वमें गाली देनेका अधिकार, किसीको बुरा कहनेका अधिकार परमेश्वरको भी नहीं है।

अच्छा, आओ एक और नजर डालें–दैवीसम्पदा पर। क्रोध न आना, अहिंसा रखना, क्षमा करना, द्रोह नहीं करना–देखो दैवी–सम्पदामें कितनी चीजें हैं। पर, पहले एक बात आपको साफ–साफ बता देता हूँ–दैवी–सम्पत्ति जनसाधारणके लिए है, सर्व–साधारणके लिए है। इन्सान होना, मनुष्यत्व धारण करना–यह सबके लिए होता है। जिज्ञासु होना, ज्ञानी होना–यह किसी–किसीके लिए होता है–आपको हम जिन्हें ज्ञान चाहिए उन जिज्ञासुओंके सम्बन्धमें कई ऐसी बातें बता सकते हैं जो दैवी–सम्पदा वालेके लक्षणमें नहीं हैं–जैसे आचार्योपासना–गुरुकी सेवा करना– जिसको ज्ञान चाहिए वह गुरुकी सेवा करे, उसके पास रहे, लेकिन दैवी–सम्पदावाला हमेशा गुरुकी उपासना करे, गुरुके पास रहे–यह बात जरूरी नहीं है। आप देख लो–दैवी–सम्पदामें गुरुके पास रहना नहीं है–तपस्यामें है। तपस्यामें गुरुकी पूजा है और ज्ञानमें आचार्यकी उपासना है! इसका अर्थ है कि यदि आप जड़तामें अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं और आपके मनमें कोई ईश्वर–प्राप्तिकी इच्छा जाग्रत नहीं हुई है, ज्ञान प्राप्तिकी इच्छा जाग्रत नहीं हुई है, यदि आप समाधि नहीं लगाना चाहते हैं तो गुरुकी उपासना करना आपके लिए आवश्यक नहीं है। यदि आपका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ है और आचार्यने आपको–मन्त्रकी दीक्षा दे दी और यदि किसी देवताकी उपासनामें रुचि हुई और किसी वैष्णव–शैव आचार्यने आपको इष्ट–देवताका मन्त्र दे दिया तो, इतना काम तो पूरा हुआ, लेकिन आचार्यकी उपासना तो तब चाहिए जब आपको ज्ञान चाहिए हो अथवा ईश्वरकी प्राप्ति चाहिए हो। यह विशेष है, साधारण नहीं है–आचार्यकी उपासना जन–साधारणके लिए नहीं है। आप सर्व–साधारण रीतिसे सौजन्यको धारण कीजिये–एक सज्जनकी तरह अपना जीवन व्यतीत कीजिये। आपको और सुनाते हैं–यदि आपको ज्ञान प्राप्त करना है तो–

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।। (13.8)

यह जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्–यदि आप ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तब तो आवश्यक है परन्तु दैवीसम्पत्तिमें इसकी आवश्यकता नहीं है। एक सज्जन पुरुषको यह सोच जरूरी नहीं है कि मैं जन्म और मरणके चक्करमें पड़ा हुआ हूँ और हमारे बुढ़ापा आनेवाला है और हमारे शरीरमें रोग लगा हुआ है और ये सब देखकर वह काम-धन्धा छोड़ दे–यह एक साधारण सज्जन पुरुषके लिए आवश्यक नहीं है, परन्तु यदि वह संसारसे वैराग्य प्राप्त करके तत्त्व ज्ञान प्राप्त करना चाहता है तब उसके लिए जरूरी होता है–

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।

दैवी-सम्पदा एक सज्जनके लिए चाहिए जो ज्ञान प्राप्तिका इच्छुक है उसको वैराग्य चाहिए–हमारे यहाँ दोनों की व्यवस्था है।

असक्तिरनभिष्वङ्गः - पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।। (13.9)

यह भी दैवी सम्पत्तिमें नहीं है–

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्। (13.11)

यह भी दैवी-सम्पत्तिमें नहीं है। दैवी-सम्पत्तिमें क्या नहीं है मैं इसलिए बता रहा हूँ कि आज ऐसा उल्टा समय हो गया है कि जहाँ हमें एक अच्छा नागरिक चाहिए वहाँ उसको बाबाजी बनानेकी कोशिश की जा रही है और जो शुद्ध-अन्तःकरण होकर सत्त्व-शुद्ध होकर जिज्ञासा प्राप्त करना चाहता है उसकी जिज्ञासाको शिथिल किया जा रहा है। तो, नारायण दैवी-सम्पदाका अर्थ होता है कि अपने जीवनमें एक प्रकार का सौजन्य सज्जनता उदय हो।

आपको कल सुना रहा था–क्रोध, हिंसा, द्वेष। आप देखना भक्तके लक्षण दूसरे ढंगके हैं, ज्ञानीके लक्षण दूसरे ढंगके हैं, गुणातीतके लक्षण दूसरे ढंगके हैं और दैवी-सम्पदावान्‌के लक्षण दूसरे ढंगके हैं। ज्ञान प्राप्तिके लिए जैसे ढंगकी निष्ठा चाहिए, वह दूसरे ढंगकी है। देखो, एक बार गाँधीजी यात्रा कर रहे थे–गोरखपुरसे बनारस। थर्ड-क्लासमें बैठे थे, अखबार पढ़ रहे थे! एक सज्जन-सज्जन कहो, दुर्जन कहो–आपकी मर्ज़ी है–युधिष्ठिर तो दुर्योधनको भी सुयोधन बोलते थे–यह आपने सुना है कि नहीं–कि हमारे एक संत थे–साईं–वे अपने मुँहसे 'कुर्सी' शब्द नहीं बोलते थे। 'सुर्सी' बोलते थे। तो किसीने पूछ लिया उनसे कि साईं, आप कुर्सीको सुर्सी क्यों बोलते हैं? बोले कि अपने मुँहसे किसीको 'कु' कहनेमें संकोच होता है। इसके सम्बन्धमें उनका बड़ा कटु अनभुव था–एक आदमी कहीं पासमें कोई काम कर रहा था तो साईंने उसको पुकारा–ओ पागल, क्या कर रहा है? और ज्यों उनके मुँहसे 'ओ पागल' निकला कि वह पागल हो गया–उसी समय और फिर उसको ठीक करनेमें बड़ी कठिनाई हुई और तब साईंने कहा कि अपने मुँहसे किसीके लिए भी बुरे शब्दका उच्चारण नहीं करना चाहिए–हमारे गाँवमें बोलते हैं, 'पड़ाइन शुभ बोलो'–हे पण्डिताइन अपने मुँहसे शुभ बोला करो, अशुभ किसीके लिए मत बोलो, क्योंकि जो शब्द बोला जाता है वह सारे आकाशमें फैलता है और घूम-फिर करके हमारे कानमें भी आता है और हमारे दिल पर भी उसका प्रभाव पड़ता है–जो शब्द हम दूसरेके लिए बोलते हैं वह शब्द हमारे लिए भी बोला जायेगा; जो कृत्य हम दूसरेके लिए करते हैं वह हमारे लिए भी किया जायेगा। हाँ, तो जो आया गाँधीजीके डब्बेमें, उसने वहीं थूक दिया–पान-वान तो खाते ही हैं लोग, पहले भी खाते थे–थूक कर बैठ गया। गाँधीजीने अखबारका एक कोना फाड़ा और थूक पोंछकर बाहर फेंक दिया और फिरसे अखबार पढ़ने लगे। दुबारा उसने ऐसा ही किया। गाँधीजीने फिर वैसा ही किया। अब उसके धुन आ गयी–एक बार, दो बार, तीन बार, चार बार–जब बनारस गाड़ी पहुँची–उन दिनों बनारस सीटी पर गाड़ी पहुँचती थी–तो हजारोंकी भीड़में लोग 'भारत-माताकी जय' 'महात्मा गाँधीकी जय' बोल रहे थे। देखा उसने–जिन्होंने हमारा थूँक उठाकर फेंका वे तो महात्मा-गाँधी ही हैं, तो उनके चरणोंमें गिर पड़ा। आप देखो कितनी क्षमाशीलता, कितना सौजन्य, कितनी दैवी-सम्पत्ति! उसने कहा–हमको दण्ड दें। गाँधीजीने कहा–हम तुमको दण्ड नहीं देंगे लेकिन, यदि आगे तुम्हारे सामने भी कोई ऐसा करे कि थूँक दें तो तुम भी वहाँ ऐसे ही सफाई कर देना–यह एक मनुष्यका धर्म है कि जहाँ रहे उस जगहको वह साफ रखे–स्वच्छता रखना मनुष्यका धर्म है; अपने

वातावरणको स्वच्छ रखना, अपने शरीरको स्वच्छ रखना, अपने वस्त्रको स्वच्छ रखना और अपने दिलको स्वच्छ रखना–यह मनुष्यका धर्म है! हम ज्ञानकी बड़ी–बड़ी बातें आपको नहीं सुना रहे हैं यह तो बिल्कुल साधारण धर्म है और इस साधारण–धर्मके पालनमें ही जो फेल हो जाता है उसके लिए ये जो ज्ञानकी बड़ी–बड़ी बातें हैं वे केवल सपनेकी हैं, ख्वाबकी हैं। जो अपने शरीरकी गन्दगी, कपड़ेकी गन्दगी, दिलकी गन्दगी बर्दाश्त कर लेता है वह ब्रह्ममें मायाको भी बर्दाश्त कर लेता है। वह तो जब अपनेमें तुम गन्दगी कबूल नहीं करोगे तब आत्मामें अविद्या कबूल नहीं करोगे और तब ब्रह्ममें माया कबूल नहीं करोगे–पहले अपने आपको तो देखो!

एक राजा एक ब्राह्मण पर नाराज हुए और उसको मना कर दिया कि तुम हमारे पुरोहित हो तो क्या हुआ, महलमें मत आना। ब्राह्मण इससे बहुत व्याकुल हुआ। उसका दुःख देखकर एक भङ्गी के मनमें आया कि किसी तरह इसकी मदद करें। अब वह महलके पास जाकर चिल्लाये, अपने भाईको पुकारे। राजा साहबने पूछा कि क्या हुआ? बोला कि हमारा भाई आपके महलमें छुपा हुआ है। बोले–भाई, तुम्हारा भाई हमारे महलमें क्यों आवेगा? फिर राजाकी समझमें यह बात आ गयी कि हमारे मनमें जो क्रोध है उसीको यह चाण्डाल[१] कहता है, अपना भाई बताता है।[1] अच्छाजी, अब आप जरा ध्यान दो!

एक महात्माने सुनाया था कि वृन्दावनमें यमुना–तटपर एक हरिजन–स्त्री जाकर स्नान करती और डलियामें ठाकुरजीको लेकर जाती, तो वहीं स्नान करनेके बाद पूजा करती। अब यह बात वहाँके ब्राह्मणको, ब्राह्मणीको अच्छी नहीं लगी कि जहाँ हम स्नान करते हैं, हम चन्दन लगाते हैं वहाँ एक हरिजन भी स्नान करे, चन्दन लगावे। ब्राह्मणने राजासे शिकायत की। राजाने आज्ञा दी–दोनोंको जाकर ले आओ जैसी स्थितिमें हो वैसे ही। ऐसा संयोग बना कि जो हरिजन–स्त्री थी वह तो यमुना–स्नान करके ठाकुरजीकी पूजा करके हाथमें ठाकुरजीकी डलिया और गंगाजली लिये आ रही थी–सिपाहीने उसको पकड़ लिया–चलो राजा साहबके पास और वह जो ब्राह्मणी थी–जो रोज उसको गाली देती और उसका तिरस्कार करती

–टिप्पणी–१. 'चडिकोपे'–धातुसे चाण्डाल शब्द बनता है। अतः क्रोधका नाम ही चाण्डाल है।

थी–वह अपने बच्चेकी विष्ठा बाहर फेंकनेके लिए घरसे निकली थी। तो उसको भी सिपाहीने पकड़ लिया और बोले–ऐसे ही चलो, राजा साहबने बुलाया है। अब एकके हाथमें विष्ठा और एकके हाथमें ठाकुरजी–राजाने जो ठाकुरजी हाथमें देखा तो नमस्कार किया हरिजनको और ब्राह्मणीके लिए बोले–इस विष्ठावाली हरिजन स्त्रीको निकालो यहाँसे और मना कर दो कि आजसे यमुना–स्नानको न जावे। अब तो ब्राह्मण बड़ा गिड़गिड़ाये। तो, यह क्रोध जो है–क्रोध, हिंसा, द्रोह–यह हमको भला–मनुष्य रहने नहीं देते! आप इस बातपर ध्यान दें। यह क्रोध, यह हिंसा, यह झूठ, यह काम–ये हमारे जीवनमें हर समय नहीं रह सकते और ये जो अहिंसा, सत्य आदि हैं–ये हमारे जीवनमें हमेशा रह सकते हैं–हम हमेशा निष्काम रह सकते हैं, हम हमेशा अक्रोध रह सकते हैं, हम हमेशा ईमानदार रह सकते हैं, पर बेईमानी तो एक मेहमानकी तरह आती है और चली जाती है, उसको जीवनमें रखनेकी कोई जरूरत नहीं है!

तो, गड़बड़ क्या हुआ कि दैवी–सम्पदा जो हमारे रोजके जीवनके लिए थी वह ईश्वर–भक्तिके साथ जुड़ गयी। आप ईश्वरको चाहते हैं कि नहीं इससे हमारा कोई मतलब नहीं है–नास्तिक भी हिन्दू होता है और आस्तिक भी हिन्दू होता है–यह जो लोग कहते हैं सिर्फ आस्तिक ही हिन्दू होता है उनको तो हिन्दूपनेके बारेमें कुछ मालूम नहीं है–कठोपनिषद्में बोलते हैं कि एक तरहके लोग कहते हैं कि मरने के बाद आत्मा रहता है और एक तरहके लोग कहते हैं कि नहीं रहता–यह दोनों मत, उपनिषद्के भी पहलेसे हैं–

'इन्द्रो नास्ति अन्ये मन्यन्ते'–

ऋग्वेदमें मन्त्र आता है कि इन्द्र बिलकुल है ही नहीं–ऐसा कुछ लोग कहते हैं। तो आस्तिक और नास्तिकका इसमें झगड़ा नहीं है; परन्तु मनुष्यको सज्जन तो होना ही चाहिए न? यह जो आप पढ़ते हैं–

अभयं सत्त्वसंशुद्धिः ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।

यह भक्तका लक्षण नहीं है। भक्तके लक्षणमें तो आवेगा कि–यो मद्भक्तः स मे प्रियः–जो मेरा भक्त है सो मेरा प्यारा है–

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।

भक्ति करना दूसरी चीज है और सज्जन रहना दूसरी चीज है- आपके जीवनमें सौजन्य रहे यह दूसरी चीज है, ज्ञानी होना दूसरी चीज है और सज्जन होना दूसरी चीज है-ज्ञानी होनेके लिए 'आचार्योपासनम्' विरक्ति, असक्तिः, अभेद-भक्तिकी जरूरत है, परन्तु, सज्जन होनेके लिए अभेद भक्ति न हो तब भी चल जायेगा-

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्-

ज्ञानी होनेके लिए यह आवश्यक है; परन्तु सज्जन होनेके लिए आवश्यक नहीं है। गुणातीत होनेके लिए यह आवश्यक है कि 'मानापमान-योस्तुल्यस्तुल्योमित्रारिपक्षयोः'-गुणातीत होना एक दूसरी चीज है, ज्ञानी होना एक दूसरी चीज है, भक्त होना, एक दूसरी चीज है और आप ब्रह्मनिष्ठाके लिए अभ्यास करें, वह अभ्यास दूसरी चीज है-

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।।
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।।
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।

(18.50-54)

आप ज्ञानके मार्गमें चलना चाहते हैं, तो पहले आपकी बुद्धि शुद्ध होनी चाहिए। आपकी बुद्धि छल-कपटसे दूसरेकी चीज लेनेकी सलाह देती है कि नहीं? अगर आपकी बुद्धि ऐसी है, तो ज्ञानमार्गमें कैसे चलेंगे? यदि ब्रह्मसे आपका प्रेम नहीं है तो शुद्ध ब्रह्म कहाँसे आवेगा? यह आपको एक गुरकी बात सुना देता हूँ, आपको नोट करना हो तो इसको नोट कीजिये! यह जो दुनिया दिखलायी पड़ रही है जिसको हम प्रपञ्च बोलते हैं-इसको यदि आप अपने साथ जोड़ते हैं तो इसका नाम अविद्या है और इसको अगर ईश्वरके साथ जोड़ते हैं तो इसका नाम माया है-माया इसलिए कि तब भी प्रपञ्च तो दिखता है; परन्तु उसके पीछे रहनेवाला ईश्वर नहीं दीखता। जब आत्मा और ईश्वरकी एकताका ज्ञान होता है तो न अविद्या रहती है और न माया रहती है; क्योंकि तब यह प्रपञ्च ही नहीं रहता है। यह प्रपञ्च अपने साथ जुड़ा और अविद्या जुड़ी और यह प्रपञ्च ईश्वरके साथ जुड़ा तो माया जुड़ी। ईश्वरने यह प्रपञ्च बनाया है, ईश्वर यह प्रपञ्च बन गया है, ईश्वर इस प्रपञ्चके रूपमें रह रहा है, ईश्वर इस प्रपञ्चका प्रलय करता है-यदि प्रपञ्चको आप ईश्वरके साथ जोड़ देते हैं तो यह प्रपञ्च ईश्वरको मोहित नहीं करता, ईश्वरको व्यावृत्त नहीं करता, ईश्वरको फँसाता नहीं, ईश्वर अपनी मायासे नहीं फँसता है। ईश्वरमें जोड़ा हुआ प्रपञ्च माया है और अपने साथ जोड़ा हुआ प्रपञ्च हमको फँसा लेता है, व्यावृत कर लेता है, बन्धनमें डाल देता है, इसलिए अविद्या है। जहाँ आत्मा और परमात्मा एक है वहाँ प्रपञ्च मिथ्या है और प्रपञ्च मिथ्या होनेसे न ईश्वरमें माया है और न उसमें अविद्या है-यह इसका गुर है। कहना तो हमारा यह है कि हमारे जीवनमें सद्गुणोंका आना आवश्यक है। आप यदि ईश्वरकी ओर ज्यादा ध्यान नहीं देते हैं तो हम आपपर जोर नहीं देते, आप लोक-परलोक नहीं मानते हैं तो मत मानिये, हम कहाँ आपको कहते हैं कि मानिये ईश्वर? आप समाधि नहीं लगाना चाहते हैं तो मत लगाइये, आपके ध्यानमें अगला जीवन नहीं बैठता है तो मत बैठे, परन्तु, आपके जीवनमें दैवी-सम्पदा आनी चाहिए। आपका जीवन कैसे व्यतीत होता है इसको तो आप पहचानिये-

अभयं सत्त्वसंशुद्धिः ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।
तेजः क्षमा धृति शौचमद्रोहो नातिमानिता।(16.1-3)

आपके जीवनमें यदि पैशुन है-पिशुनताका भाव है, माने चुगली करनेका भाव है, उनका दोष उनको बताया, उनकी बात उनको बतायी। चुगली करना-यह सज्जनका धर्म नहीं है और चपलता करना-चांचल्य होना, आँखका चञ्चल होना, पाँवका चञ्चल होना सज्जनको शोभा नहीं देता है। कई लोग होते हैं-पाँव हिलाते रहते हैं, हाथ हिलाते रहते हैं, मुँह चलाते रहते हैं-यह चपलता है, स्थिरता आनी चाहिए जीवनमें। दैवी-सम्पत्तिमें

यहाँ तक बात कह दी गयी कि किसीकी चुगली मत करो और अपने आपको चञ्चल मत करो, अपने जीवनमें सज्जनता धारण करो।

यह जो लोग समझते हैं कि गीता बाबाजी बननेकी उपदेश करती है यह ऐसा नहीं है। गीता आपको सज्जन बननेका उपदेश करती है। अच्छा अब दैवी सम्पदाके और लक्षण बताते हैं—

तेजः—यह तेज जो है, वह ज्ञानके लक्षणोंमें नहीं आयेगा—मनुष्यको तेजस्वी होना चाहिए, मनुष्यके जीवनमें तेज होना चाहिए जिससे दूसरे लोग दबा न सकें, नहीं तो दूसरे लोग दबाकर बकरीकी तरह में—में करवाने लगते हैं—इसलिए मनुष्यको तेजस्वी होना चाहिए, बुराई मनको न दबा सके और दूसरे लोग भी न दबा सकें हमारे जीवनको। यह भक्तसे विलक्षण है, यह ज्ञानीसे भी विलक्षण है और यह गुणातीतसे भी विलक्षण है। आप बिना पूर्व और बिना अगला जन्म माने भी दैवी सम्पदासे युक्त हो सकते हैं। चार्वाक न पिछला जन्म मानता है और न अगला जन्म मानता है। ईसाई और मुसलमान पिछला जन्म नहीं मानते, अगला जन्म मानते। बौद्ध और जैन अगला जन्म भी मानते हैं और पिछला जन्म भी मानते हैं—आप लोग भी पुनर्जन्म—पुनर्जन्म सुनते हैं—वेदान्तियोंका कहना है कि दरअसल यह जन्म भी नहीं है, पहले और पीछेका तो सवाल ही क्या, केवल भ्रमके कारण आपने अपना जन्म मान रखा है, जन्म तो यह भी नहीं है, यह स्थिति है। ऐसी स्थितिमें आप इस चक्करमें बिलकुल न पड़ें कि हमको परलोकका समर्थन करना है, कि इस लोकका समर्थन करना है, कि जन्मका समर्थन करना है। इस चक्करमें आप पड़ेंगे, तो बिलकुल एकांगी हो जायेंगे। इसलिए आप इस झगड़ेमें न पड़ें, जिनको करना हो वह करें। पण्डित लोग अपने मतका समर्थन करें, मौलवी लोग अपने मतका समर्थन करें—आपका तो अपना जीवन भले ही सिद्धान्त कुछ भी हो, सगुण—सम्पन्न होना चाहिए। अपने लिए दुःखदायी न हो, दूसरोंके लिए दुःखदायी न हो और यदि आप अपने जीवनको दूसरोंके लिए दुःखदायी बना देंगे, तो आपके जीवनमें भी दुःख जरूर आयेगा। यह जो दुःख आता है, वह आता है इससे कि यह जो हम अपने मनको दुःखी बनानेकी आदत डालते हैं—क्या देखकर हमारा मुँह बिचक जाता है, क्या देखकर हमारी आँखोंमें मलिनता आ जाती है, क्या देखकर हमारी भौहें तन जाती हैं, दुनियामें ऐसी कौन—सी चीज है जो हमारे दिल—दिमागको खराब कर देती है। तो बाहरके प्रभावसे मुक्त रहनेके लिए आप क्या करते हैं? घड़ी पर पानीका प्रभाव न पड़े इसके लिए प्रयत्न करते हैं, गिरनेसे वह न टूटे इसके लिए प्रयत्न करते हैं, आपके कपड़ेपर कोई दाग न लग जाये—इसका प्रयत्न करते हैं। परन्तु आपके मनपर कोई दाग न लग जाये—इसके लिए आप क्या प्रयत्न करते हैं? एक बात केवल चेतावनीके रूपमें आप सुनें—यदि आप किसी ऐसेसे प्रेम करें अब आप तो जिन्दा रहें और जिससे आप प्रेम करें वह मर जाये, तो आपको बड़ा दुःख होगा।

व्यवहार दूसरी चीज है और दुनियामें प्रेम हो जाना दूसरी चीज है, प्रेमका व्यवहार करना चाहिए—प्रेमसे बोलना चाहिए, प्रेमसे देखना चाहिए, प्रेमसे मिलना चाहिए। व्यवहारमें जो प्रेम है वह दूसरी चीज है और यदि आप कहीं अपनेको बाँध दोगे और किसीको अपने साथ बाँध लोगे तो, यह तो निश्चित है कि दोनोंकी मौत एक साथ नहीं होगी और छूटना पड़ेगा; और जब वह छूटना पड़ेगा तब दुःख अवश्य होगा। यह संसारी बात हम नहीं सुना रहे हैं आपको। आत्मा है अजर, आत्मा है अमर, आत्माकी मृत्यु कभी होती नहीं, किसीके अनुभवमें आ नहीं सकती। तो यदि आप अपने ही शरीरसे ज्यादा प्रेम करोगे तो क्या होगा? कि जब यह मरने लगेगा तब आपको बड़ा दुःख होगा। माने आप जिन्दा रहें और वह मर जाये—ऐसेसे जब आप प्रेम करेंगे तो दुःख निश्चित होगा और यह शरीर बिलकुल ऐसी ही चीज है—आत्मा अजर—अमर रहेगा और यह शरीर मर जायेगा। जब यह शरीर मरेगा, तो इस शरीरकी जो पूँछें बन गयी हैं वे छूटेंगी। आदमीको मृत्युके समय दुःख नहीं हो इसके लिए हमारे शास्त्रोंमें ऐसे लिखा है कि जैसे सौ वर्षके जीवनमें रोज—रोज सुषुप्ति आती है वैसे ही अनन्त—जीवनमें लाखों बार, करोड़ों बार मृत्यु आती है और वह मृत्यु ठीक वैसी ही होती है जैसे सुषुप्ति होती है—सोनेके लिए चले गये और फिर नया चोला पहनकर निकल गये; सो गये और फिर नया चोला पहनकर निकल आये—मौत माने केवल इतना ही होता है और वह भी अज्ञानियोंके लिए। आप देखें, अगर आप मौतको ऐसे ही समझते हो जैसे रोज सुषुप्ति आती है, तो आपको कोई

तकलीफ नहीं होगी और यदि आप ऐसा समझते हो कि हमारा बनाया हुआ संसार छूट गया, हमारा मकान छूट गया, हमारी कमाई छूट गयी-जिसके चित्तमें मोह ज्यादा होता है उन्हींको तकलीफ होती है और यह मरनेकी तकलीफ नहीं होती है, अपनी बनायी दुनिया छूटनेकी तकलीफ होती है। जो हमने अपना संसार बनाया है-पत्नी और पति छूटनेका कष्ट होता है, पिता और पुत्र छूटनेका कष्ट होता है, धन और मकान छूटनेका कष्ट होता है, सगे-सम्बन्धी छूटनेका कष्ट होता है, इज्जत और कुर्सी छूटनेका कष्ट होता है कि हाय, हमने इतने कष्टसे सब बनाया और अब सब छोड़कर जाना पड़ रहा है। तो असलमें यह दुनिया छूट जायेगी और तुम बने रहोगे। जब ऐसी दुनियासे प्रेम करोगे-ऐसेसे प्रेम करोगे कि तुम तो बने रहो और वह नष्ट हो जाये, तो तुमको कष्ट हुए बिना नहीं रहेगा। आपने स्वयं कष्टका तरीका बना रखा है।

अच्छा, अब एक बात आखिरमें आपको सुनाते हैं और वह क्या है कि वैसे तो प्रत्येक दोषकी निवृत्तिके लिए अलग-अलग उपाय होते हैं, पर कोई-कोई दवा ऐसी होती है जो राम-बाण होती है-दवाएँ भी तो कई होती हैं न, और नयी-नयी निकलती जाती हैं तो पीछेकी छूटती जाती हैं। हमारे बचपनमें एक बार 'अमृतधारा' नामकी दवा चली थी। हम समझते हैं वह अब नहीं चलती होगी-उसके विज्ञापनसे हमारा कोई मतलब नहीं है, पर तब वह बुखार हो तब भी वही, सिरमें दर्द हो तब भी वही, पेटमें दर्द हो तब भी वही। यह हो तो पी लो, यह हो तो नाकमें डाल लो और यह हो तो लगा लो-सौ रोगोंपर वही चले। उस समय इतना वैज्ञानिक आविष्कार भी दवाओंका नहीं हुआ था। तो कोई-कोई दवा ऐसी होती है जो अनेक रोगोंपर चलती है। अब देखो, शास्त्रने कहा कि असत्यपर सत्य और चोरी-बेईमानीपर अस्तेय और कामपर ब्रह्मचर्य और संग्रह-परिग्रहपर अपरिग्रह-अलग-अलग रोग और अलग-अलग दवा। यदि झूठ बोलनेका अभ्यास है तो सत्य बोलनेका अभ्यास करो। पर आपको एक राम-वाण औषधि बताता हूँ जो सब रोगोंपर चले। असलमें दुर्गुण होते हैं अनेक और सद्‌गुण होता है एक। वही नाना-रूप धारण कर-करके अनेक दुर्गुणोंको मार डालता है। एक ही सद्‌गुण है केवल असत्यको मारना होता है तब यही सद्‌गुण सत्य बनकर आता है और जब चोरीको मिटाना होता है तब अस्तेय बनकर आता है, जब क्रोधको मिटाना होता है तब अहिंसा बनकर आता है, जब परिग्रहको मिटाना होता है तब अपरिग्रह बनकर आता है। गुण एक ही है, कामको मिटाना हो तो वही ब्रह्मचर्य बनकर आता है। यह सब उसके वेष हैं और सद्‌गुण एक है और वह सद्‌गुण यह है कि देखो, जिस समय असत्य नहीं रहता है उस समय क्या रहता है-कि शान्ति रहती है और जिस समय हिंसा नहीं रहती है उस समय क्या रहता है कि शान्ति रहती है, जिस समय चोरी-बेईमानीका भाव नहीं रहता है उस समय क्या रहता है कि शान्ति रहती है और जिस समय काम नहीं रहता है उस समय क्या रहता है कि शान्ति रहती है और जिस समय परिग्रह नहीं रहता है उस समय क्या रहता है कि शान्ति रहती है। असलमें चित्तकी जो शान्ति है वह सबसे बड़ा सद्‌गुण है। आप जो अपने जीवनमें सद्‌गुण बढ़ाना चाहते हैं और सद्‌गुण धारण करना चाहते हैं, तो हमारा एक नुस्खा-केवल एक नुस्खा, यह नहीं है कि इसमें कुछ दुराव हो कि छिपाव हो, कि इसकी कोई कीमत हो, यह नहीं है कि इसके लिए आपको कोई पैसा खर्च करना पड़ेगा और यह भी नहीं है कि इसमें कोई बात छिपायी हुई है-बस, इतनी बात है कि आप इस एक बातके लिए अपनेको सावधान रखें। वह क्या कि आप चाहे व्यवहारमें हों, चाहे साधनमें हों, चाहे घरमें हों, चाहे बाहर हों, चाहे दुश्मनसे मिल रहे हों, चाहे दोस्तसे-आपके चित्तकी शान्ति बनी रहे। यदि शान्ति रहेगी तो कामावेश नहीं होगा, शान्ति रहेगी तो क्रोधावेश नहीं होगा, शान्ति रहेगी तो चोरी-बेईमानीका आवेश नहीं होगा, शान्ति रहेगी तो परिग्रहका आवेश नहीं होगा, शान्ति रहेगी तो असत्यका आवेश नहीं होगा-केवल अपने चित्तकी शान्ति बनी रहे। और तो सब शान्तिके वेष हैं, शान्तिकी पोशाक हैं, शान्तिके अभिनय हैं। किसी भी परिस्थितिमें आप चाहे दिन हो चाहे रात, चाहे जीवन हो चाहे मरण, चाहे धन आता हो चाहे धन जाता हो, चाहे राज्य मिलता हो चाहे छूटता हो, सबसे बड़ा सौजन्य यह है कि हमारे चित्तकी शान्ति बनी रहे। यह मनुष्य छोटी-छोटी चीजोंके लिए व्याकुल होनेके लिए पैदा नहीं हुआ है-

न मनुष्यात् श्रेष्ठतरं किञ्चित्।

मनुष्यसे श्रेष्ठ दुनियामें और कोई नहीं है। मनुष्यसे बड़ा, मनुष्यसे सुन्दर और कोई नहीं है। सब सद्‌गुण मनुष्यके अधीन होकर, आश्रित होकर रहते हैं। ऐसे आप जब अपनेको हीन कर देते हैं, दीन कर देते हैं-जबतक हम झूठ नहीं बोलेंगे तबतक यह चीज हमको नहीं मिलेगी, हम उसको मारेंगे नहीं तो यह चीज नहीं मिलेगी, हम बेईमानी नहीं करेंगे तो हमको यह चीज नहीं मिलेगी, हम कामोपभोग नहीं करेंगे तो हम सुखी नहीं हो सकते-यह जो आपके मनमें अपनेको हीन करके, अपनेको छोटा करके दूसरी चीजोंको पानेका ख्याल होता है-सब दुर्गुणोंकी जड़ यही है और आप इन दुर्गुणोंके सामने अपने आपको ऐसा समर्पित कर देते हैं, उनके सामने ऐसे दीन-हीन बन जाते हैं कि इन संसारी वस्तुओंसे कहते हैं कि तुम बड़ी हो, हम तुम्हारे लिए छोटे बननेको तैयार हैं; हम संसारी वस्तुओंसे कहते हैं कि तुम बड़ी हो, हम तुम्हारे लिए हिंसा करनेको तैयार हैं; हम संसारी वस्तुओंसे कहते हैं कि तुम हम सबसे बड़ी हो, हम तुम्हारे लिए चोरी करनेको तैयार हैं, धर्म-ब्रह्मचर्य छोड़नेको तैयार हैं। और इस तरह जब हम दुनियाकी वस्तुओंके सामने अपने आपको दीन-हीन बना देते हैं तब हमारी शान्ति भङ्ग हो जाती है और जब शान्ति भङ्ग होती है तब हमारे अन्दर दुर्गुण आ जाते हैं।

तो गीतामें केवल यही नहीं लिखा है-बल्कि हम समझते हैं कि 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'-छोड़कर माला फेरनेकी बात गीतामें आपको शायद ही कहीं मिले, किसीको मालूम हो तो बताना। आपको चन्दन लगानेवाली बात भी गीतामें कहीं नहीं मिलेगी, माला पहननेवाली बात भी नहीं मिलेगी, लेकिन सौजन्यवाली बात गीतामें आपको पदे-पदे मिलेगी कि आप एक सज्जनके समान अपना जीवन बिताइये। बल्कि ज्ञानीको अलग छोड़ दिया-ज्ञानी आपको होना है तो ऐसे-ऐसे बनिये, भगत आपको होना है, तो ऐसे-ऐसे बनिये; गुणातीत होना है तो ऐसे-ऐसे बनिये; तत्त्वका साक्षात्कार करना हो तो ऐसे-ऐसे बनिये, लेकिन यदि कुछ भी आपको न बनना हो तब भी सज्जन अवश्य बनिये और सज्जन बननेके लिए आपके जीवनमें दैवी-सम्पत्ति जरूर आनी चाहिए।

अब आगे प्रसङ्ग आपको कल सुनावेंगे! ☆

प्रवचन : 24

गीतामें सबके कल्याणकी बात है

गीता भगवान्‌की वाणी है। जैसे पिताकी वाणी अपने सभी पुत्रोंके लिए हितकारी होती है वैसे ही गीताकी वाणी भी संसारके सभी प्राणियोंके लिए हितकारी है, फिर वह चाहे किसी लिङ्गका हो, किसी सम्प्रदायका हो, किसी प्रान्तका हो, किसी राष्ट्रका हो-पशु हो, पक्षी हो-जो सबके भलेके लिए हो वही भगवान्‌की वाणी होती है, जो किसीके भलेके लिए हो और किसीके भलेके लिए न हो वह भगवान्‌की वाणी नहीं होती है। जैसे पार्टियाँ होती हैं तो कोई गरीबोंकी भलाईके लिए होती हैं और कोई धनियोंकी भलाईके लिए होती हैं; कोई इस राष्ट्रकी भलाईके लिए होती है तो कोई उस राष्ट्रकी भलाईके लिए होती है परन्तु, भगवान् किसी जातिमें, किसी सम्प्रदायमें, किसी लिङ्गमें, किसी राष्ट्रमें सीमित नहीं हैं। कोटि-कोटि-ब्रह्माण्ड जो टूट-फूट गये वे भी और जो आगे बनेंगे वे भी और जो इस समय हैं वे भी सब भगवान्‌के स्वरूपमें ही स्फुरित हो रहे हैं। जैसे अग्निमें चिन्गारी होती है वैसे ही भगवान्‌के स्वरूपमें उनकी अचिन्त्य योग शक्ति महामाया कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड प्रकट करती रहती है, वस्तुतः वही हैं। आप देखेंगे-भगवान् केवल बुद्धिमानोंका ही कल्याण नहीं करना चाहते, श्रद्धावानोंका भी कल्याण करना चाहते हैं।

गीताके सोलहवें अध्यायमें दैवी-सम्पदाका वर्णन है-दैवी-सम्पदा माने श्रेष्ठ-सद्‌गुण-यदि हमारे जीवनमें श्रेष्ठ-श्रेष्ठ गुण आ जायें तो हम मोक्षके मार्गमें बढ़ जायें। भगवान् देखो यह बात कहते हैं-

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता। (16.5)

आपके जीवनमें यदि श्रेष्ठ गुण आवेंगे, तो आपको मुक्ति मिलेगी और यदि आप दुर्गुण धारण करेंगे, आसुरी सम्पत्ति धारण करेंगे तो बन्धनमें

फँसेंगे! सत्त्वगुणके उत्कर्षसे दैवी-सम्पदा होती हैं, तमोगुणके उत्कर्षसे आसुरी सम्पदा होती है और दोनोंके मिश्रणसे रजोगुणी-सम्पदा होती है-

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्।। (16.5)

दम्भ करना-बनावट करना; दर्प करना-मेरे बराबर और कौन है-ऐसा अभिमान करना; क्रोध रुक्षता; पारुष्य-कठोरता-यह भी आसुरी सम्पदाका ही लक्षण है कि जिससे बोले उससे टेढ़ा ही बनकर बोले, जिससे बात करे उससे रूखा होकर बात करे-यह रुक्षता भी आसुरी सम्पत्ति है-'क्रोधः पारुष्यमेव च।' संस्कृतवाले तो कहते हैं कि किसी वस्तुका भी यदि वर्णन करना हो तो रूखे शब्दोंमें उसका वर्णन नहीं करना चाहिए, सरस शब्दोंमें ही उसका वर्णन करना चाहिए। एक कहावत है कि दो पण्डित एक राजाके पास गये, राजाने उनसे कहा कि यह जो सूखा पेड़ है इसका आप लोग वर्णन कीजिये। एकने कहा-'शुष्को वृक्षः तिष्ठति अग्रे'-सूखा पेड़ सामने खड़ा है और दूसरेने कहा 'नीरसस्तरुः विलसति पुरतः'-यह सामने नीरस तरु है-नीरस तरु कहा, शुष्क वृक्ष नहीं कहा। वर्णन तो एक ही वस्तुका है परन्तु शब्द कठोर नहीं है-कठोर शब्दोंमें किसी वस्तुका वर्णन करना भी आसुरी सम्पदाका ही लक्षण है। तो, भगवान् हमें बोलना भी सिखाते हैं।

आपको मैं कह रहा था कि सोलहवें अध्यायमें भगवान् कहते हैं कि सद्गुणोंके द्वारा तुम श्रेष्ठ बनो। इसमें भगवत्-प्राप्तिकी कोई बात नहीं है! सत्रहवें अध्यायमें कहते हैं कि श्रद्धाके द्वारा श्रेष्ठ बनो-

यो यच्छ्रद्धः स एव सः। (17.3)

आपके ध्यानमें सत्रहवाँ अध्याय होगा-सात्त्विक पुरुषका, राजस पुरुषका, तामसी पुरुषका-भोजन कैसा होता है-खाना भी सिखाते हैं, यज्ञ कैसा होता है, तप कैसा होता है, दान कैसा होता है, कर्म करना हो तो-

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः। (17.23)

तत्-सत्-भगवान्का नाम लेकर कर्म करो। इसका अर्थ होता है-

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्।। (17.24)

भगवान्का नाम लेकर कर्म करो!

एक बात देखो-कोई शास्त्रपर श्रद्धा करता है, तो उसके लिए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि आप शास्त्रपर श्रद्धाकरके ही कर्म कीजिये। क्यों? कि शास्त्र-विधिका उल्लंघन करनेसे सुख-शान्तिकी प्राप्ति नहीं होती। यह आपने गीतामें सुना होगा-

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्तुमिहार्हसि।।

(16.23-24)

कोई काम करना हो तो वह मनमाने ढंगसे मत करो, पहले अनुशासनमें रहकर उसको सीखना चाहिए। जो लोग ऐसे समझते हैं कि हम सब पेटमें-से ही सीखकर आये हैं, भले ही वे पेटमें-से ही सीखकर आये हों, पर चूँकि बहुत दिन हो गया सीखे और बीचमें बचपन आगया-कुछ-न-कुछ भूल गया होगा, इसलिए उसको फिरसे सीखकर सुधार लेना चाहिए-सीखकर ही काम करना चाहिए।

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ'-जैसे, भले ही पाक्-शास्त्रमें एम-ए. की डिग्री प्राप्त की हुई हो, परन्तु एक बार रसोई बनाते समय देखकर सीखना चाहिए। ऐसे ही भले ही यज्ञ करानेका शास्त्र कोई पण्डित पढ़कर आया हो परन्तु यदि उसने अपने बड़े-बूढ़ोंको यज्ञ कराते नहीं देखा है तो पाठशालामें पढ़ा हुआ यज्ञ-शास्त्र काम नहीं दे सकता। तो, कहनेका अभिप्राय यह है कि सब काम केवल पढ़नेसे नहीं आता है, उसको देखकर सीखना पड़ता है!

अच्छा, एक ओर भगवान् कहते हैं कि कार्य और अकार्यकी व्यवस्थामें शास्त्र प्रमाण हैं-दूसरी ओर भगवान् यह भी कहते हैं कि-

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते। (6.44)

दोनोंका अर्थ दो हो गया कि नहीं? जहाँ कार्याकार्यकी व्यवस्था है-माने क्या करें और क्या न करें, **वहाँ तो आप शास्त्रके अनुसार** काम कीजिये, परन्तु यदि आपको बाहरकी **कर्तव्यताके सम्बन्धमें प्रश्न नहीं है**

और अन्तरमें प्रवेश करना है तो वहाँ शास्त्रानुशासन नहीं चाहिए; वहाँ तो योगकी जिज्ञासा हुई और जो-जो 'इदं' मालूम पड़ता है, उसको छोड़ते चलिये और जो-जो शेष रहता है उसको पकड़ते रहिये-शब्दब्रह्मका वहाँ अतिक्रमण हो जाता है, वहाँ आज्ञा नहीं दी जाती है-वहाँ आज्ञाकी पहुँच नहीं है-*'सोलहों धान बाईस पसेरी'* नहीं तौला जाता है।

देखो, एक बात और गीतामें कहते हैं-

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्मज्यायो ह्यकर्मणः (3.8)

आप अपने कर्म निश्चित रूपसे करते चलिये, कर्म न करनेसे कर्म करना अच्छा है-माने कर्मपर बहुत जोर है और दूसरी ओर देखो-'तस्य कार्यं न विद्यते'-(3.17) एक ऐसी स्थिति आती है जहाँ कर्तव्य नहीं रहता है। तो, श्रद्धालुके लिए भी गीता है, सद्‌गुणीके लिए भी गीता है, कर्तव्य-परायणके लिए भी गीता है, योगीके लिए भी गीता है-इसका अर्थ है कि यह भगवान्‌की वाणी सबकी भलाईके लिए है। श्रद्धालुके लिए गीता और बुद्धियोगीके लिए गीता-आप पाप-पुण्यसे छूटना चाहते हैं, तो आइये आपको ऐसी बुद्धि बतावें कि आप पाप-पुण्यसे छूट जायें-

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते (2.50)

पाप-पुण्यसे छुड़ानेवाली गीता-आप मोहसे छूटना चाहते हैं तो आइये-

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहं एवं यास्यसि पाण्डव (4.35)

अब आपको यह सुनाते हैं कि गीता-भगवती-भगवान्‌की वाणी संसारमें जो पतित-से-पतित हैं, उनका उद्धार करनेके लिए भी तत्पर हैं-हमारे मन्दिर होते हैं-काशीके मन्दिरोंमें तो प्रायः लिखा होता है, जिसका अर्थ होता है कि जो आर्य-धर्मको माननेवाले नहीं हैं, उनका प्रवेश इस मन्दिरमें निषिद्ध है! देखो, अब भगवान्‌के यहाँ कैसा है-

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।।
(9.32-33)

भगवान् कहते हैं कि-

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्-(9.30)

यदि दुराचारी अपने देशमें हैं, अपने राष्ट्रमें है, अपनी जातिमें है-भगवान्‌के राज्यमें यदि कोई दुराचारी है, तो क्या उसके लिए द्वार बन्द होगा? उसके लिए कोई दरवाजा खुला नहीं होगा? कि नहीं, उसके लिए भी दरवाजा खुला होगा। कोई-न-कोई उपाय, कोई-न-कोई युक्ति ऐसी निकालेंगे कि पापी-से-पापी भी परमात्माके पास पहुँच सके-

'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्'-दुराचारी पुरुष भी यदि भगवान्‌का भजन अनन्यभाक् होकर करने लगे तो भगवान् कहते हैं कि देखो, हम तुम्हारे लिए यह आज्ञा देते हैं-

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः। (9.30)

भगवान् कहते हैं कि हम उसको साधु मानें सो नहीं, तुम उसको साधु मानो। यह समाजका कर्तव्य है, यह मानवका कर्तव्य है, यह कोटि-कोटि ब्रह्माण्डके निवासी हमारे प्रजाजनका कर्तव्य है कि उस दुराचारीको भी साधु माने! क्यों? कि 'सम्यग्व्यवसितो हि सः'-उसका निश्चय बड़ा ऊँचा हैं, वह चाहता है साधु बनना! साधु बन सका कि नहीं, बन सका यह प्रसङ्ग दूसरा है, पर वह बनना तो चाहता है न? उसका उद्देश्य पवित्र है, उसका लक्ष्य पवित्र है और लक्ष्यकी पवित्रतासे वह श्रेष्ठ हो गया।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। (9.31)

हनुमानप्रसादजी जब कभी इस श्लोकको व्याख्या करते, तब चुटकी जरूर बजाते-तो हमको याद आ गयी-'क्षिप्रं'-क्षिप्रं माने चुटकी बजाते ही-वह धर्मात्मा हो जाता है और उसको शाश्वत शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है। माने केवल साधनकी ही प्राप्ति नहीं होती है, धर्मात्मा होना, माने साधनका प्राप्त होना-और 'शश्वच्छान्तिं निगच्छति' माने फलका प्राप्त होना-वह सदा रहनेवाली शान्ति प्राप्त कर लेता है। फिर भगवान्‌ने कहा कि कोई शंका करेगा कि जो पापी होता है, उसका नाश हो जाता है और मैं कहता हूँ कि वह धर्मात्मा हो जायेगा और शान्ति प्राप्त करेगा-पापीका तो नाश होना चाहिए-तो आप गीतामें ही पढ़ते हैं-

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।
(2.62-63)

असलमें मनुष्यका नाश तब होता है जब उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। इसका अर्थ है कि मनुष्यका वास्तविक रूप बुद्धिमें निहित है, क्योंकि 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'-जिसके नाशसे मनुष्यका नाश हो जाये, उसीमें तो मनुष्यका वास्तविक स्वरूप होगा! तो बुद्धिका जहाँ नाश हो गया, वहाँ मनुष्यका नाश हो गया। बुद्धिका नाश कब हो गया? कि जब वह पापका समर्थन करने लगे, जब बुराईका समर्थन करने लगे। जैसे कि यदि मनने कहा कि यह वस्तु बहुत प्यारी है, कि अच्छा, प्यारी है तो क्या करना चाहिए? कि इसको प्राप्त करना चाहिए। कि कायदेसे तो यह नहीं मिलेगी। तो बुद्धिने कहा फिर कि अच्छा देखो, हम तुमको एक उपाय बताते है, उस उपायसे यह तुमको मिल जायेगी। तो जहाँ बुद्धिने हमको दूसरेकी वस्तु, जो वस्तु हमारे हककी नहीं है वह वस्तु-उसको बढ़िया मानकर, उसको पानेकी इच्छाकर हमारी इच्छाका समर्थन किया कि इस युक्तिसे इसे प्राप्त करो। तो वहाँ समझना कि अब हमारी बुद्धि नष्ट-भ्रष्ट हो गयी और बुद्धिके नाशसे मनुष्यका नाश हो जाता है। परन्तु भगवान्ने इसके लिए भी अर्जुनसे साफ-साफ कह दिया-

कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति। (9.31)

कौन्तेय-कुन्ती शब्दका विलक्षण अर्थ है। कौन्तेयका एक अर्थ होता है-बुआ कुन्तीका पुत्र फूफेरा भाई, तुम मेरे प्यारे हो, हम भाई-भाई हैं और एक भाईके बदले यदि दूसरा भाई प्रतिज्ञा कर दे, तो वह भाईको मान्य होती है; दूसरे, कुन्ती माने-बड़ी तीक्ष्ण बुद्धिवाली। कुन्त कहते हैं बन्दूकके सिरेपर लगानेवाले संगीनको, वैसी तीक्ष्ण बुद्धिवाली कुन्तीके तुम पुत्र हो, तुम करो प्रतिज्ञा। 'प्रतिजानीहि'का अर्थ है तुम प्रतिज्ञा करो। बोले भाई, दूसरेके लिए दूसरा कोई प्रतिज्ञा करे, यह तो सुननेमें नहीं आता है। प्रतिज्ञा तो जिसका भाव होता है वही करता है। तो बोले भगवान् कि भक्तिमार्गमें ऐसा चलता है कि भक्तलोग अपने भगवान्की ओरसे भी प्रतिज्ञा कर लेते हैं। क्यों? कि भगवान् तो ऐसे हैं कि उनके भक्त लोग खिलावें तो खायें, सुलायें तो सोवें और भक्त लोग यदि उनको बेच दें तो बिक भी जायें, दान कर दें तो भगवान्का दान हो जाये-इस तरह भगवान् तो अपने भक्तके वशमें होते हैं। तो उन्होंने कहा कि देखो अर्जुन, प्रतिज्ञा मेरी ओरसे तुम करो, मैं प्रतिज्ञा नहीं करूँगा। बोले-क्यों कृष्ण, तुम प्रतिज्ञा क्यों नहीं करते? बोले-मैं प्रतिज्ञाके लिए इस समय बहुत निर्बल स्थितिमें हूँ। निर्बल-स्थितिमें कैसे हो? कि मैं एक प्रतिज्ञा करके आया हूँ कि मैं महाभारत-युद्धमें शस्त्र-ग्रहण नहीं करूँगा और हमारी वह प्रतिज्ञा पूरी होनेवाली नहीं है, टूटनेवाली है, यह हमको मालूम है और इससे हमारी बड़ी बेइज्जती होगी और इस समय यदि मैं यह प्रतिज्ञा करूँगा कि मेरे भक्तका नाश नहीं होता और थोड़ी देर बाद ही जब मैं अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दूँगा तो मेरी प्रतिज्ञापर दुनियामें कोई विश्वास नहीं करेगा, इसलिए इस समय प्रतिज्ञा मेरी नहीं तुम्हारी चाहिए। अर्जुन प्रतिज्ञा करनेमें बड़ा निपुण था। वह तो ऐसी प्रतिज्ञा करता था कि आज यह काम मैं नहीं करूँगा तो आगमें प्रवेश कर जाऊँगा। भागवतमें आया है कि ब्राह्मणके पुत्रोंको जीवित करनेके लिए अर्जुनने कहा कि यदि मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी न करूँ तो अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा, महाभारत युद्धमें उसने कहा कि आज सूर्यास्तके पूर्व यदि मैं जयद्रथको नहीं मार डालूँगा तो मैं अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा। तो अर्जुन प्रतिज्ञा करनेमें और उसको पूरी करनेमें बड़ा निपुण और बड़ा दृढ़ था।

अब दूसरी बात देखो-भगवान् कहाँ खेलते हैं, कहाँ विचरण करते हैं कि पर्वतपर गोवर्धन पर्वतपर, जो बड़ा दृढ़ हो। तो, भक्तके हृदयमें जो दृढ़ता वह गोवर्धन है और भक्तके हृदयमें पवित्रता है वह सरोवर और निरन्तर कृष्णाकार-वृत्तिका प्रवाह है वह यमुना है। भगवान् यमुनाजीमें क्रीड़ा करते हैं, भगवान् पर्वतपर बिचरते हैं, भगवान् सरोवरमें डुबकी लगाते हैं। तो श्रीकृष्ण अर्जुनके हृदयमें जो प्रतिज्ञा-पालनकी दृढ़ता है उसको दिखाते हैं। कहते हैं-भगवान् अपनी प्रतिज्ञा पालन करनेमें चूक जायें तो चूक जायें, परन्तु भक्त अपनी प्रतिज्ञाका पालन करनेमें नहीं चूकता

है। 'हीन होना नहीं और भागना नहीं'–यह अर्जुनकी प्रतिज्ञा है। उन्होंने कहा–तुम प्रतिज्ञा करो अर्जुन!

न मे भक्तः प्रणश्यति कौन्तेय प्रतिजानीहि–
त्वं प्रतिजानीहि प्रतिज्ञायस्व–

तुम प्रतिज्ञा करो। कि क्या प्रतिज्ञा करें? कि 'न मे भक्तः प्रणश्यति'–जो श्रीकृष्णका भक्त होगा उसका प्रणाश कभी नहीं होगा। तो देखो, एक ओर भगवान् कहते हैं कि पापी-से-पापी भी मुझे प्राप्त कर सकते हैं और दूसरी ओर कहते हैं कि मुझे प्राप्त करना है तो सद्गुणोंको धारण करो। श्रद्धावान्को भगवान् मिलते हैं–

श्रद्धधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः। (12.20)
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः। (6.47)

और एक ओर पापी-से-पापीके लिए भी द्वार खुला हुआ है। आपको सुनाया कि एक ओर बोलते हैं कि शास्त्र-विधिका उल्लंघन करोगे तो सुख-शान्ति नहीं मिलेगी दूसरी ओर बोलते हैं कि यदि तुम योगके जिज्ञासु हो, तो शब्द ब्रह्मका तुमने अतिक्रमण कर लिया है, तुम्हारे लिए शास्त्र नहीं है और योगी हो–योगके जिज्ञासुके लिए तो अनुशासन नहीं है और यदि योगकी प्राप्ति हो गयी तो उसके लिए आचार-विषयक जैसी साधारण धारणा है वैसी नहीं है–

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते। (6.31)
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।। (13.23)

'सर्वथा वर्तमानोऽपि'–अभिप्राय क्या है कि गीता योगीके लिए भी है, योगके जिज्ञासुके लिए भी है, सद्गुणीके लिए भी है, सद्गुणीके लिए भी है, पतितके लिए भी है, भक्तके लिए भी है, ज्ञानीके लिए भी है–गीता समस्त विश्व-सृष्टिका कल्याण करनेके लिए है। विवाहमें एक मन्त्र पढ़ा जाता है उसको हृदय-स्पर्श बोलते हैं–आजकलके पण्डित लोग कभी पढ़ते हैं कभी नहीं पढ़ते हैं। देखो, वह मन्त्र भरी सभामें लड़का-लड़कीके हृदयका स्पर्श करता है और स्पर्श करके यह मन्त्र बोलता है। यह मन्त्र मैं आपको सुनाता हूँ–

मम व्रते ते हृदयं दधामि
मम चित्तं अनुचित्तं ते अस्तु
मम वाचं एकमना
प्रजापतिस्त्वां नूनत्वम्।

मैं तुम्हारे हृदयको अपने व्रतमें स्थापित करता हूँ। माने अब आजसे जो हमारा व्रत है वही तुम्हारा व्रत है, हम दोनोंका व्रत एक है; हमारा मन और तुम्हारा मन दोनों एक हो जाय, हम तुम्हारे पीछे चलें और तुम हमारे पीछे चलो; मैं जो कहूँ उसको तुम ध्यान देकर सुनना, यह मन्त्र है। हमारे कहनेका मतलब क्या था कि जब श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों महाभारतकी भूमिमें एक स्थानपर बैठे तब भगवान्ने कहा कि अर्जुन यह जो हमारा-तुम्हारा मिलन है इसमें आज हृदय-स्पर्शकी प्रक्रिया हो जाये–'गीता मे हृदयं पार्थ'–अर्जुन, यह गीता कोई पोथी नहीं है, यह गीता कोई शास्त्र भी नहीं है, यह गीता मेरा हृदय है और जैसे एक मित्र अपने मित्रको और एक पति अपनी पत्नीको हृदय समर्पणकी क्रिया करता है वैसे मैं आज तुम्हें अपना यह हृदय दे रहा हूँ, अपने हृदयका दान कर रहा हूँ–यह गीता भगवान्का हृदय है। यह गीताका उपदेश हृदय-दानकी प्रक्रिया है। आप यदि भगवान्का दिल प्राप्त करना चाहते हैं तो आप गीतासे प्राप्त कीजिये और जब भगवान्ने अपना हृदय निकालकर अर्जुनके शरीरमें रख दिया तब बोले–जो तुमसे द्वेष करता है वह मुझसे द्वेष करता है और जो तुम्हारे पीछे चलता है वह मेरे पीछे चलता है। संजयसे कहा भगवान्ने कि जाकर धृतराष्ट्रसे कह दो कि–'कृष्णो धनंजयस्य आत्मा कृष्णस्य आत्मा धनंजयः'–कृष्णकी आत्माका नाम अर्जुन है और अर्जुनकी आत्माका नाम कृष्ण है, जो कृष्ण है सो अर्जुन है और जो अर्जुन है सो कृष्ण है।

☆

प्रवचन : 25

नारीमें भगवान्‌की विभूतिका दर्शन

भगवान्ने गीताका उपदेश अर्जुनको समाधिकालमें नहीं दिया था- यह तो आपको मालूम ही है। अतः जब मनुष्यकी समाधि लग जाती है तब भगवान् ज्ञान देते हैं यह कल्पना आप अपने मनसे निकाल दीजिये। समाधि-दशामें गीताका उपदेश नहीं हुआ है। अच्छा, संन्यास-दशामें हुआ होगा? कि नहीं संन्यास-दशामें भी नहीं हुआ है, यह तो ममतासे आक्रान्त दशामें हुआ है। योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः'-तो आप भी यह मत देखिये कि आप किस दशामें हैं। न इसमें समाधिकी जरूरत है और न तो संन्यासकी। यहाँ तो युद्धभूमिमें-जीवनके संघर्षमें, जहाँ ऊँची-नीची परिस्थितियाँ रोज उत्पन्न होती हैं, वहाँ गीता हमारे जीवनमें प्रवेश करती है।

अब एक बातकी ओर और आपका ध्यान खींचते हैं-मैं प्रायः ही सुनाता हूँ कि गीतामें स्त्री-पुरुषका लिङ्ग-भेद, शैव-वैष्णवका सम्प्रदाय-भेद, ब्राह्मण-शूद्रका वर्ण-भेद, भारतीय-अभारतीयका राष्ट्रीयता-भेद-यह सब कुछ नहीं है। यह तो जितने भगवान्के बच्चे हैं, माने जो भगवान्से पैदा हुए हैं उन सबकी भलाईके लिए भगवद्गीता है। एकने कहा कि अच्छा बताओ, इसमें स्त्रियोंके लिए कोई खास बात कही गयी है कि नहीं? तो जब इसमें स्त्री-पुरुषका भेद मानकर कोई बात ही नहीं कही गयी-सबके अन्दर एक जीवात्मा, सबके अन्दर एक ही परमात्मा-'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'-सबके हृदयमें परमेश्वरका निवास है तो यह क्या स्त्रियोंको छोड़कर केवल पुरुषोंके लिए कहा गया है? 'मामेकं शरणं व्रज' कहा गया। मेरी शरणमें आओ-तो क्या वह पुरुषोंके लिए कहा गया, स्त्रियोंके लिए नहीं? क्या वह ब्राह्मणोंके लिए है और शूद्रोंके लिए नहीं है? क्या वह भारतीयोंके लिए है अभारतीयोंके लिए नहीं? क्या वह हिन्दुओंके लिए है मुसलमानोंके लिए नहीं, भगवान् तो सबके स्वामी हैं, सबके अन्तर्यामी हैं, सबके परम प्रेमास्पद हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान् हैं। वे जो कुछ बोलते हैं वह सबके लिए बोलते हैं-'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं' भी तुम्हारे लिए है और 'मामेकं शरणं व्रज' भी तुम्हारे लिए है; 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' भी तुम्हारे लिए है और 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' भी तुम्हारे लिए है। अपने धर्ममें मर जाओ, यह भी तुम्हारे लिए है और सारे धर्म छोड़कर मेरी शरणमें आ जाओ, यह भी तुम्हारे लिए है; त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' यह भी तुम्हारे लिए है और वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्'-यह भी तुम्हारे लिए है। तो चाहे बालक हो चाहे वृद्ध हो, चाहे स्त्री हो चाहे पुरुष हो, सबके लिए है।

अच्छा, अब एक बाल-सुलभ चपलताकी बात आपको सुनाता हूँ। मैं बचपनमें जब गीता पढ़ा था, तब यह संकल्प मनमें आया कि मैं गाय हूँ और भगवान् मुझे उपदेश कर रहे हैं-'नियतं कुरु कर्म त्वं कर्मज्यायो ह्यकर्मणः'-मैं घोड़ा हूँ और मुझे उपदेश कर रहे हैं-'नियतं कुरु कर्म त्वं कर्मज्यायो ह्यकर्मणः'। मैं बैल हूँ-'कर्मण्येवाधिकारस्ते'-माने नये-नये भिन्न-भिन्न योनियोंमें, भिन्न-भिन्न लिङ्गोंमें-स्त्रीमें, पुरुषमें अपना तादात्म्य करके कि मैं ऐसा हूँ तो भगवान् क्या कह रहे हैं, यह सोचता। भगवान् तो हर हालतमें कुछ-न-कुछ बोलते हैं, तो भगवान्की वाणी तो सबके लिए होती है। तमोगुणीके लिए ही देखे, गीतामें कितना वर्णन है, रजोगुणीके लिए कितना वर्णन है, सत्त्वगुणीके लिए कितना वर्णन है-विभाग करो तब मालूम पड़ेगा! तो, दैवी सम्पदावाले अर्जुनके लिए और आसुरी सम्पदावाले दुर्योधनके लिए-दोनोंके लिए 'मामका पाण्डवाश्चैव'-अर्जुनका चरित्र पहले अध्यायमें दैवी सम्पदाका चरित्र है और दुर्योधनका चरित्र पहले अध्यायमें आसुरी सम्पदाका है। यहींसे यह विभाग हो जाता है। दुर्योधन आज्ञा देता है-आप सब भीष्मकी रक्षा करें, ये सब मेरे लिए मरनेको तत्पर हैं-'मदर्थे त्यक्तजीविताः।' यह गीता दैवी-सम्पदा, आसुरी-सम्पदा, सात्त्विक, राजस, तामस, स्वर्ग, नरक और मनुष्यके जीवनमें कहाँ किसकी आसक्ति है इन सबका वर्णन करती है। आप अपनेको यदि देखना चाहते हैं तो आपके लिए एक श्रेष्ठ आइनेका काम गीता दे सकती है। आपका भोजन सात्त्विक है कि राजस, आपकी बुद्धि सात्त्विक है कि राजस, आप मृत्युके अनन्तर कौन-सी गति प्राप्त करेंगे, आप सगे-सम्बन्धियोंमें कितने फँसे हुए हैं-आप यदि अपनेको व्यावहारिक रूपमें देखना चाहें तो गीता आपको बताती है। आपका पूरा आदम-कद चित्र गीता प्रस्तुत करती है। कल ही एक माताने कहा कि अभी हमको सन्तोष नहीं हुआ, हमको

गीतामें-से स्त्री-विषयक धर्म बताओ-स्त्रियोंके लिए अलग चाहिए, उनका अधिकार क्या किसीसे कम है? कि अच्छा लो, आपके लिए बताते हैं कि भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि मैं स्त्री हूँ-आपके ध्यानमें यह बात आ जाये, बहुत बढ़िया। बोले-सब स्त्री? बोले-आत्माके रूपसे तो सब स्त्री मैं ही हूँ-

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। (10.20)

सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित आत्मा मैं ही हूँ-दशवें अध्यायमें दो ही बातका वर्णन है एक विभूतिका और एक योगका और दोनों अलग-अलग होते हैं। आप कभी दसवाँ अध्याय पढ़ें तो उसमें वर्गीकरण कर लें कि उसमें विभूति क्या है और योग क्या है।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः (10.7)

भगवान्‌की एक विभूति है और एक योग है।

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः। (10.7)

अविकम्प योगकी प्राप्तिके लिए हमें विभूति भी चाहिए और योग भी चाहिए। तो विभूति वह होती जो वैभव हो और योग वह होता है जो आत्माके बिलकुल सन्निकट हो-जैसे पानीका बर्फ हो जाना-यह पानीका वैभव है; गायके शरीरमें जाकर पानीका दूध हो जाना, यह पानीका वैभव है; अंगूरमें मीठा हो जाना और नींबूमें खट्टा हो जाना-यह पानीका वैभव है; लेकिन पानी-का-पानी रहना-यह पानीका योग है। तो वैभव होता है-अन्य रूपमें प्रकट होना और योग होता है-स्वरूप रूपसे प्रकट होना। आप देखें दसवें अध्यायमें वक्ताओंका भी विभाग है। मनु जो हैं वे विभूतिके वक्ता है-

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा। (10.6)

अच्छा, आओ अब भगवान्‌की एक विभूति देखें-क्या विलक्षण है-स्त्रियोंमें मेरी विभूति प्रकट है। आप पहचानिये। स्त्रीके रूपमें भगवान्‌की विभूति-एक बार एक पिता एक कुमारी कन्याको लेकर गुरुनानकके पास गये! गुरुनानक उस कन्याकी ओर देखने लगे। पिताने पूछा कि गुरु साहब आप क्या देख रहे हैं? वे बोले कि मैं भगवान्‌की कारीगरी देख रहा हूँ। क्या रचना-कौशल है भगवान्‌ने क्या बढ़िया यह कन्या बनायी है-मैं भगवान्‌की अचिन्त्य रचना-कौशल-रचनाकी कारीगरी देख रहा हूँ, इस किशोरी कन्यामें। तो भगवान्‌ने स्त्रियोंके बारेमें क्या बताया-यह नहीं कहा भगवान्‌ने कि मैं कौन-कौन-सी स्त्री हूँ, यह कहा कि मैं सब स्त्रियोंमें रहता हूँ-

कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा। (10.34)

गिनती कर लो। प्रत्येक स्त्रीमें सात रूपसे भगवान् रहते हैं-कीर्ति-यह भगवान्‌की विभूति! भगवान्‌ने विचार किया कि मैं विवाह कर लूँ। फिर ख्याल आया कि मुझे अपनी बेटी कौन देगा। तो पहले उन्होंने कीर्ति प्रकट की। अपनी ही कीर्ति स्त्रीके रूपमें प्रकट कर दी और उन कीर्तिसे स्त्री प्रकट हुई। राधारानीकी माँका नाम आपको मालूम है? उनकी माँका नाम था-कीर्ति। तो पहले कीर्ति प्रकट हुई। आप भगवान्‌का कीर्तन कीजिये। उनकी कीर्ति श्रवण कीजिये, उनकी कीर्तिका वर्णन कीजिये-उसमें-से राधा-आराधना प्रकट होगी और वह भगवान्‌के साथ ब्याही जायेगी। आपके हृदयमें कीर्ति आवेगी और आपके हृदयमें ही राधा प्रकट होगी और आपके हृदयमें राधाका विवाह भगवान्‌के साथ होगा। देखिये, कीर्तिका अर्थ क्या है कि प्रत्येक स्त्रीमें कीर्ति होनी चाहिए। कीर्ति है तो उसमें भगवान्‌का निवास है-यह किसी-किसीके लिए नहीं है, सब स्त्रीके लिए है।

कीर्तिका क्या अर्थ है कि उसके सम्बन्धी लोग, उसके घरके लोग उसकी कीर्तिका गान कर रहे हैं कि यह स्त्री बड़ी पवित्र आत्मा है, बड़ी सदाचारिणी है। उसपर कोई उँगली न उठा सके-स्त्रीका केवल निष्कलंक रहना ही पर्याप्त नहीं है, स्त्रीकी निष्कलंकता गाँवमें प्रकट भी होनी चाहिए, सब लोगोंकी धारणा ऐसी होनी चाहिए कि यह स्त्री सदाचारिणी, पवित्रात्मा, सती है; तो जिस स्त्रीकी कीर्ति होती है-जिसकी कीर्ति सास भी करे, ससुर भी करे, देवर भी करे, जेठ भी करे, पति भी करे-सभी करें और सभी कहें कि यह स्त्री बड़ी सती-साध्वी है। उस सती-साध्वी स्त्रीके रूपमें स्वयं भगवान् उनके जीवनमें निवास करते हैं-वह साक्षात् भगवती है।

दूसरा-श्री, श्री माने एक तो शरीरका सौन्दर्य होता है, वह भी होना आवश्यक है और एक मनका सौन्दर्य होता है। चमड़ी गोरी हो तो सुन्दरता होती है यह तो बिलकुल वेवकूफोंका विचार है। ऐसी-ऐसी गोरी चमड़ी हमने देखी है कि उनका मुँह देखनेका मन नहीं होता। जो सौन्दर्य है यह तो असलमें भीतरके आनन्दका विकास है, रंग दूसरी चीज है और आकृति

दूसरी चीज है। यह कृति-'कट'-नाक कैसी और कान कैसा, एक कान बड़ा और दूसरा कान छोटा है, एक आँख बड़ी और एक आँख छोटी हो तो कैसी लगेगी-तो नाककी कट भी अच्छी हो और आँख भी अच्छी हो, कान भी अच्छे हों, दाँत भी अच्छे हों, हाथ भी अच्छे हों, पाँव भी अच्छे हों-सौन्दर्यका निवास हो शरीरमें तो वह भगवान्की विभूति है।

स्त्रीको अभिमान नहीं करना चाहिए कि मैं बहुत सुन्दर हूँ। उसको समझना चाहिए कि भगवान् सुन्दरताके रूपमें मेरे शरीरमें प्रकट हुए हैं, उनका आदर करना चाहिए, जैसे भगवान्की पूजा करते हैं वैसे ही सुन्दरताकी भी आप पूजा कीजिये-शीशेमें उसका दर्शन कर लीजिये, कभी कहीं कोई मलिनता हो तो उसको दूर कर दीजिये, परन्तु सुन्दरता-की-सुन्दरता जो है वह मनमें निवास करती है-वह क्या है कि मनमें मैल न हो! यह छल, यह कपट, यह कुटिलता-यह सब मनका मैल है, यह सब नहीं होना चाहिए मनमें सरलता होनी चाहिए। जो स्त्री जितने सरल स्वभावकी होती है कहते हैं कि उसके अन्दर उतना ही भगवान्का निवास है।

अब तीसरी बात देखो-आपके अन्दर भगवान् हैं। आपकी पवित्रताकी कीर्तिके रूपमें, आपके अन्तर और बाहरके सौन्दर्यके रूपमें और वाणीके रूपमें। यह महाराज, शरीर देखनेमें बड़ा सुन्दर-सुन्दर होता है। हमको तो कभी-कभी किसी-किसीके घरमें रहना पड़ता है न, तब मैं उन सुन्दर शरीरवालोंको देखता हूँ जब वे नौकरोंको डाँटती हैं-अरे, उनकी आवाज तो ऐसी मालूम पड़ती है कि क्या पूछना! नौकरको डाँटती हैं, बच्चेको डाँटती हैं या अपने पतिपर ही बरसना शुरू करती हैं। स्त्रीकी वाणीमें भगवान्का निवास है वहाँ सरस्वतीके रूपमें भगवान् प्रकट होते हैं-'सारं, सुष्ठु, मितं, मधुः'-बहुत बात करनेकी आदत नहीं होनी चाहिए, सार-सार बोलना चाहिए-सार माने दूधकी मलाई। मलाई-मलाई निकाल लो और सुष्ठु-माने दूधकी मलाई तो हो, पर थोड़ी इधर, थोड़ी उधर कट-पीट की हुई हो-वैसी नहीं। आपको मालूम है, भोजनमें चार गुण होने चाहिए-एक तो जब रसोई घरमें-से गन्ध नाकमें आवे तो खानेका मन हो जावे-ऐसी तो होनी चाहिए सुगन्ध और जब आँखसे दिखायी पड़े तो उसकी सुन्दरता देखकर मनुष्य मुग्ध हो जाये और जीभपर जाय तब छोड़नेका मन ही न करे-स्वादु हो और जब शरीरके भीतर जाय तब रोगको मिटा दे, आनन्द दे और दुःखी मनुष्य भी सुखी हो जाये-यह चार गुण भोजनमें होने चाहिए। इसको बोलते हैं-सौरभ्य, सौन्दर्भ, सौरस्य और सौहित्य। आप देखेंगे भोजनका वर्णन भी गीतामें है-

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या। (17.8)

रस्या-भोजनमें रस आवे और स्थिरा-बारम्बार खाना न पड़े, ऐसा हल्का-फुल्का भोजन खाने लगे कि दिन भर खाओ तब भी पेट न भरे। दिनभर चलता रहे, मुँह जूठा रहे, जब देखो तब खा ही रहे हैं-यह हमारे धर्म-देशकी रीति नहीं है, यह भोग-देशकी रीति है; धर्म-देशकी और भोग-देशकी रीतिमें जो अन्तर होता है वह आपके ध्यानमें होगा। माताकी पूजा धर्म-देशकी रीति है और प्रेयसीकी पूजा भोग-देशकी रीति है-तो यह देखो कि आप जो बोल रहे हैं वह सार-सार हो, सुष्ठु हो-माने देखनेमें सुन्दर हो और मितं-थोड़ा-थोड़ा बोले। आदमी ज्यादा खाता हो, तो भी जैसे एक बार भर थाली भात नहीं परोसना चाहिए, रोटी भी यदि ज्यादा खाता हो तो एक-एक रोटी, दो-दो रोटी परोसना चाहिए और मधुः-और बोलनेमें केवल मलाई ही नहीं होनी चाहिए उसमें शहद भी होना चाहिए-'सारं सुष्ठु, मितं, मधुः'। द्रौपदी कैसा बोलती थी-'धर्म्यं न्यायं, सकरुणं'-द्रौपदीकी वाणीमें धर्म था, न्याय था, करुणा थी, निष्कपटता थी, समता थी और उदारता थी। इतने गुण थे-कि *'बोलिये तो तब जब बोलिबेकी रीति जानो'*-बोलीमें ही तो वशीकरण मन्त्रका निवास है। ऐसा बोलिये कि बस! भले ही पुरुषके शरीरमें कठोरता है और उसके हृदयमें कठोरता है और उसकी वाणीमें भी कभी-कभी कठोरता आ जाय-वह शैव है, परन्तु स्त्री तो कोमलताकी मूर्ति है, मृदिमा है-मृदिमाकी अधिष्ठातृ देवता है, लक्ष्मी है, उसके शरीरमें सौन्दर्यका निवास है और उसकी वाणीमें सरस्वतीका निवास है, उसके चारों ओरके वातावरणमें कीर्तिका निवास है। भगवान् प्रकट होते हैं स्त्रीके शरीरमें। आपने देखा, गीतामें 'स्मृतिर्मेधाधृतिः क्षमा'-ये चारों बातें स्त्रीके जीवनमें होनी चाहिए। ये अन्तरङ्ग हैं और पहले जो तीन बातें कहीं वे बहिरङ्ग हैं। दसवें अध्यायमें है यह श्लोक। अब देखो, एक यह है कि घरमें सासने कहा कि मेरे लिए सूप बना देना, पत्निने कहा, मेरे मेरे लिए कमीजमें बटन टाँक देना-तो हुआ क्या

कि सासजी इन्तजार ही करती रह गयीं और पतिदेवने जब आफिस जानेके लिए कमीज पहननी चाही तो उसमें बटन ही नहीं-बोले, क्या बात हुई? कि मैं तो भूल गयी, मेरा तो स्वभाव ही है भूलनेका-यह जो बेवसी प्रकट करना है यह स्त्रीके स्वभावके अनुकूल नहीं है। कोमलता जो है उसमें तो स्मृति रहती है-स्मृति रहती है-स्मृति होना माने स्त्रीके शरीरमें भगवान्का आविर्भाव होना-देखो, अर्जुनके पास स्मृति नहीं थी-आपको मालूम है न? जब सारी गीता सुन ली तब उसको क्या मिला?

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।

अर्जुनको सारी गीता सुननेके बाद स्मृति मिली और स्त्रीके शरीरमें स्मृति जन्मसे आती है। यदि स्त्री अपने कर्तव्यको भूल जाय, तो वह भूलना कई तरहसे होता है। भूलना भी दो प्रकारका होता है-एक तो आलस्यसे भूलना होता है, याद तो है पर फिर कर लेंगे, यह फिर कर लेंगेकी जो आदत है उससे, और दूसरे प्रमादसे। प्रमाद माने सचमुच भूल गये। अपने कर्त्तव्यको भूल जाना भी पाप है और फिर समयपर चिल्लाने लगना कि अरे, हमको तो याद आती ही नहीं है! जहाँ स्त्रीके शरीरमें स्वाभाविक स्मृतिका निवास है वहाँ भगवान्का निवास है। यह वैसा ही है कि जैसे-

वृष्णिनां वासुदेवोऽस्मि-

यदुवंशियोंमें भगवान्का क्या स्वरूप है-बोले वासुदेव श्रीकृष्ण, स्त्रियोंमें भगवान्का स्वरूप-बोले स्मृति, और मेधा भी-मेधा माने जो बात एक बार सिखा दी जाये उसको याद रखना। अबकी बार मैं टेलीवीजनका कारखाना देखने गया-जो बनाते हैं वे ले गये दिखानेको, तो वहाँ देखा मैंने कि सब लड़कियाँ काम कर रही थीं। तो मैंने पूछा कि तुमलोग काम करनेके लिए लड़कियाँ अधिक क्यों रखते हो? बोले-कि स्वामीजी, मनोवैज्ञानिक रीतिसे बातकी परीक्षा करके देख ली गयी है कि यह जो हमारा काम है, इसमें दस तरहका तार बार-बार लगाना पड़ता है-एक ही काम बार-बार करना पड़ता है; लड़के जो होते हैं वे एक ही काम बार-बार करनेसे ऊब जाते हैं और फिर मनसे नहीं करते हैं, जबकि लड़कियोंको तो रोटी बनानेकी आदत होती है, जैसे वे वही रोटी बनाने और वही खिलानेका काम बार-बार करती हैं वैसे ही-वही तार और वही मशीन-एक ही तार-बार-बार लगाती चली जाती हैं, वे ऊबती नहीं। यह लड़कियोंकी प्रशंसाकी बात हुई कि वे बहुत देरतक, मन लगाकर एक ही कामको बार-बार कर सकती हैं जब कि पुरुषका मन चंचल हो जाता है। यह बात कारखानेके मालिकने स्वयं मुझको बतलायी जो मुझे वह कारखाना दिखा रहा था। लड़कियोंमें बहुत बुद्धि होती है-एक बार सिखा देते हैं और वे झट सीख लेती हैं। मेधाका अर्थ संस्कृतमें होता है-धीः धारणावती मेधाः-धारणावती बुद्धिको मेधा बोलते हैं। मेधा माने जो सिखा दिया जाय उसको ऐसा धारण कर ले कि जीवन भर उसको न भूले! और फिर नया-नया आविष्कार करे उसमें, नया-नया ढंग निकाले।

अब आप देखो स्त्री-शरीरमें भगवान्के ये रूप हैं-उसकी कीर्ति, उसकी सुन्दरता, उसकी वाणी, उसकी स्मृति, उसकी बुद्धि-मेधा और उसकी धृति। यह 'धृति' बड़ी विलक्षण है, सबसे बड़ा ईश्वरका रूप है जीवनमें यह 'धृति'। जिसके जीवनमें धृति नहीं है उसका संसारमें कोई आदर नहीं हो सकता। 'धृति'का अर्थ है रोकना, पकड़ रखना अब देखो धृति क्या है-

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।।

(18.33)

धृतिके तीन भेद हैं-सात्त्विक धृति, राजस धृति और तामस धृति। एक आदमी ऐसा था कि उसको रोनेकी आदत पड़ गयी-बात-बातमें रोवे; एक आदमीको ऐसी आदत पड़ गयी कि बात-बातमें अपना अभिमान जाहिर करे और एक दिन कोई सपना आ गया तो रोने लगे कि आज हमने सपनेमें ऐसा देखा-

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी।। (18.35)

तामसी बुद्धिका लक्षण क्या है कि शोक, भय, विषाद, मद जीवनमें आया कि रोते ही रहे, उनको छोड़ते ही नहीं हैं कि हाय-हाय हमारे जीवनमें ऐसा विषाद आ गया, ऐसा मद आ गया-हमारे बराबर अभागा और कौन है!-माने जिससे हम दुर्गुणको अपने जीवनमें रखते हैं वह तामसी धृति है। और राजसी धृति क्या है कि-

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।। (18.34)

क्रिया, धर्म और भोगको पकड़कर बैठ गये–कि अब यह धर्म हम कभी नहीं छोड़ेंगे और यह भोग तो हम जरूर भोगेंगे और यह कर्म तो हम जरूर करेंगे–यह राजसी धृति हो गयी। और सात्त्विक धृति क्या है–और यह मनुष्यके जीवनमें होनी आवश्यक है कि आप यदि किसीका व्याख्यान सुनकर, प्रवचन सुनकर कह दें कि जो हो सो होने दो–भई निकल गया मुँहसे तो–क्या हुआ, निकल गया–नहीं बाबा, अपनी जीभ पकड़कर रखनी चाहिए। एक हमारे शास्त्री-शिष्य हैं और बड़ा प्रेम करते हैं लेकिन, उन्होंने अपनी विशेषता दिखानेके लिए पाद-कमलकी जगह खुर-कमल लिखा–यह नहीं है कि उनके प्रेममें कुछ कमी हो कि कोई द्वेष हो–खुर तो घोड़ेके होता है, बैलके होता है, बकरीके होता है–तो चरण-कमलोंमें लिखनेकी जगह खुर-कमलोंमें लिखा। तो, इसका क्या अर्थ हुआ कि जबानपर या कलमपर रोक नहीं है। 'धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः'–मन यदि गलत बात सोचने लगे, करने लगे तो उसको रोक लो–इसमें किसी डाक्टरकी बात माननेकी जरूरत नहीं है। यदि डाक्टर कहे कि तुम्हारी पत्नी जो करती है सो करने दो और तुम्हारा बेटा जो करता है सो करने दो और तुम्हारी जीभ जो बोलती है सो बोलने दो तो वह तुमको और पागल बनाता है, वह और गोली खिलाना चाहता है।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।

मनकी क्रिया, प्राणकी क्रिया और इन्द्रियकी क्रियाको रोकनेकी शक्तिका नाम सात्त्विक धृति है। यह नहीं कि मनमें आया और घर चले गये और मनमें आया और किसीकी चीज चोरी करके उठा ली और मनमें आया तो जो चाहे सो बोल दिया और मनमें आया सो उठाकर मुँहमें डाल लिया। आहार और विहार दोनोंमें ऐसी धृति शक्ति जो होती है वह चाहे स्त्रीके जीवनमें हो या पुरुषके जीवनमें उसको सात्त्विक धृति बोलते हैं। अपनी इन्द्रियोंको गलत काम मत करने दो, गलत जगह मत जाने दो। बल्कि श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज तो ऐसे बोलते थे कि व्यर्थ भाषण मत करो, व्यर्थ श्रवण मत करो, व्यर्थ दर्शन मत करो और व्यर्थ चेष्टा मत करो। लोग बैठे रहते हैं और पाँव हिलाते रहते हैं, बैठे हैं और हाथ हिलाते जा रहे हैं–तो व्यर्थ चेष्टा, व्यर्थ श्रवण, व्यर्थ दर्शन, व्यर्थ भाषण इनका परित्याग करनेसे मन एकाग्र होता है।

इस धृतिको अव्यभिचारिणी बना लो। यह कैसे होगा? कि इसके लिए साधन करना पड़ेगा, अभ्यास करना पड़ेगा–

योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।

सात्त्विकी धृति जहाँ है वहाँ भगवान्‌का निवास है, परन्तु भगवान् कहते हैं कि स्त्री-पुरुषमें धृति होनी चाहिए; यह तो ठीक है, परन्तु स्त्रीमें धृतिका होना–यह उसका एक विशेष गुण है, उसका विशेष सौन्दर्य है, उसकी विशेष विभूति है!

एक बात और देखो; ऐसी विभूति आपको और कहीं सुननेको नहीं मिलेगी–एक स्त्री और उसमें भगवान् कहते हैं कि मैं सात रूपोंमें रहता हूँ–कीर्तिके रूपमें, सुन्दरताके रूपमें, मधुर वाणीके रूपमें, स्मृतिके रूपमें, मेधाके रूपमें, धृतिके रूपमें और क्षमाके रूपमें। प्रत्येक अपराधीको दण्ड नहीं देना–यह दण्ड जो दिया जाता है, यह दण्ड देनेवालेको भी थोड़ा-बहुत मिलता ही है। यदि स्त्री अपने बच्चेको क्षमा नहीं करेगी, बच्चेकी बात छोड़ो, अपने देवरको क्षमा नहीं करेगी–उसने कोई हँसी-मजाक कर दिया और उसने झट अपने सास और ससुरसे और पतिसे शिकायत करी और पट पति और देवरका झगड़ा हो गया, तो नहीं, उसको भुला देना चाहिए, घरमें ऐसा होता ही रहता है; ससुरजीने प्रेमसे देखा और तुरन्त पतिसे कह दिया और पतिने दूसरी स्त्रीकी ओर देखा और लड़ाई शुरू हो गयी–नहीं भई; क्षमा करना चाहिए। यह नहीं कि सब समय घरमें हाथमें डण्डा लेकर बैठे हैं–यह स्त्रीका सद्‌गुण नहीं है। स्त्रीका सद्‌गुण यह है कि वह अपराधको भूलकर व्यक्तिको क्षमा कर दे और अपने हृदयको न बिगाड़े। क्षमा धरतीका रूप है। यह स्त्री जो है वह पृथिवीकी तरह क्षमाशील है, समुद्रकी तरह गम्भीर है, गंगाकी तरह पावनी है और दुष्टोंके लिए अग्निके समान प्रज्ज्वलित है और वायु जैसे सबको प्राण देता है; वैसे सबको प्राण देनेके लिए है और यह आकाशके समान सबको धारण करनेवाली है–इसीसे भगवान्‌ने स्त्रीके शरीरमें एक विभूति नहीं, सात-सात विभूति बतायी। गीता तो हम लोग पढ़ते हैं, पर यह गीता बहुत थोड़ेमें कही गयी है–सूत्र-रूप है–इसमें थोड़ेमें बड़ी-बड़ी बातें कही गयी हैं। यह हम पढ़ते तो हैं ही–

कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।

परन्तु इधर ध्यान तो नहीं जाता है? इसमें भगवान्ने हमें बताया कि तुम हमको अपने भीतर बसा लो, हम सात रूपमें तुम्हारे भीतर बसते हैं, तुम्हारी जीभ पर हम रहते हैं, तुम्हारी धृतिमें हम रहते हैं, तुम्हारी क्षमामें हम रहते हैं, तुम्हारी स्मृतिमें हम रहते हैं, तुम्हारी पवित्र कीर्तिमें हम रहते हैं। इस तरह गीतामें-छोटी-सी गीतामें जिसमें केवल सात-सौ श्लोक हैं और उसमें भी चालीस-पचास श्लोक तो ऐतिहासिक ही हैं-इतिहास सम्बन्धी ही हैं; बहुत गम्भीर बातें ही हैं। एक सज्जनने एक बार हमसे कहा कि हम तो गीताका एक-एक अक्षर मानते हैं और उसको धारण करनेकी कोशिश करते हैं। इसपर दूसरेने कहा कि तामस-कर्ताका लक्षण आप धारण करना चाहते हैं क्या? आप यह आसुरी-सम्पत्ति धारण करना चाहते हैं क्या? तो भई, जो उसमें धारण करनेको कहा गया है वह धारण करना, एक-एक अक्षर धारण नहीं करना-जिसको छोड़नेके लिए कहा गया है उसको छोड़ देना और जिसको धारण करनेके लिए कहा गया है उसको धारण करना। हमारा कहना यह है कि यह गीता हमारे सर्वतोमुखी जीवनके लिए उन्नतिका एक सोपान है-जैसे कोई घरका रास्ता भूल गया हो और माँ आवाज देकर बच्चेको बुलावे कि तुम इस रास्तेसे चले आओ, दाहिनेसे चले आओ, बायेंसे चले आओ। हम लोग जब बच्चे थे गाँवके बच्चे-शहरी तो थे नहीं, रातको गन्नेके खेतमें घुस गये, अब किधरसे निकले तो बाहर आवेंगे यह भूल गये। और कितने ही एकड़ तक गन्ना-ही-गन्ना-अब किधर जायँ तो बाहर निकल सकेंगे समझमें ही नहीं आवे। तो हमारे बाबा बाहरसे आवाज देते कि देखो, मैं इधर खड़ा हूँ, तुम इधरको आ जाओ और तब मैं उधरको चला जाता। तो यह जो लोग संसारमें भटक गये हैं उनके ऊपर करुणा करके भगवान् गीताके रूपमें अपनी करुणा, अपनी वत्सलता और समताके साथ ममता भरी आवाजसे पुकार रहे हैं। गीतामें ममता तो है, परन्तु समताको छोड़ करके नहीं है। इसमें कर्म है परन्तु कामनाके साथ नहीं है, इसमें प्रेम है परन्तु अपने भोगके लिए नहीं है, इसमें ज्ञान है परन्तु राग-द्वेषके लिए, अभिमानके लिए नहीं है-ऐसी यह गीता भगवान्ने हमारे कल्याणके लिए भेजी है! अब इसका और थोड़ा आपको कल सुनावेंगे!

★

प्रवचन : 26

मनको अमन कर दीजिये

पहले-पहल ऐसा देखनेमें आता है कि अर्जुन अपने मनको देखनेका प्रयत्न कर रहे हैं-

भ्रमतीव च मे मनः। (1.30)

यह पहले अध्यायमें आया है आपको याद होगा!

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।

(1.28-30)

यह देखो ये सब रोग के लक्षण हैं। अब यदि हम किसी साधक-को बतावें कि यह जो तुम्हारे शरीरमें कँपकँपी हो रही है यह शारीरिक रोग नहीं है, मानसिक है तो वह माननेको तैयार नहीं होगा; वह कहेगा कि हमको तुम बेवकूफ बनाते हो? यह हमारे शरीरकी कँपकँपी है। और देखो-'रोमहर्षश्च जायते'-रोएँ खड़े हो रहे हैं। 'गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्'-यह शारीरिक कमजोरी है; 'त्वक्चैव परिदह्यते'-चमड़ी जल रही है; तो यह डाक्टरकी दवा करने लायक है। तो उस समय तो श्रीकृष्णको कह देना चाहिए था कि जब तुम्हारे शरीरमें ऐसे-ऐसे विकट रोग हो रहे हैं तब जाओ किसी विकट-शिरोमणिके पास और औषधि-सेवन करो! परन्तु, अर्जुन केवल अपने शरीरकी ही स्थिति नहीं देखता है-'भ्रमतीव च मे मनः'-मेरा मन भटक रहा है, भटक रहा है बोलो, चाहे भटक नहीं रहा है बोलो-भटक-सा रहा है। 'इव' माने यही होता है। एक सज्जन बहुत सच बोलते थे। मैंने उनसे पूछा कि इस समय कितने बजे हैं। उन्होंने घड़ी निकाली, हाथ सामने किया और फिर बोले कि इस समय मेरी घड़ीमें पाँच बजकर सात मिनट और छह सेकेण्ड बजते हुएसे मालूम पड़ रहे हैं-यह तो सत्यकी अति हो गयी ना? अर्जुन कहते हैं कि 'भ्रमतीव च मे मनः'-मम मनः भ्रमति-

भ्रामयति इव-ऐसा भी बता सकते थे कि मेरा मन भटक रहा है कि नहीं भटक रहा है-भटक-सा रहा है।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।

तो असलमें मनकी भ्रान्ति क्या है-भ्रान्ति माने भूल नहीं। चलें अब संस्कृत शब्दकी प्रकृतिमें हम चलते हैं-जैसे हम बोलते हैं कि हम भ्रमण करने जा रहे हैं तो इसका अर्थ यह तो नहीं होता कि हम भूल करने जा रहे हैं! जैसे हमारा मन शरीरमें-से निकलकर कलकत्ता गया, कलकत्तेका भ्रमण करने गया, सैर-सपाटा करने कलकत्ता नहीं गया-कलकत्ता गया-ऐसा मालूम पड़ता है-यह भ्रान्ति है। यह मनका जो परिभ्रमण है; यह भ्रान्ति है! दूसरे देशमें मन नहीं जाता है, मनके अन्दर ही दूसरा देश फुरता है! अच्छा, यह कहो कि कलकत्ता ही हमारे मनमें आ गया तो आप बिलकुल निश्चिन्त रहिये-कलकत्ता सैर करनेके लिए आपके मनमें नहीं आया, अपनी जगह्न पर है और आपका मन भी कलकत्ता नहीं गया, बिलकुल अपनी जगहपर, आपके कलेजे पर है-नख-से लेकर शिखा तक यह जो आपका शरीर है इसके भीतर ही बैठा हुआ है, वह कभी गया नहीं। अच्छा भई, एक स्त्री आकरके हमारे मनमें घुस गयी। तो, स्त्री आपके मनमें नहीं घुसी और आपका मन आपका शरीर छोड़कर स्त्रीमें नहीं गया-न मन शरीर छोड़कर दूसरी वस्तुमें जाता है, न दूसरे स्थानमें जाता है-बोले-भाई, हमारा मन तो बस महाभारत कालमें विचरण करता है। अरे, वर्तमान काल तुन्हारे सामने है और यहीं तुम्हारा मन है और महाभारत-काल तो स्वप्नवत् तुम्हें दिखायी पड़ते हैं-सुना-सुनाया तुम्हारे दिमागमें भर गया और अब तो इसमें भी कुछ ऐतिहासिक लोग शङ्का करने लगे हैं कि ऐसा युद्ध हुआ भी था कि नहीं! और तुम्हारे मनमें महाभारत भर गया! तो, न तो वर्तमान क्षणको छोड़कर अतीत-क्षणमें मन जाता है-वह तो स्वप्न है; और वर्तमान-क्षण छोड़कर भविष्य-क्षणमें जाता है-वह तो कल्पना है; और न घड़ेमें जाता है और न घड़ा भीतर आता है! एक महात्माके पास एक नौजवान आया। उसने कहा कि महाराज, एक स्त्री हमने देखी है और वह हमारी आँखमें घुस गयी है, हमारी आँखमें बस गयी है। महात्मा बोले कि तेरी आँख फूटी कैसे नहीं? साढ़े तीन हाथकी स्त्री और दो अंगुल जितनी तेरी आँख और उसमें यदि कोई स्त्री आयी, न आँख स्त्रीमें गयी, आँख तो जहाँ-की-तहाँ है और स्त्री भी जहाँ थी-तहाँ है; कलकत्ता जहाँ-का-तहाँ है; अतीत छूट गया तो छूट गया, भविष्य अभी आया नहीं है-वह है ही नहीं है। वह है ही नहीं है-यह तो तुम्हारा ज्ञान-स्वरूप आत्मा ही है जिसमें तुम जाने-आनेकी कल्पना जब कर लेते हो तब यह जाता-आता मालूम पड़ता है, तुम तो बिलकुल ज्यों-के-त्यों, जहाँ-के-तहाँ और जब-के-तब अपनी जगहपर बैठे हुए हो-यह ज्ञानकी निर्बलता है जिससे मालूम पड़ता है कि अब-तब, यहाँ-वहाँ इसमें-उसमें गया-आया-'भ्रमतीव मे मनः'-मेरा मन भ्रम-सा रहा है। इसीसे जब योगका उपदेश भगवान् श्रीकृष्णने किया तब अर्जुनको कहा-

आत्मसंस्थं मनःकृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्। (6.25)

देखो, एक ओर 'भ्रमतीव च मे मनः' सुनाया आपको और अब दूसरी ओर इसके बिलकुल विपरीत-

'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्'-इतना सुगम योग है यह कि जैसे माँ अपने बच्चेसे कहे कि बेटा, अपने घरमें खेलो, पड़ोसीके घरमें मत जाओ। बस इतनी-सी ही तो बात है-

'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्'-का अर्थ यह है कि 'लालयेत् चित्तबालकम्'-आपका यह जो चित्त-बालक है इसका आप लाड़ कीजिये। इसको आप खराब रास्ते पर न जाने दीजिये, यह आपका बच्चा है। अभी कल कि परसों एक बड़े घरकी स्त्री हमसे यह पूछने लगी कि हमारे घरमें कोई-किसीको गाली नहीं देता है, पर, हमारा बच्चा जो अभी चार वर्षका है, वह ऐसी-ऐसी बुरी गाली देता है कि जिसकी कोई हद नहीं। मैंने कहा-यह देखो, कि वह किन बच्चोंके साथ खेलता है? तो, जैसे हम आपको यह सलाह देते हैं कि अपने बच्चोंको छोटे सांस्कृतिक स्तरके लोगोंके बच्चोंके साथ मत मिलने दीजिये, नहीं तो वह गाली सीखकर आयेगा, बदमाशी सीखकर आयेगा। एक बड़े घरका 10-12 वर्षका लड़का-उसने चोरी करनी सीख ली। 15 वर्षका होते-होते उसको नौकरोंने सब प्रकारके भोग-विलास सिखा दिये, शराब पीना भी सिखा दिया! नौकर उससे पैसा लेते और कहते कि जो कहो सो हम तुमको लाकर देते हैं-तो जैसे आप अपने बच्चोंको सम्हालते हैं-'लालयेत् चित्तबालकम्'-यह

आपका मन भी एक बालक सरीखा है, इसको बुरे लोगोंकी संगतिमें मत पड़ने दीजिये; इसको अपने घरमें ही, अपने पास ही सब सुख-सुविधा दीजिये। इसको पड़ोसीके घरमें हर समय मत जाने दीजिये-यशोदा मैया श्रीकृष्णसे कहती थीं-नहीं बेटा, अब तूँ खेलते-खेलते थक गया है, ज्यादा खा लेगा तो अपच हो जायेगा, अब थोड़ी देर सो जाओ।

तो, अपने मनको विश्राम देना चाहिए और 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा'-आत्माकी शैय्यापर अपने मनको सुला लो और 'न किंचिदपि चिन्तयेत्'-मनसे थोड़ी देर काम लेना बन्द कर दो-न किंचिदपि चिन्तयेत्। यह आसान है कि कठिन? आसान शब्दका मूल शब्द है-अनायास। दूसरेकी मदद भी करो तो जाकर उसके घरमें रहना मुश्किल है, अपने घरमें रहना मुश्किल नहीं है; दूसरेसे मदद लेना मुश्किल है, दूसरेके घरकी चीज खाना मुश्किल है, अपने घरकी चीज खाना मुश्किल नहीं है-यदि मनको भोग चाहिए तब उसको पराधीन होना पड़ेगा, दूसरेके घर जाना पड़ेगा, बाजार जाना पड़ेगा, होटलमें जाना पड़ेगा और यदि उसको भोग नहीं चाहिए तो योग तो अपने घरमें ही होता है। योगमें बाहरका त्याग-मात्र है और भोगमें बाहरका ग्रहण। बाहरके ग्रहणमें पराधीनता है और अपने घरमें पराधीनता नहीं है। जब तुम चाहते हो कि स्त्रीसे सुखी होंगे, इस पुरुषसे सुखी होंगे, इस बच्चेसे सुखी होंगे, इस माँसे सुखी होंगे, इस भाईसे सुखी होंगे, इस मित्रसे सुखी होंगे, तब, क्या हो कि अपने सुखको अपने हृदयसे निकालकर बाहर डाल देते हो। और बाहर कबतक रख सकते हो, बाहर कितनी देर रह सकते हो, आखिर तो अपने घरमें आना ही पड़ेगा-तो 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा'-योगका स्वरूप यही है कि अपने मनको अपने आपसे बाहर मत भेजिये।

योग माने स्वतंत्रता-जिसमें दूसरी चीजकी, दूसरे व्यक्तिकी, दूसरे स्थानकी, दूसरे समयकी कोई जरूरत नहीं है-बिलकुल स्वतन्त्रता। अपने आपमें अपने आपसे खो जाना। तो, श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा कि अर्जुन, यह जो तेरा मन दुर्योधनके पास जाता है, द्रोणके पास जाता है, भीष्म-पितामहके पास जाता है, कर्णके पास जाता है-यह सब तुम्हारे मनकी भटकन है, भटकन। अपने आपमें स्थिर होओ, कुछ मत सोचो। अच्छा देखो, एकने कहा कि जहाँ जाता है वहाँ जाने दो-असलमें जाता तो कहीं है ही नहीं, भूलमें ही तो है-मन यदि तुम्हारे शरीरको छोड़कर कहीं चला जाता है तब तो कोई बात थी, पर जाता तो है ही नहीं-'भ्रमतीव च मे मनः'-फुरना होती है सिर्फ और तुमको फुरनाएँ कम करनेमें भी आपत्ति है? कि अच्छा आओ, अभ्यास करें। तो अर्जुनने यह प्रश्न श्रीकृष्णके सामने रखा। हम आज आपको यह बात सुनाना चाहते हैं कि ये जो बीती हुई बातें मनमें आती हैं, वे आती नहीं है-स्फुरणा है और जो दूरकी बातें आती हैं वे आती नहीं हैं स्फुरणा हैं; जो दूसरी चीजें आती हैं मनमें वे आती नहीं हैं स्फुरणा हैं-असलमें सारी दुनिया तुम्हारे मनमें बनी हुई है-अच्छाई-बुराई सब तुम्हारे मनमें बनी हुई है! तो बोले-भई, अच्छा तो फिर इस मनको जाने दो! बोले-जाने दोगे तो यह तुम्हारा पीछा करेगा, कहेगा तुम भी चलो उसके साथ। एक बात आपको मालूम होनी चाहिए कि जब आप मनका पीछा करनेके लिए जाते हैं तो असलमें न आप जाते हैं, न मन जाता है, वह जानेका सपना ही मालूम पड़ता है; एक स्वप्नमें आप विलीन हो जाते हैं। तो-

यत्र-यत्र मनो याति तत्र-तत्र समाधयः।

तो, यह भी आपका एक सपना है!

अच्छा, मुश्किल पड़ी अर्जुनको तब जब भगवान्ने कहा कि दूसरोंका चिन्तन छोड़ो। तो अर्जुनने कहा-महाराज, यह हमारे काबूमें नहीं है-

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।। (6.34)

अर्जुन सरीखा वीर जो बायें हाथसे भी वैसे ही वाण चलाता था जैसे दाहिने हाथसे-सव्यसाची बोलते हैं उसको; जैसे लोग दीखनेवाले लक्ष्यका भेद करते थे, वैसे अर्जुन न दीखनेवाले लक्ष्यका भी भेद करता था। द्रौपदीके प्रसङ्गमें यह स्पष्ट है। वही अर्जुन कहता है कि मन चंचल है। चंचलका अर्थ होता है कि जैसे दीयेकी लौ जहाँ जलती है वहाँ हिलती है वैसे ही यह मनोवृत्ति जहाँ रहती है वहीं हिलकर शक्लें बनाती हैं-शक्लें-जैसे कभी आप सायंकाल समुद्रकी ओर देखें जब थोड़े-थोड़े बादल हो रहे हों तो आपको मालूम पड़ेगा कि हनुमानजी हाथमें पहाड़ लेकर व गदा लेकर जा रहे हैं और रथ जा रहा है इन्द्रका और लगेगा कि शंकरजीका बैल जा रहा है, विष्णु भगवान्का गरुड़ जा रहा है-बादलोंमें आप तरह-तरहकी

तस्वीर देख सकते हैं। लेकिन किसी प्रेयसीके विरहमें आपके दिलमें आग लगी हो और आप संतप्त हों तो किसी देवताकी तस्वीर आपको नहीं दिखेगी-आपको तो अपनी प्रेयसी-ही-प्रेयसी दिखेगी। तो 'चंचल'का अर्थ है कि जैसे यज्ञ करते हैं तो-कर्मकाण्डियोंने कल्पना कर रखी है कि ये जो लपटें उठती हैं हवन करनेपर ये अप्सराएँ हैं और आइये-आइये, हम आपके स्वागतके लिए आये हैं-आगकी लपटमें उन्हें अप्सरा दीखती है। जैसे आगकी लपटमें अप्सराओंकी शक्ल दीखे, जैसे बादलोंमें देवताओंकी शक्ल दीखे; वैसे ही अपने मनकी हलन-चलनमें वैसी-वैसी शक्लें दिखायी पड़ती हैं। इसीका नाम चंचल होना है। चंचल होना है माने मनमें तरह-तरहके नामोंकी याद आना और तरह-तरहकी शक्लोंका उभरना-यह है मनकी चंचलता। तो बोले, कि रहने दो, इससे क्या बिगड़ता है? तो अर्जुनने कहा कि हमारा बिगड़ता है महाराज! क्या बिगड़ता है कि प्रमाथि-मथ डालता है हमारे शरीरको! वह कहता है कि ऐ शरीर, यहाँ क्या बैठा है, चल कलकत्ता-हम लोग जब छोटे थे और रेलमें चढ़ते तो बोलते-'धर दे पैसा चल कलकत्ता, धर दे पैसा चल कलकत्ता' तो रेल थोड़े ही बोलती थी, हमारा मन बोलता था-जब स्वराज्य हुआ, तब हमारे एक पण्डितजी थे वृन्दावनमें, वे स्वराज्यके बड़े विरोधी थे-हम तो स्वराज्य होनेके पहले ही संन्यासी हो गये थे-तो जब वृन्दावनकी रेलगाड़ी मथुरासे आती, तो कहते कि जबसे यह कांग्रेसी राज्य हुआ है तबसे रेलकी जो गति है वह भी बिगड़ गयी, बेसुरी थोड़े ही हुई थी, उनका मन ही तो बेसुरा हो गया था। तो 'प्रमाथि'का अर्थ है कि वहाँ चलेगा तो चाट मिलेगी खानको, वहाँ चलेगा तो सुन्दर रूप मिलेगा देखनेको, वहाँ चलेगा तो पैसा मिलेगा-प्रमाथि माने एक जगह बैठने नहीं देता है मन्थन कर देता है, मथ देता है हमारे शरीरको। बोले कि फिर तो मनको पकड़ो। बलवत्-बहुत बलवान है, बलवानको कैसे पकड़े? बोले कि, अच्छा भई, मनाओ उसको, हाथ-वाथ जोड़कर समझाओ उसको। तो बोले कि वह अपनी जिदपर दृढ़ है, इसको रोकना तो बड़ा मुश्किल है। आजकल तो महाराज, पति पत्नीको नहीं रोक सकता और पत्नी पतिको नहीं रोक सकती-उनका मन हो कहीं जानेका तो क्या कोई रोक सकता है! मित्र मित्रको नहीं रोक सकता; बाप बेटेको नहीं रोक सकता, गुरु चेलेको नहीं रोक सकता-क्योंकि जब मनमें बात आ गयी तो 'प्रमाथि बलवद्दृढं तस्याहं निग्रहं'-अब निग्रह कौन करे? तो अर्जुनने तो कह दिया कि बाबा, तुम ईश्वर हो तो बने रहो, हमको उपदेश करते हो-

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।।
यतेन्द्रियमनो बुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।

(5-27.28)

हमको कहते हो बाहरका बाहर छोड़ दो तुम भीतर बैठो-पर हमसे यह नहीं होगा। तुम ईश्वर हो तो ईश्वर बने रहो और हम जीव हैं तो जीव बने रहेंगे; लेकिन यह तो मनको काबूमें करनेवाला सवाल है यह बड़ा मुश्किल है, यह हमसे नहीं होगा। अब देखो, यदि श्रीकृष्ण कहते कि बड़े बुजदिल हो अर्जुन या कि मन नामकी चीज है ही नहीं-तो क्या अर्जुनका समाधान होता? नहीं होता। जबकि असलियत यही है कि मन नामकी कोई चीज ही नहीं है। शरीरको दुःख देनेवाला, शरीरको सुख देनेवाला, शरीरको नचानेवाला यह मन ही है। नरकमें कोई जाता नहीं-मन ही नरकमें जाता है-माने मन ही नरकाकार हो जाता है, मन ही स्वर्गाकार हो जाता है, मन ही स्वप्नवत् जन्म लेता है-जैसे सपनेमें हम कुछ बन जाते हैं वैसे ही मन ही ऐसा बन जाता है। सुख-दुःख कुछ होता नहीं है, सब मनका खेल है। हमने मनको बहुत ढूँढा और ढूँढते-ढूँढते वर्षों लग गये पर मन कहीं मिला नहीं। असलमें हमारी कुछ आदतोंका नाम ही 'मन' है, हमारे कुछ संस्कारोंका नाम 'मन' है, हमारी कुछ मान्यताओंका नाम 'मन' है। हमने मनको ढूँढा कहाँ है, उसकी लम्बाई-चौड़ाई कितनी है? लम्बाई-चौड़ाई तो यह मन ही बना लेता है। हमने पूछा है कि मनकी उम्र कितनी है तो कालको यह मन ही बनाता है। एक मिनटको छह महीना बना देता है, छह महीनेका एक मिनट बना देता है, सोते समय कितना समय बीत गया पता नहीं चलता है, सपनेमें कितने क्षण गुजर जाते हैं। दुःखमें एक रातको छह महीना कर देता है-समयको तो यही बनाता है। लम्बाई-चौड़ाई भी इसमें है नहीं-इसमें एक चींटी भी रहती है और एक हाथी भी आ जाता है; एक जंगल और एक पहाड़ भी आ जाता है-इसकी शक्ल-सूरत नहीं है-लाल है कि काला है कि

नीला है कि पीला है-इसकी आकृति भी कुछ नहीं है-दूसरेकी आकृतिसे इसमें आकृति मालूम पड़ती है, दूसरेकी लम्बाई-चौड़ाई इसमें लम्बाई-चौड़ाई मालूम पड़ती है, दूसरेकी उम्र इसमें मालूम पड़ती है।

आप समझते हैं कि आपके बम्बईमें व्याख्यान देनेके लिए बैठ गये हैं-हमारा कोई 'मिशन' नहीं है, हमें कुछ प्रचार करना नहीं है। हमने उस परम्परामें शिक्षा प्राप्त की है कि जहाँ जिसको हजार बार गरज हो और कुछ त्याग करके, कुछ वैराग्य करके, कुछ तितिक्षा करके, कुछ शरीरको कष्ट देकर हमारे पास, वर्ष-दो वर्ष सेवा करे, तब उनसे वैराग्यकी ठीक-ठीक बात करें, नहीं तो नहीं करें!

जैसे एक चित्रकार घर-घर जाकर काम करता है, परमार्थकी वह परम्परा नहीं है। यह तो जो बड़ा भारी दृढ़ जिज्ञासु होता है उसको दिया जाता है। उसकी भी परीक्षा करके-ब्राह्मण हो तो कम-से-कम एक वर्ष, क्षत्रिय हो तो दो वर्ष, वैश्य हो तो तीन वर्ष-क्योंकि ये लोग छल-कपट कुछ ज्यादा जानते हैं-आपलोग नाराज मत होना, इनको दाँव-पेंच, छल-कपट-सब बहुत ज्यादा आता है-तीन वर्षमें इनके मनका असली पता लग जाय तो लग जाय कि इनके मनमें क्या है, नहीं तो तब भी वे छिपा सकते हैं। तो, नारायण वर्षों तक 'मन'की खोज की गयी है कि यह 'मन' नामकी क्या चीज है-यह देहके बाहर रहता है कि देहके भीतर होता है कि लाल है कि काला, नीला-पीला होता है कि वह एक छँटाक, एक किलो वजनका होता है-उसकी खोज की है। और आपको बताते हैं कि सचमुच 'मन' नामकी कोई चीज नहीं है, यह हमारे जैसे संस्कार पड़ गये हैं, जैसी आदतें बन गयी हैं, जैसी रहनी बन गयी है-उसकी एक-एक पकड़को आपके ज्ञानकी पकड़को ही मन बोलते हैं। और भगवान्‌ने यह भी कहा अर्जुनसे-असंशयं-हाँ बेटा, ठीक है! बोले-पुत्र, तुम जो कहते हो वह तुम्हारी बात असंदिग्ध है। क्यों? कि बड़े लोग होते हैं महाराज, वे कोई बात कहें और उनकी बात काट दी जाये कि नहीं-नहीं तुम्हारी बात ठीक नहीं है तो उनके अभिमान पर चोट लगती है और जब अभिमान पर चोट लगती है तब आगेकी बात वे सुनना ही पसन्द नहीं करते हैं। कि अच्छा भई, मेरी नहीं, तेरी ही सही! एक साधु थे अच्छे। वे एक सेठके पास जायें और सत्सङ्ग करें और उसके सामने हाथ जोड़कर बैठें! तो मैंने एक दिन उनसे पूछा कि आप इतने बड़े त्यागी-वैरागी महात्मा हैं आप यह क्या करते हो? तो बोले कि देखिये, चाहे हँसिया पर कुम्हड़े गिरे ही, हँसिया तो कटेगा नहीं। तो ये जो आजकलके सेठ हैं वे गुरु बनाकर तो हमारी सेवा करते नहीं है तो चेला बनाकर तो करेंगे! हमको तो उनसे सेवा लेनी है, चाहे कैसे भी लें-बिलकुल ऐसे ही बोले। कहो तो हम नाम बता दें-प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी-बड़े खिलाड़ी हैं। तो भगवान् कहते हैं-'असंशय महाबाहो'-यह नहीं कि निर्बल हो, कापुरुष हो। बोले-'असंशय महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्'-तुम्हारा बड़े भारी योद्धासे काम पड़ गया है-'दुर्निग्रहं' उसको कैद करना कठिन है, 'चलम्'-वह बहुत हिलता है! परन्तु भगवान्‌ने मनको नहीं कहा जब कि अर्जुनने कहा था कि मन प्रमाथि है-

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथिबलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।। (6.34)

कि ठीक है निग्रह दुष्कर है-यह बात तुम्हारी ठीक है, मन चंचल है-यह बात भी ठीक है-चञ्चल है और दुर्निग्रह है-यह बात तो ठीक है, लेकिन बलवत् है, दृढ़ है और प्रमाथि है-यह तीन बात तो अर्जुनने कही थी-वह पहले ही जबाबमें श्रीकृष्ण खा गये-तुम्हारे जैसे धीर-वीर पुरुषका यह क्या मन्थन करेगा? इसमें क्या बल रक्खा है! मनमें जो बल है वह तुम्हारा ही बल है, किसी दूसरेका बल नहीं है। यह क्या जिद्द करेगा तुम्हारे साथ? तो बोले कि फिर यह कैसे वशमें होगा? बोले-'गृह्यते'-मन पकड़ा जाता है कि कैसे पकड़ा जाता है? तो बोले-'अभ्यासेन वैराग्येण'। देखो अपनी बात भी नहीं कही-योग दर्शनकी जैसी बात है उसीको दोहरा दिया-शास्त्रकी दृष्टिसे बोले-

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते। (6-35)

अरे, एक सप्ताहमें तुम कोई काम करते हो तो उसको दो सप्ताहमें शुरू कर दो और दो सप्ताहमें करते हो तो चार सप्ताहमें करना शुरू कर दो-तुम्हारा मन वशमें हो जायेगा-'अभ्यासेन'का अर्थ है कि जो काम तुम करना चाहते हो उसकी आदत डालो, बिगड़ी हुई आदतकी जगह सुधरी हुई अच्छी आदत डालो। हमारे एक महात्मा थे और मैं करता था उनका सत्सङ्ग! एक बार उन्होंने पूछा मुझसे-अभ्यास माने क्या होता है? तो गाँवकी बोलीमें वे

हमलोगोंको समझाते-हम संस्कृतके किसी भी शब्दका अर्थ गाँवकी बोलीमें बता सकते हैं-तो उन्होंने बताया-अभ्यास माने 'दुहरौनी'-दुहराना-जिस शब्दका उच्चारण तुमको नहीं आता है उस शब्दका बार-बार उच्चारण करो। आठ वर्षकी उम्रमें हमको पूरी मुहूर्त-चिन्तामणि कण्ठस्थ थी। तो, कण्ठस्थ कैसे करते थे कि हम एक श्लोकको माला हाथमें लेकर 108 बार जप कर लेते और बस, हो जाता वह कण्ठस्थ। तो अभ्यास माने दुहराना-एक श्लोकको हमने 108 बार दुहराया जप करनेसे हमारी जीभको उसकी आदत पड़ गयी। अभ्यास माने जिस चीजको आप पाना चाहते हैं उसका अपने मनसे बारम्बार 'टच' कीजिये। आपको कृष्ण चाहिए? तो मुरलीमनोहर, श्यामसुन्दर-मनसे उसको छूइये! आपको निराकार चाहिए-तो ॐ, ॐ वह आकार नहीं! आप जो चाहते हैं उसको बारम्बार दोहराइये! कहते हैं-यह तो कठिन है। एक बार हमने एक महात्मासे कहा कि यह काम तो बड़ा कठिन है-हमको कोई प्राणायाम बताया था उन्होंने। बोले-कि देखो, तुम जवान, तुम ब्राह्मण, तुम पढ़े-लिखे यदि तुम नहीं करोगे यह तो क्या कोई पशु करेगा? तो निराश नहीं होना, उदास नहीं होना-आशा रक्खो और दृढ़ताके साथ अपने साधनको दोहराओ। ऐसा नहीं कि दो दिन किया और देखने लगे कि अभी तो भगवान् नहीं आये। पूछते हैं कितने दिन तक करेंगे? तो हम पूछते हैं-जल्दी क्या है? कि दुकान जो खोलनी है। माने दुकान पर जाना ही महत्त्वपूर्ण है इसलिए पहले ईश्वर मिल जाये, तब जायेंगे। तो ऐसे नहीं भाई! 'अभ्यासेन तु कौन्तेय'-व्याकरणमें अभ्यास किसको बोलते हैं? वह भू धातु है। तो अभ्यास कब बोलते हैं कि जब भू-भू दो बार हो जाता है और जब दो बार भू-भू हो जाता है तब उसका बभूव हो जाता है-एक बार भू, दूसरी बार भू-उसका नाम हुआ-अभ्यास-एक बातको बारम्बार दोहराइये, बारम्बार दोहराइये और देखिये फिर वह आपकी आदतमें आ जाती है और इसको बोलते हैं अभ्यास।

और वैराग्यका क्या अर्थ है-वैराग्यका अर्थ किसीको मारना-पीटना नहीं है-एक लड़का थोड़े दिन पहले वृन्दावनमें आया था अपनी पत्नीके साथ! अब पत्नी बाथरूममें जाना चाहे और वह बोले कि हम तुम्हें बाथरूममें नहीं जाने देंगे, तुम हमारी पत्नी हो और तुम्हें हमारी आज्ञा माननी पड़ेगी; उसको भूख लगे, वह खाना चाहे तो कहे कि नहीं, तुम हमारी आज्ञा मानो, तुम पतिव्रता हो तो खाओ मत। मेरे पास शिकायत आयी! मैंने उससे पूछा कि यह क्या करता है बेवकूफ! तो बोला कि हमारा पत्नीसे राग तो है नहीं महाराज, और हम चाहते हैं कि हम उसके साथ ऐसा व्यवहार करें कि वह स्वयं हमारे पास नहीं आवे। तो घर उजाड़नेका नाम वैराग्य नहीं है, वैराग्यका अर्थ होता है कि *'ज्यों-की-त्यों धर दीनि चदरिया'*-दुनियामें जो जहाँ है-डाक्टर डाक्टरी करे, वकील वकालत करे, जज फैसला दे, युधिष्ठिर यज्ञ करें, सूर्य तपे और हम अपने काममें लगे रहें। यह नहीं कि इन्द्र स्वर्ग छोड़ दे कि तुम भी वैरागी बनो! इसका नाम वैराग्य नहीं है, जो सैनिक है सो सैनिक रहे-तुम अपने काममें रहो और हम अपने रास्ते चलें। दूसरे रास्तेमें छेड़-छाड़ न करना और अपने रास्ते पर चलना-इसका नाम वैराग्य होता है।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ।

इसका अर्थ होता है कि दुनियाको ज्यों-का-त्यों, जहाँ-का-तहाँ रहने दो और तुम अपने आपमें बैठ जाओ! बोले-बैठा नहीं जाता महाराज! तो बैठनेकी आदत डालो-'अभ्यासेन तु कौन्तेय'-हमारा पाँव इतना मोटा होने पर भी और जाँघ और शरीर इतना मोटा होने पर भी हम चाहे जब सिद्धासनसे बैठ जायें, चाहे जब पद्मासनमें हो जायें-क्योंकि हमें इसका अभ्यास है। पर, हम आसनकी बात आपको नहीं सिखाना चाहते हैं, न हम प्राणायाम सिखाना चाहते हैं-हम यह चाहते हैं कि आप अपने मनकी आदत बदलिये यह कैसे होगा? आप जो कहते हैं कि हम तीन घण्टे ध्यान करेंगे, तो आप पहले दो मिनट बैठिये। एक सप्ताह तक दो मिनट बैठिये और उतनी देर तक मनमें दूसरी बात न आवे, दूसरी बातका ध्यान मत कीजिये। एक सप्ताह दो मिनिट, दूसरे सप्ताहमें पाँच मिनट, महीनेमें दस मिनट, दूसरे महीनेमें 15 मिनट, तीसरे महीनेमें बीस मिनट, चौथे महीनेमें 25 मिनट और छह महीनेमें तीस मिनट और उसके बाद छह महीना तक तीस ही मिनट, यह नहीं कि हर महीनेमें पाँच मिनट बढ़ानेका कोई ठेका है। इस तरह जब धीरे-धीरे 'अभ्यासेन'-माने दीर्घकालतक करना, लगातार करना और श्रद्धासे करना। इससे तुमको चमत्कार दिखलायी पड़ेगा।

असलमें मन नामकी चीज न जड़में है, न चेतनमें है-मनकी सत्ता नहीं है। यह ज्ञानका विषयके साथ जो सम्बन्ध है, उसीका नाम मन है-

यदर्थं प्रतीयमानं मनः इति गृह्यते।

ज्ञानस्वरूप आत्माका जो अन्य रूप विषयके साथ सम्बन्ध है उस सम्बन्धको मन बोलते हैं। अच्छा जी जाओ, हमारा किसीके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, बस हम हैं, मन नहीं है। लेकिन यह असंगात्माका बोध है, अद्वयात्माका बोध दूसरा होता है। योगसे, विवेकसे, असंगात्माका बोध होता है। आत्मा असंग है, सम्बन्धरहित है! और अद्वय आत्माका बोध होता है वेदान्तसे। बिना वेदान्तके अद्वय आत्माका बोध नहीं होता है।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्-

मनको जहाँ-का-तहाँ, ज्यों-का-त्यों अपने आपमें स्थित करके किसी भी वस्तुका चिन्तन न करें। कल आपको सुनाया था-भोगमें बहुत आयास है-वस्तु चाहिए, व्यक्ति चाहिए, इन्द्रियोंमें शक्ति चाहिए, रुचि चाहिए, नहीं तो भोग कैसे होगा? और बुद्धिमें उसका औचित्य भी होना चाहिए, नहीं तो बादमें ग्लानि भी हो जाती है। अगर बुद्धि पूरी तरहसे उस भोगको उचित न समझती हो तो वह आज विद्रोह नहीं करेगी तो कल विद्रोह करेगी और फिर उसमें अरुचि हो जायेगी, इसलिए, बुद्धिमें उसका औचित्य होना चाहिए। इस तरह हम देखते हैं कि भोगमें तो बड़ा आयास है। मनुष्य कितना पराधीन होता है कि उसको अपनी पराधीनताका बोध तक नहीं होता है। जैसे कुत्ता अपने मालिकके पीछे-पीछे या रोटी खिलानेवालेके पीछे-पीछे डोलता है (क्योंकि उसको रोटी मिलती है) वैसे ही संसारमें भोग प्राप्त करनेवाला व्यक्ति जिससे भोग प्राप्त करता है, उसकी अनुकूलताके लिए उसके पीछे-पीछे, घर-घर डोलता है। तो, भोगमें बहुत आयास है, बहुत प्रयत्न है, परन्तु योगमें कोई आयास नहीं, कोई प्रयत्न नहीं है!-

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।

उसमें किसीकी जरूरत नहीं है-न वस्तुकी, न व्यक्तिकी, न इन्द्रियोंकी शक्तिकी और न रुचिकी। योगमें स्वातन्त्र्य है और उसका फल भी स्वातन्त्र्यकी पराकाष्ठा है। यह जो लोग सुख-सुख-सुख-सुख बोलते हैं-कई लोग समझ लेते हैं कि सुख मिलेगा यदि हम मुकदमा जीत जायेंगे, हमको मकान बढ़िया मिल जायेगा। सुखका अर्थ ऐसा कुछ नहीं है-'स्वातन्त्र्यं परमं सुखम्-सर्वं परवशं दुःखं'-हम जितने-जितने पराधीन होते जाते हैं उतने-उतने दुःखी होते जाते हैं।

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।

इसकी व्याख्या भागवतमें भी है-उसका अर्थ है कि तीन बात मनमें-से निकाल दो-पहली बात : मैं मनका मालिक हूँ-यह अभिमान छोड़ दो; दूसरी बात : मन अमुक विषयमें ही जाय या बना रहे-इस विषयको छोड़ दो-माने मनके पिछाड़ी मत बैठो और मनके अगाड़ी कोई विषय मत रखो; और तीसरी बात : मनमें कोई राग-द्वेष न हो-'न किंचिदपि चिन्तयेत्'-तुम मनके मालिक नहीं हो और सामनेका कोई विषय बैठनेके लिए मनका प्यारा नहीं है और मन राग-द्वेष रूप नहीं है! यह भागवतकी व्याख्या है! इससे क्या होगा कि जैसे ईंधन न मिलने पर आग बुझ जाती है, जैसे तेल न मिलनेपर दीया बुझ जाता है, ऐसे ही यह जो हमारे मनकी ज्योति जल रही है और विषयोंको प्रकाशित कर रही है, यह तत्काल बुझ जाती है, इसका मतलब है बिना आसनके, बिना प्राणायामके-एकाएक-सहसा हमारे मनकी ज्योति बुझ जाती है।

निर्वाणमृच्छति मनो सहसा यथार्थी।

मनका निर्वाण हो गया, बुझ गया। यह मनोज्योति विषयका प्रकाशन बन्द कर देगी साक्षी चैतन्यसे भिन्न करके अपने आपको नहीं दिखावेगी-'न किंचिदपि चिन्तयेत्'।

अब बादकी बात यह है कि नहीं भाई, हम तो कहीं-न-कहीं अपने मनको लगावेंगे। तो कहाँ लगावें-यह बात हुई और कहाँ रखें-यह बात हुई! दोनों तरहसे बात बनानेका ढंग गीतामें आपको मिलेगा। 'मय्येव मन आधत्स्व'-एक चर्चा तो आपको यह मिलेगी कि आप अपने मनको परमात्मामें रख दीजिये। अब, वहाँ भी 'एव' जो दिया मय्येव मन आधत्स्व-यह बात मार्केकी नहीं है, उसमें तो 'एव' मार्केका है-

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।। (12.8)

एक ही श्लोकमें दो बार 'मयि' कर दिया तो तीसरी बार तो आना

ही चाहिए। 'मय्येव बुद्धिं निवेशय एव'-पहले भी एव और बादमें भी एव। तो भगवान्‌में मनकी स्थापना करो। अब, भगवान्‌में ही स्थापना करें-तो देखो यदि हम अपने मनसे भगवान्‌को पकड़ेंगे तो पकड़नेमें हमारे मनकी जो स्वतन्त्रता है उसके कारण उसको हम कहीं खो भी बैठेंगे। अतः यह 'आधत्स्व' क्रियाका प्रयोग करके भगवान् यह सूचित करते हैं कि अपना मन हमारे अन्दर तुम रखो, लेकिन 'एव' पदका प्रयोग करके ऐसा सूचित करते हैं कि हमको पकड़ा दो-क्योंकि जबतक हम अपने बलसे भगवान्‌में मन लगावेंगे तबतक हमारे मनमें थोड़ी-सी शिथिलता आते ही भगवान्‌में-से हमारा मन लौट करके आ जायेगा। आधत्स्व क्रियाका कर्ता यदि आधानमें सर्वथा स्वतन्त्र रहेगा तो भगवान्‌में मन लगावेगा और मन लौट आवेगा। तो मयि-एव नहीं बनेगा, हमारा प्रयत्न ठीक-ठीक काम नहीं देगा। अब, इसीसे केवल 'मन आधत्स्व'से काम नहीं चलता है, 'बुद्धिं निवेशय'की जरूरत पड़ती है-अपनी बुद्धिको भी भगवान्‌में सुलाओ-निविष्ट करो। असलमें मनके संचालक भगवान् हैं। बुद्धिका अर्थ होता है कि जो बात जैसी है-बुद्धिके द्वारा वैसी समझ ली जाये। बुद्धि अविद्यमानको प्रकाशित नहीं करती है, विद्यमानको ही प्रकाशित करती है।

पुरुषकी बुद्धिमें एक अन्धकार है, एक तमस है-उसके कारण यह बात नहीं मालूम पड़ती कि हमारा मन भगवान्‌की गोदमें है-

अहं सर्वस्य प्रभवः मत्तः सर्वं प्रवर्तते। (10.8)

जो प्रभु है वही मनका प्रभव भी है और मनःका प्रवर्तक भी है। मनका उत्पत्ति स्थान कौन है? कि परमेश्वर। और मनका प्रवर्तक कौन है? कि भगवान्।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।। (18.61)

मनका कारण भगवान् है-

एतस्मात् जायते प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि च।

मनकी उत्पत्ति पंचभूतोंमें और पंचभूतोंकी उत्पत्ति, सीधे परमेश्वरसे यह आरोह-क्रम है। और मनकी उत्पत्ति सीधे परमेश्वरसे यह भी आरोह-क्रम है। और जब भगवान्‌की ओरसे हम देखते हैं तो इस उत्पत्तिको ही अनिर्वचनीय माना जाता है। यह पञ्चतन्मात्राओंसे बना कि भगवान्‌ने सीधे-सीधे बना दिया? बोले, अनिर्वचनीय है। तो देखो, मनसे यदि 'मय्येव आधत्स्व' करना है, भगवान्‌में ही उसको आधत्स्व करना है तो बुद्धिका विनियोग भी करना पड़ेगा; और वह बुद्धिका विनियोग क्या है कि सम्पूर्ण जगत्‌का आधार भगवान् है, मत्स्थानि सर्वभूतानि, सम्पूर्ण जगत्‌का प्रभव भगवान् है।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।। (9.18)

बोले भई, हम तो अपनी ओरसे मनको परमेश्वरमें लगाते हैं, पर जहाँ हमारा जोर शिथिल पड़ा कि मन वहाँसे लौट आया। बोले, ठीक है, जरा बुद्धि भी लगाओ। बुद्धि लगानेका अर्थ होगा कि आप देखेंगे भगवान् ही उपादान है, भगवान् ही मनका आधार है, भगवान् ही मनका प्रकाशक है, भगवान् ही मनका प्रेरक है और जब इस तरहसे आप देखेंगे, तब आपको पराभक्तिकी प्राप्ति हो जायेगी। पराभक्तिसे भगवान्‌के स्वरूपका तत्त्वतः ज्ञान हो जायेगा-

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः। (18.55)

या तो ब्रह्मात्मैक्य-बोधसे मनका बाध हो या तो मन अपने वास्तविक कारण, वास्तविक आधार, वास्तविक प्रकाशक, वास्तविक प्रेरकके पराधीन हो जाय, वहाँ शरणागत हो जाये, 'मामेकं शरणं ब्रज', आ जाय। तो-

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्-

यह त्वम्-पदार्थ प्रधान है और भगवान्‌के प्रति समर्पण कर देना यह तत्-पदार्थ प्रधान है और परमात्माके सिवाय मन नामकी दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है-

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय। (7.7)
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। (9.5)

यह ब्रह्मात्म्यैक्य-बोधसे बाध है।

★

प्रवचन : 27

ज्ञान, योग, भक्ति और अनासक्ति

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।

हमारे चिन्तनकी प्रक्रिया बिगड़ गयी है। हम केवल व्यक्तिगत दुःख, व्यक्तिगत स्वार्थ, व्यक्तिगत कर्मके ही बारेमें सोचते हैं। एक बार यह व्यक्तिगत और बाहरकी बातोंमें जो अपना चिन्तन लगा हुआ है इसको वहाँसे समेटना है, उसके लिए-'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्' है।

इसमें जल्दीबाजी नहीं करनी चाहिए-मन, प्राण और इन्द्रियोंको क्रियाको सात्त्विक धृतिसे धारण करके अपने मनको अपने आपमें स्थिर कर लिया, कहीं जाने नहीं दिया। तो मन जब चिन्तन करता है तब तो हम चिन्तन करनेवाले बन जाते हैं और जब चिन्तन छोड़ देनेवाला बनकर 'मैं'के रूपमें शरीरके भीतर बैठ जाता है तब असंग द्रष्टा हो जाते हैं। किन्तु वेदान्तमें 'न किंचिदपि चिन्तयेत्'का अर्थ होता है कि बाहर-भीतर किसीका भी चिन्तन न करें। उसके लिए कल भगवान्की जो व्याख्या मैंने आपको बतायी थी उससे उत्तम और कोई व्याख्या नहीं हो सकती-

मुक्ताश्रयं यदि निर्विषयं विरक्तं
निर्वाणमृच्छति मनो सहसा यथार्थी।

'चिन्तन या अचिन्तन'-जो मनके रूप हैं-इनमें-से किसीके भी हम आश्रय नहीं हैं और मनका कोई विषय नहीं है और मन विरक्त है। माने राग-द्वेषात्मक नहीं है-बस, इतना होनेसे ही 'निर्वाणमृच्छति मनः'-मन शान्त हो गया। बहुत अच्छा। मन शान्त होनेसे क्या होता है? तो गीताका कहना है कि एक अद्भुत सुखका उदय होता है-अपने अन्तरमें! ज्ञेय और ज्ञाताका अभिमान छोड़कर ज्ञानमें-से राग-द्वेष निकाल दो फिर यावन्मात्र परमात्मा ही बना हुआ है। और-

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।। (6.27)

जहाँ मन प्रशान्त हुआ कि ब्रह्मानन्दका जो प्रतिबन्धक था वह निवृत्त हो गया। ब्रह्मानन्द तो स्वभावभूत है, वह प्रकाशमें आ गया। एक बात है कि जबतक सुखका साक्षात्कार नहीं होगा तबतक निरुपाधिक इष्टता नहीं होगी। निरुपाधिक इष्टता-शास्त्रीय शब्द है, इसका अर्थ है कि असलमें हम जिसको चाहते हैं उसका नाम सुख है, वह किसी उपाधि-विशेषसे बँधा हुआ नहीं है, वह जो साक्षात् अपरोक्ष ही है। परन्तु, हम जिसको भी चाहते हैं कपट-पूर्वक चाहते हैं। अपने सुखके लिए हम दूसरेको सुख देनेका दिखावा करते हैं-स्त्रीसे प्रेम करते हैं तो दिखाते यह हैं कि हम तुमको सुख पहुँचाना चाहते हैं, परन्तु, असलमें हम उससे सुख लेना चाहते हैं! तो, हम लेना चाहते हैं सुख और दिखाते हैं कि हम तुमको सुख दे रहे हैं-यह है उपाधि। तो, एक आत्मा ही ऐसी वस्तु है जिसको हम निष्कपट भावसे चाहते हैं। अपने आपके सिवाय निष्कपट, निर्मायिक, निश्छल, निरुपाधिक इष्ट और कोई नहीं है! अगर हमारा कोई निश्छल इष्ट है तो वह अपना आत्मा है और दूसरे इष्टको जब हम कहते हैं कि तुम हमारी हृदयेश्वरी हो कि तुम हमारे प्राणेश्वर हो, तुम हमारे सर्वस्व हो तो यह चाहे हम अन्य ईश्वरके बारेमें बोलें और चाहे अन्य जीवके बारेमें बोलें, वहाँ माया लगी है, केवल अपना आत्मा ही ऐसा है जो निरुपाधिक इष्ट होता है-'निष्कपट, निश्छल, निर्माय।' तो,

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।

अब देखो कि ठीक है, आप शान्त हो गये और सुखका आविर्भाव हुआ। अब इसमें जो एक दोष है उसकी ओर आपका ध्यान आकृष्ट करते हैं-'न किंचिदपि चिन्तयेत्'-आपने जगत्का चिन्तन छोड़ दिया-'मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय'-परमात्माके सिवाय दूसरा कुछ है ही नहीं, छोड़ दिया आपने उसका चिन्तन, यह भी बहुत बढ़िया! परन्तु, उसमें भ्रम यह होता है कि जितनी देर हम चिन्तन छोड़कर बैठते हैं उतनी देर तक तो हम परमार्थ दशामें रहते हैं और बाकी जब हम व्यवहार दशामें आते हैं तब हम परमार्थसे च्युत हो जाते हैं, तब हमारी समाधि टूट

जाता है! आप देखो कि यही एक बात ऐसी है जो परमार्थकी अखण्डतामें बाधक है! तो, जैसे बाहरके स्वार्थ, बाहरके भोग और बाहरके कर्म छोड़कर हम भीतर अपने स्वरूपमें बैठते हैं और उत्तमसे उत्तमोत्तर दशाको प्राप्त हो जाते हैं और अपनेमें मनका आश्रयपना और दूसरोंमें मनका विषयपना और किसीमें हेय-उपादेयकी बुद्धि नहीं रहती है और जब निर्वाण-दशाको प्राप्त होता है, तब तो बहुत बढ़िया समाधि होती है; परन्तु जब उससे बाहर निकलते हैं तब क्या? तब रोते हैं, वही ढाकके तीन पात ऐसे-ऐसे लोगोंसे काम पड़ा है महाराज-छह-छह घण्टे समाधिमें बैठकर निकले और निकलकर आये तो गाली देते हुए आये, आँख लाल-लाल! मैंने एकसे पूछा कि क्या बात है भाई? तो बोले-दुनियासे हमारी लड़ाई है, संघर्ष है हमारा संसारसे-यह क्यों आता है हमारे सामने? खुशी तो ऐसी होनी चाहिए जो आँख बन्द करने पर भी रहे और आँख खुलनेपर भी रहे। ये मूर्ख लोग जब समाधिमें-से उठते हैं तो बोलते हैं कि हम परमार्थमें-से निकल रहे हैं और ये जो काम करनेवाले हैं ये सब तो मूर्ख हैं, जुआरी है, ढोंगी हैं, दुःखी हैं। अपनी हुई परमार्थमें स्थिति और दूसरे सब लोग हो गये जुआरी। तो, इसके लिए परमात्माका यह जो बाहरी रूप दिखायी पड़ रहा है, इसके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है अथवा सम्बन्ध है भी कि नहीं हैं, इसका हमें पक्का ज्ञान हो जाना चाहिए। आपको सुनाया था कि यह जो प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध सृष्टि है-अन्तःकरण-देह-सहित समग्र सृष्टि-इससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है-इसका नाम असंगता है और हमारे अतिरिक्त सृष्टि नामकी कोई चीज ही नहीं है, हम ही हम हैं, इसलिए इसके साथ सम्बन्धकी कल्पना भी विकल्प मात्र है-इसका नाम अद्वितीयता है।

सङ्ग माने संसर्ग, संग माने सम्बन्ध-असंगताका अर्थ है-हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है माने विवेक हो गया और अविवेककी निवृत्ति हो गयी कि तब यह संसार किसीके साथ कोई सम्बन्ध रखता है कि नहीं रखता? तो यदि विचार करोगे कि यह ईश्वरके साथ सम्बद्ध है तो ईश्वरके साथ इसका क्या सम्बन्ध है यह विचार भी करना पड़ेगा। संसार रूपी घड़ेकी मिट्टी और

कुम्हार-माने उपादान कारण और निमित्त कारण, दोनों ईश्वर ही है; और वेदान्त यह बताता है कि ईश्वर और जीवात्मा, जिसको यह सृष्टि दिखायी पड़ रही है, दोनों स्वरूपतः शुद्ध सत्-चित्-आनन्द-घन है। इसलिए आत्माके अतिरिक्त संसार नामकी कोई सजातीय, विजातीय या स्वगतभेद वाली वस्तु नहीं है। यहाँ जो कुछ अनुभवमें आरहा है वह सब आत्मा ही है-यही अद्वितीयताका अर्थ है।

भगवान् बारहवें अध्यायमें अर्जुनसे कहते हैं-

मय्येव मनः आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।। (12.8)

भगवान् कहते हैं कि मुझमें अपना मन रख दो। इतनी बात तो कोई मुश्किल नहीं थी-मनको कहीं रखनेका अर्थ होता है कि मनको उसी आकारमें करके देखना। मनको हम देखते तो हैं, परन्तु मनको विशिष्ट आकारमें बनाकर देखना-यह होता है मनका आधान। मनको हम देखते तो रहते हैं; लेकिन मनको एक खास शक्लमें बनाकर देखते हैं, मनमें एक खास कल्पना करके देखते हैं। मनका आकार तो कल्पित ही होता है, परन्तु उससे क्या होता है कि भक्ति हो जाती है माने दूसरे आकारोंसे अलगाव हो जाता है। भगवान् कहते हैं कि आओ मुझमें मन रख दो-इसीसे ध्यान करना मुश्किल नहीं है, ध्यान करना बहुत आसान है! गुरुशरणानन्दजीके व्याख्यानमें मैं अभी गया था एक दिन, तो वे कह रहे थे कि एकने हमसे कहा कि हमको ध्यान बताओ। बोले-हम नहीं बताते ध्यान। क्यों नहीं बताते कि देखो, जो चीज पसन्द आजाती है उसका ध्यान अपने आप आता है, उसका ध्यान करनेकी जरूरत नहीं पड़ती है। तुम्हें अपनी प्रेयसीके ध्यानके लिए, हीरा-मोतीके ध्यानके लिए, नोटके ध्यानके लिए क्या कोई विद्या बतानी पड़ती है? कहीं सीखने जाते हो कि उस लड़कीसे हमारा प्रेम हो गया है, उसका ध्यान कैसे करें? अरे! जिससे प्रेम हो जाता है उसका ध्यान अपने आप होता है!

एक बारकी बात है-मैं संन्यासी होकर आया ही था-सन् 44की बात है। उस समय मैं कह रहा था कि चाहे जीवका आकार हो, चाहे ईश्वरका आकार हो और चाहे जगत्का आकार हो-वह मनकी एक कल्पना

ही है! तो कई भक्त वहाँ बैठे हुए थे, उनको अच्छा नहीं लगा! परन्तु विपिनचन्द्र मिश्रा, जो अब हाईकोर्टके जज हैं, उन दिनों वकील थे-वे भी वहाँ बैठे हुए थे-वे उठकर मेरे पास आये और बोले कि स्वामीजी, आज तो हमारे साधनकी सारी कठिनाई दूर हो गयी। हम तो समझते थे कि जब ईश्वर कृपा करेगा तब हमारे मनमें प्रकट होगा और तब हम उसको देखेंगे! इस पराधीनताके कारण हमारे मनमें आशा-निराशाका झूला झूल रहा था-पता नहीं भगवान् कब कृपा करें, पता नहीं भगवान् कब हमारे मनमें आवें, पता नहीं कब दर्शन हो? और आपने कहा कि जब हम चाहें अपने मनमें भगवान्की कल्पना करें और उनको देख लें। अरे! यह तो हम बिलकुल स्वतंत्र हो गये। अब तो हम देखे बिना रह ही नहीं सकते। अब तो हम जब चाहेंगे तब देखेंगे; अब तो हमारी सारी-की-सारी परतंत्रता मिट गयी। तो, देखो 'मय्येव मन आधत्स्व'का आपको स्वरूप बतलाता हूँ-भगवान् कहते हैं कि मुझमें ही मन रख दो। इसमें 'ही' पर-'एव' शब्द पर ज्यादा जोर है। मार्केका शब्द इसमें 'एव' ही है, मयि भी नहीं है और आधत्स्व भी नहीं है-'एव' है-मुझमें ही अपने मनको रख दो! तो, यदि ईश्वर कहीं दूर होता अथवा ईश्वरके आनेमें देर होती, ईश्वर कोई दूसरा होता और उसमें हम अपना मन रखना चाहते, तो चाहकर भी, प्रयत्न करके भी हम उसी-उसीमें अपने मनको नहीं रख सकते, क्योंकि वह दूर हो जाता है, उसके आनेमें कभी देर हो जाती-जैसे किसी बड़े सेठको फोन करो कभी तो मिलनेमें देर लगती है-क्यों? कि अभी सेठजी बाथरूममें हैं, तो इन्तजार करना पड़ता है कि नहीं? बाबा, कभी-कभी तो ऐसा भी मालूम पड़ता है कि ग्यारह बजे तक सेठजी सोकर ही नहीं उठे हैं। तो, भगवान्को पानेमें यदि इन्तजार करना पड़े तो हम उसमें अपना मन कैसे रखेंगे और वे कहीं सो गये हों तो! देर हो, दूरी हो और दूसरे हों-ये तीन बातें, ये तीन 'द' भगवान्में नहीं लगते। उनके मिलनेमें देर नहीं है-काल नहीं है और वे दूर नहीं हैं माने देश नहीं है और वे दूसरे नहीं हैं-माने अन्य नहीं हैं। तो-

'मय्येव मन आधत्स्व'-आओ, भगवान्में अपने मनको लगाओ। यदि भगवान् मनसे बाहर होंगे तो आप कभी भगवान्में मन निरन्तर नहीं लगा सकते। 'मय्येव मन आधत्स्व'-बड़े प्रेमसे श्रीकृष्णमें अपना मन लगाओ और सारे संसारका जो अन्तर्यामी संचालक है उसके प्रति शरणागत हो जाओ। अपने मनको सर्वमें फेंक दो-जैसे सर्व है वैसे मन है-'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः'। (11.40) मन हमारा अंग नहीं है, विराट्का अंग है। पञ्चतन्मात्रासे मन बना है इसलिए विराट्का है। सम्पूर्ण विश्व-विराट् परमात्माका स्वरूप है इसलिए छोड़ दो अपने मनको, डाल दो विश्व-विराट्में। सोयेगा तो उसीमें, जागेगा तो उसीमें और सपना देखेगा तो भी उसीमें। भगवान्से प्रेम कर लो, फिर देखो-वही-वही रहेंगे और अन्तर्यामी भगवान् मनके बाहर नहीं, मनके भीतर हैं और मनके भीतर बैठकर मनको नचाते हैं। तो घड़ेको यदि कपड़ेमें बाँधकर रखोगे तो कपड़ा गल जायेगा, फट जायेगा, सड़ जायेगा; लेकिन यदि घड़ेको मिट्टीमें रखेंगे तो घड़ा कभी मिट्टीसे न्यारा नहीं हो सकता। भक्तिका सिद्धान्त यह है कि सर्वात्मा हैं भगवान्। मनके उपादान हैं भगवान्-उपादान माने जिस मसालेसे मन बना है-वह भगवान् हैं और इसलिए मन भगवान्से अलग नहीं हो सकता और मनके अन्तर्यामी हैं भगवान्, इसलिए भी मन भगवान्से अलग नहीं हो सकता; मनके प्रकाशक हैं भगवान्, इसलिए बिना रोशनीके मन होगा ही नहीं। मन भगवान्से अलग क्यों नहीं हो सकता, क्योंकि भगवान्की रोशनीमें मन दीखता है, क्योंकि भगवान् ही मनको प्रेरित करते हैं क्योंकि मनका जो मसाला है वह भगवान् हैं और क्योंकि सबकुछ भगवान् है! इसलिए 'मय्येव मन आधत्स्व'का अर्थ होता है कि मनको नचानेवालेके साथ मनको जोड़ दो; मन जिस मसालेसे बना है, मनको उस मसालेसे एक कर दो; जिस रोशनीमें मन दीख रहा है, उस रोशनीसे मनको अलग मत रहने दो; और भगवान् ही सब बनकर प्रकट हैं तो यह मन भी भगवान् ही है। पर, यह हमेशाके लिए भगवान्को मनमें रखना बिना समझदारीके नहीं हो सकता, इसलिए-'मयि बुद्धिं निवेशय'-समझ लो इस बातको और इसके बाद ऐसा होगा कि समाधिवाला झगड़ा बिलकुल मिट जायेगा-

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।

बस यह बात जहाँ हुई-मन भगवान्को अर्पित करना माने प्यार भगवान्को अर्पित करना; बुद्धि भगवान्को अर्पित करना माने समझ

भगवान्‌को अर्पित करना, माने हम विचार करें भगवान्‌के बारेमें और प्यार करें भगवान्‌से। इससे क्या होगा कि ये दो बात जहाँ हुई–हमारे विचार और प्यार–दोनों जहाँ भगवान्‌के साथ लगे कि 'निवसिष्यसि मय्येव'-तुम भगवान्‌में लीन हो जाओगे-भगवान्‌में उतरावोगे, भगवान्‌में व्यवहार करोगे, भगवान्‌में खाओगे, भगवान्‌में पीओगे, भगवान्‌में सोओगे, भगवान्‌में सपना देखोगे-बिलकुल भगवान्‌के साथ एक हो जाओगे-इसलिए, भक्तिका स्वरूप जो है वह बहुत विलक्षण है! सम्पूर्ण जगत्‌को भगवद्रूप बना देना-यह भक्तिका स्वरूप है।

अब, आपको एक दूसरी बात सुनाते हैं। गीतामें यह जिसका नाम अनासक्ति रखा गया है यह किसी वर्ण विशेषके लिए नहीं है कि ब्राह्मण ही अनासक्त रहे और शूद्र न रहे, यह सबके लिए है और संन्यासी ही अनासक्त रहे और ब्रह्मचारी अनासक्त न रहे-ऐसा भी नहीं है। अनासक्ति माने आसक्त न होना–किसी एक चीजका, किसी एक व्यक्तिका, किसी एक अवस्थाका आश्रित न होना। आसक्त न होना माने आशिकी न करना। यह जो दुनियामें आशिक–माशूक बनना है–इसीका नाम आसक्ति है! आसक्त होना माने आशिक होना–एक ही तो चीज है। तो, यह आशिक–माशूक जो हैं ये बड़ा बुरा करते हैं, पर एक बातकी ओर आपका ध्यान खींचते हैं–इसीसे हम धर्मात्मा लोग जो हैं माने हमारी जो पार्टी है–धर्म-प्रेमियोंकी, वे अनासक्तिसे थोड़ी नाक–भौं चढ़ाते हैं। उसका कारण क्या है सो आपके ध्यानमें आना चाहिए! उनका यह कहना है कि पहले धन कमानेमें अपने जीवनको सिद्ध कर लो और फिर अनासक्त हो जाओ और पहले भोग करनेमें अपने जीवनको सिद्ध कर लो और फिर अनासक्त हो जाओ–उनका कहना है कि कर्म करनेमें भी पहले जीवनको सिद्ध कर लो तब अनासक्त हो जाओ। कि बात क्या है? तो बोले–कि नहीं तो होगा यह कि आप पाप करेंगे और कहेंगे कि मैं अनासक्त हूँ–क्योंकि पाप करनेकी आदत पड़ी है; आप बेईमानीका पैसा इकट्ठा करेंगे और कहेंगे कि मैं अनासक्त हूँ; और आप दुष्कर्म–दुराचार करेंगे और कहेंगे कि मैं अनासक्त हूँ, इसलिए पहले साधनके द्वारा अपने जीवनको सिद्ध करना और उसके बाद पुण्य करो और उसका अभिमान मत करो। यह अनासक्ति है। ईमानदारीसे धन कमाओ और उसमें आसक्ति मत करो, यह अनासक्ति है। माने अनासक्ति एक ऊपरकी भूमिका है। उससे पहले धर्मकी भूमिका है, फिर अनासक्तिकी भूमिका है– ऐसा धर्म–प्रेमियोंका कहना है!

अच्छा, एक बात और सुनाते हैं। कहते हैं कि जब हम अनासक्त हो जायेंगे तब हमारे जीवनमें अच्छाईयाँ अपने–आप आ जायेंगी। अब दिन–रात यह सब तो करते रहते हैं, हमारे तो और कोई व्यापार ही नहीं है। न कोई कारखाना है और न कोई मिल, दिन–रात हम यही सोचते हैं। इसका गुर यह है कि जो लोग आत्माको सगुण मानते हैं उनकी दृष्टिमें आत्माके स्वभावसे ही अच्छाइयाँ भरी हुई हैं, तो तब हम दुनियासे अनासक्त होने लगते तब उन अच्छाइयोंको रास्ता मिलता है और वे भीतरसे निकलकर बाहर जीवनमें आ जाती हैं! इसलिए, सगुण आत्मवादियोंका यह कहना है कि जहाँ हम संसारके राग–द्वेष छोड़ेंगे वहीं हमारे भीतरकी जो अच्छाइयाँ हैं वे जीवनमें प्रकट हो जायेंगी। अब, निर्गुणवादियोंका सिद्धान्त देखो–आत्मामें न अच्छाई है, न बुराई है, वह तो अच्छे–बुरे दोनोंसे विलक्षण है, तो जितनी अच्छाइयाँ और बुराइयाँ हैं वे संस्कारसे ही भीतर डाली हुई हैं, इसलिए तुम बाहरसे संस्कारके द्वारा, कर्म–धर्मके द्वारा, आश्रम–धर्मके द्वारा, अभ्यासके द्वारा अपने जीवनमें अच्छाइयोंको लाओ, तो ज्यों–ज्यों अच्छाइयाँ आवेंगी, त्यों–त्यों बुराइयाँ निकलती जायेंगी और जब बुराइयाँ निकल जायेंगी तब अच्छाइयोंकी भी कोई जरूरत नहीं रहेगी और तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध आत्माके प्रतिबिम्बनके योग्य होगा। तब ब्रह्मज्ञान आकरके अज्ञानको मिटा देगा और तुम नित्य–शुद्ध–बुद्ध–मुक्तस्वरूप निर्गुणको–निर्गुण परमेश्वरके स्वरूपको प्राप्त हो जाओगे। निर्गुणात्मवादमें यह कहना है कि जो कुछ होता या नहीं होता है वह सब कर्मसे होता न होता है, स्वभाव जो है वह भी कर्मसे ही बना हुआ है। निगुर्णवादियोंका यह कहना है कि जो भीतर अच्छाइयाँ हैं वे भी किसी कर्मसे ही आयी हुई हैं, वे भी पहलेके अभ्याससे आयी हुई हैं और अब जो अभ्याससे बुराइयाँ आ गयी हैं उन बुराइयोंको निकालनेका अभ्यास कर लो, निकाल लो और फिर

निर्गुणवादियोंका कहना है! और वेदान्त अच्छाइयों और बुराइयों-दोनोंको एक साथ बाधित करता है अथवा दोनोंको आपसमें लड़ा देता है और अच्छाइयाँ जो हैं वे आत्माके सहयोगसे बुराइयोंके निवारणमें समर्थ हो जाती हैं। इसलिए कोई यदि कहे कि हल जोतना छोड़ दो और जमीनमें जो अच्छे-अच्छे बीज हैं वे उग जायेंगे और खेती अपने आप हो जायेगी तो यह खेतीका ही इतिवाद हो जायेगा। अरे भाई जुताई करो खेतकी, और अच्छी खाद डालो, और अच्छे बीज डालो, तब उसमें-से अच्छा अन्न पैदा होगा, क्योंकि अच्छा अन्न पैदा करनेके लिए अच्छी खाद, अच्छी जुताई, अच्छी सिंचाई, अच्छे बीजकी जरूरत है! फिर बोले भाई, शरीरमें रोग हुआ तो उसकी दवा मत करो, क्योंकि स्वास्थ्य जो है वह शरीरका स्वभाव है और बीमारी जो है सो बाहरसे आयी है, वह अपने आप दूर हो जायेगी। बोले कि नहीं, बीमारी बाहरसे आयी है, इसको भगाओ; चोर घरमें आया है, पुलिसको पकड़वाओ-तो धर्मात्माओंका ख्याल इसके सम्बन्धमें ऐसा है!

जिसका नाम होता है अच्छाई और बुराई-वह बुद्धि बाहरसे उत्पन्न की जाती है। प्रत्येक बुराईकी बुद्धि आरोपित है, बाहरसे भीतर डाली हुई है और प्रत्येक अच्छाईकी बुद्धि भी बाहरसे भीतर डाली हुई है तो साधनका काम क्या है कि यदि बुराई भीतर पहुँच गयी है तो उसको निकालनेके लिए अच्छाई डालो। अगर कहीं गन्दगी पहुँच गयी है तो पानी-पर-पानी, पानी-पर-पानी उसपर डालते जाओ, वह पानी गन्दीको बहाकर ले जायेगा। इसीसे साधनकी आवश्यकता प्रकट होती है। जो अपने जीवनमें बुराई प्रविष्ट हो गयी है उसको निकालना आवश्यक है, उनकी अपेक्षा नहीं कर सकते और बुराई सिर्फ उपेक्षा कर देनेसे निकलती नहीं है, छिप जाती है। आपके मनमें काम हो, क्रोध हो, लोभ हो और उसके प्रति आपकी दोष-दृष्टि न हो, उसको निकालनेकी युक्ति न हो तो आप जितनी देर तक उसको ज्यों-का-त्यों छोड़कर अलग बैठ जायेंगे उतनी देर तक तो अलग रहेंगे और फिर जब व्यवहारमें उतरेंगे तो उन्हीं बुराइयोंमें-से होकर आपको गुजरना पड़ेगा। इसलिए धर्म और अधर्मका जो विवेक है वह

कर्ताके प्रति होता है। जैसे अन्न चाहनेवालेके लिए औषधि करना आवश्यक है, जैसे रोगकी निवृत्ति चाहनेवालेके लिए औषधि करना आवश्यक है, वैसे ही अपने जीवनमें जो अच्छाइयोंको चाहते हैं उन्हें बुराइयोंका त्याग करके अच्छाईका अभ्यास करना आवश्यक है, नहीं तो अद्वैत-वेदान्तकी प्रक्रिया बिल्कुल छूट जायेगी और कहीं-न-कहीं रास्तेमें ही वेदान्त मानना पड़ेगा। पंथको ही लक्ष्य मान लेते हैं, मन्दिरको ही मंजिले-मकसूद मान लेते हैं, सरायको ही अपना घर मान लेते हैं वे लोग, जो अच्छे-अच्छे कर्मोंके द्वारा और बुरे कर्मोंके अभ्यासको छोड़नेका प्रयास नहीं करते हैं।

'काम न छोड़ा, क्रोध न छोड़ा नाम जपन क्यों छोड़ दिया।'

यह बात ध्यान रखनेकी है जो बुराई है उसमें दोष-बुद्धि हो और उसके साथ-ही-साथ अच्छाईको समझना, उसको धारण करनेका संकल्प करना और उसको बनाये रखनेका प्रयत्न हो। जहाँ तक धर्माधर्मका सम्बन्ध है आप कर्ता होकरके अपने जीवनका संस्कार करेंगे, तब तो संस्कार पूरा पड़ेगा और पहले कर्तापन ही धारण नहीं करेंगे, पहले ही अकर्ता हो जायेंगे, तो नतीजा यह होगा कि अच्छे-अच्छे काम तो आपसे होंगे नहीं और बुरे कामोंकी जो आदत है वह वहीं रह जायेगी। यह जो बाहरसे करनेसे, देखनेसे, सुननेसे, पढ़नेसे जो बुरी आदत आयी हैं, इन आदतोंको छोड़नेके लिए एक नयी आदत जीवनमें लाना चाहिए।

अच्छा, अब एक साधनकी दूसरी बात आपको सुनाते हैं। वह यह है कि आप यदि किसी भी वस्तुके नैसर्गिक स्वरूपको साधनके द्वारा बिगाड़ना चाहेंगे तो वह नहीं बिगड़ेगा। वह आपका साधन व्यर्थ जायेगा। जैसे कोई कहे कि हम ऐसा प्रयत्न कर रहे हैं कि सब लोग आँखसे देखते हैं तो हम कानसे देखें-तो इसके लिए आप एक नहीं हजार बार प्रयत्न करें यह सिद्धि सुनानी होगी तो कर्ण-वृत्तिके द्वारा ही सुनायेगा, दिखानी होगी तो चक्षु-वृत्तिके द्वारा दिखायेगा, चखानी होगी तो रसना-वृत्तिके द्वारा चखना पड़ेगा-ईश्वर भी वस्तुके सहज-स्वभावमें हेर-फेर नहीं करता। इसलिए केवल आगन्तुक बुराइयाँ ही मिटायी जा सकती हैं और केवल आगन्तुक

अच्छाइयाँ ही धारण करायी जा सकती हैं। मूल वस्तुमें कहीं न कोई अच्छाई है और न कोई बुराई है। इसलिए बाबा, आपको आँखसे देखना, कानसे सुनना, नासिकासे सूँघना, जीभसे चखना–ये सब प्राप्त हैं, यह सहज स्वभाव है, इसमें परिवर्तन नहीं करना है।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।। (3.34)

राग-द्वेषके वशमें नहीं होना चाहिए। कोई भी काम करना हो तो राग-द्वेषके वशमें होकर नहीं करना। यह अभिनिवेश है जो कि जोशमें आकरके हम कोई काम करते हैं! बिना वासनाके क्रोध नहीं आता। हम कुछ-न-कुछ चाहते हैं और जब वैसा नहीं होता तब क्रोध आता है; बिना वासनाके व्यभिचार नहीं होता। यह जो लोग अपनेको असंग भी मानते हैं और अनाचार-व्यभिचार भी करते हैं उनकी असंगता झूठी है–बिना आवेशके धर्म-मर्यादाका उल्लंघन कोई क्यों करेगा? बिना वासनाके झूठ नहीं बोला जा सकता। यह सब अनासक्ति, यह सब असंगता कहीं हमारे जीवनमें एक तमाशा बनकर न रह जाये, केवल जबानी जमाखर्च न रहे, आपको यह देख लेना चाहिए।

....आप देखिये, आपका जीवन ऐसे ही रहना है आप कितना भी साधन करो, आपका यह शरीर हड्डी-मांस-चामका ही रहेगा–वस्तुमें परिवर्तन मत चाहो–आपका कान सुनेगा और आँख देखेगी ही; परन्तु राग-द्वेष, काम-क्रोधसे प्रेरित होकर आप कर्म कर रहे हो कि अपने अहंकारसे प्रेरित होकर काम कर रहे हो। ईश्वरसे प्रेरित होकर कर्म कर रहे हो कि तुम सचमुच अकर्ता हो–यह आपको देख लेना चाहिए। गीतामें इन सबकी कसौटियाँ दी हुई हैं।
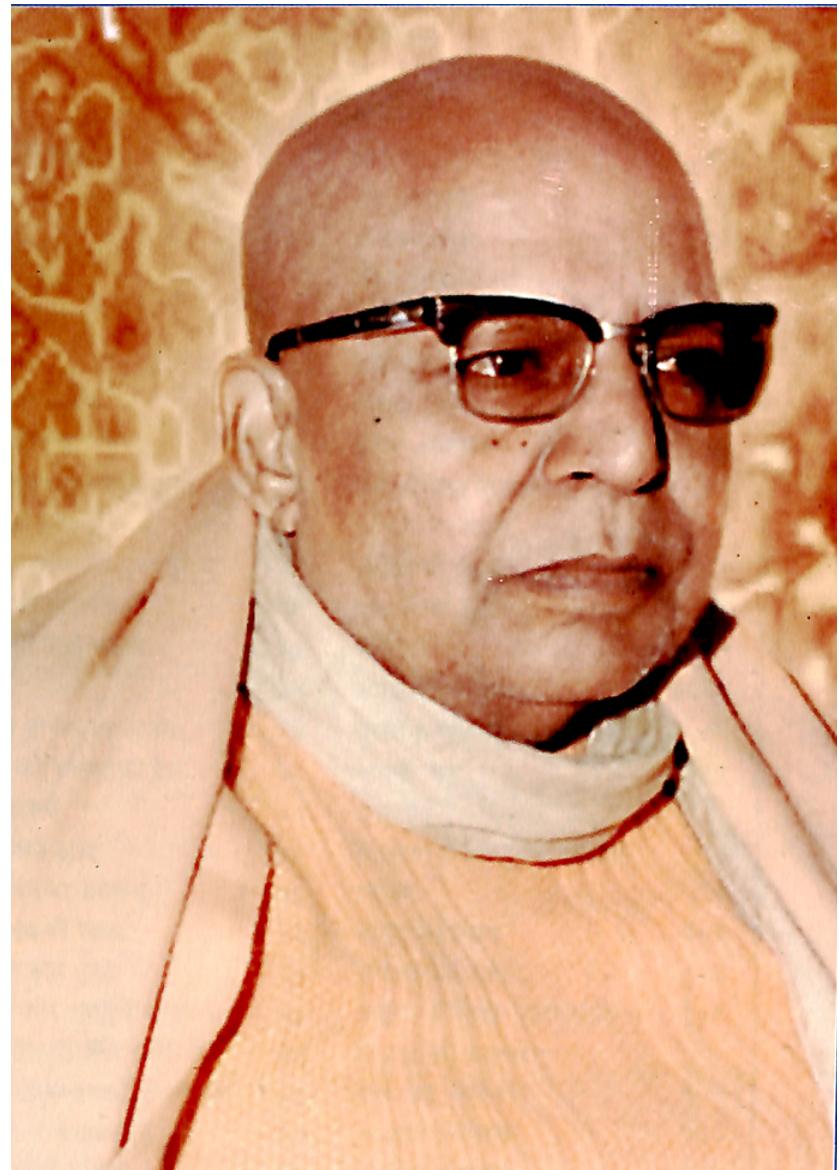
स्वामीश्री अखण्डानन्दजी सरस्वती
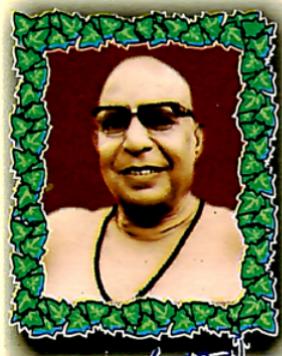
दैनिक जीवनमें गीता

...आप देखिये, आपका जीवन ऐसे ही रहना है आप कितना भी साधन करो, आपका यह शरीर हड्डी-मांस-चामका ही रहेगा-वस्तुमें परिवर्तन मत चाहो-आपका कान सुनेगा और आँख देखेगी ही; परन्तु राग-द्वेष, काम-क्रोधसे प्रेरित होकर आप कर्म कर रहे हो कि अपने अहंकारसे प्रेरित होकर काम कर रहे हो। ईश्वरसे प्रेरित होकर कर्म कर रहे हो कि तुम सचमुच अकर्ता हो-यह आपको देख लेना चाहिए। गीतामें इन सबकी कसौटियाँ दी हुई हैं।...

...'गीतासे कुछ सीखिये, कि यह जो युद्ध (जीवन-संघर्ष) हमारे सामने उपस्थित हुआ है, यह हमारे व्यक्तित्वकी प्रतिष्ठाके लिए है या सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें सुखकी प्रतिष्ठा करनेके लिए है। यही गीताका मूल है। इसे अपने जीवनमें उतारनेका प्रयास कीजिये।'...

आनन्द कानन प्रेस